प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास

([illegible])

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक

डॉ० कैलाशप्रकाश एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी विभाग रामजस कालेज और [illegible]

दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली



हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

के निमित्त

हिन्दी साहित्य संसार

दिल्ली ६ = पटना ४

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
रामकृष्ण शर्मा
हिन्दी साहित्य संसार
१५९२ बैदवाड़ा दिल्ली-६

शाखा—
गमाउन्धी रोड पटना ४

मूल्य
साढ़े बारह रुपया (१२.५०)

मुद्रक
राजश्री प्रेस
दिल्ली ६

हमारी योजना

'प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्-ग्रन्थमाला का पच्चीसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' हिन्दी-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ ई० में हुई थी। 'परिषद्' के मुख्यत: दो उद्देश्य हैं हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अबतक 'परिषद्' की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे, वे ग्रन्थ जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं

(१) हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र
(२) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित
(३) अरस्तू का काव्यशास्त्र
(४) हिन्दी काव्यादर्श
(५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी-अनुवाद)
(६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा
(७) काव्य कला (होरेस कृत)
(८) सौन्दर्य तत्त्व
(९) हिन्दी अभिनव भारती
(१०) हिन्दी नाट्य-दर्पण

द्वितीय वर्ग में प्रकाशित ग्रन्थ हैं

(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ
(२) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास
(३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य
(४) अपभ्रंश साहित्य
(५) राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य
(६) सूर की काव्य-कला
(७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा

(८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता
(९) हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य
(१०) मतिराम : कवि और आचार्य
(११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

तीसरे वर्ष के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है :

(१) अनुसन्धान का स्वरूप
(२) हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध
(३) अनुसन्धान की प्रक्रिया

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ष का बारहवाँ प्रकाशन है जिसे हम उपन्यास-मर्मज्ञों एवं आलोचकों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। इन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

डॉ० नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।
१० मई १९६२

—नगेन्द्र

भूमिका

ईसवी सन् की उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ से ही खड़ी बोली ने भाषा का रूप ग्रहण करके साहित्य में प्रवेश आरम्भ कर दिया था। उसका प्रथम स्वागत कथा-साहित्य एवं समाचार पत्रों ने किया। राजनीतिक कारणों से इस साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ा। फलतः हिन्दी के आधुनिक साहित्य का उपक्रम खड़ी बोली के 'नवीन' कथा-साहित्य से हुआ। कुछ दशाब्दियों तक बिखरे हुए प्रयत्न होते रहे। परन्तु उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध से अंग्रेजी साहित्य क्वचित् प्रत्यक्ष और क्वचित् बंग भाषा के माध्यम से खड़ी बोली हिन्दी-साहित्य को निश्चय एवं निरन्तर प्रभावित करने लगा। 'नावेल' अथवा 'उपन्यास' का सूत्रपात हिन्दी में उसी सम्पर्क का स्वाभाविक परिणाम है।

खड़ी बोली हिन्दी के उस प्रभात में जितनी लोकप्रियता 'उपन्यास' को प्राप्त हुई उतनी किसी अन्य साहित्य-रूप को नहीं। दूसरी भाषाओं से अनुवाद तो हुए ही मौलिक रचनाएँ भी अधिक प्रकाशित हुईं। काशी, वृन्दावन, कलकत्ता, आगरा आदि नगरों में अनेक प्रकाशन-केन्द्र खुल गये और व्यवस्था-पूर्वक 'उपन्यास' नामधारी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। 'उपन्यास' 'उपन्यास बहार' 'उपन्यास-सागर' 'जासूस' 'दारोगा' आदि अनेक मासिक-पत्रिकाएँ अपने अंकों में केवल उपन्यास छापतीं थीं जो पूर्ण होने पर पुस्तकाकार प्रकाशित कर लिये जाते थे। यह सिलसिला हिन्दी में प्रेमचन्द के अवतीर्ण होने तक चलता रहा।

प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी उपन्यास के लिए एक विशेष घटना है। उनमें चरित्र-विकास एवं मनोविज्ञान दृष्टिकोण की छाप दृष्टिगत होने लगती है। प्रेमचन्द के तेज आलोक में सामान्यतः पाठक यह भूल जाता है कि प्रेमचन्द से पूर्व का उपन्यास का सर्वांगीण स्वरूप एवं विस्तृत था। एक तो हमारे आलोचकों ने उपन्यास-साहित्य की ओर ही ध्यान कम दिया है, दूसरे यदि हिन्दी-उपन्यास के विषय में कुछ लिखा भी है तो उसमें प्रेमचन्द-पूर्व-साहित्य को आदर नहीं दिया। सामान्यतः यह धारणा बनी हुई है कि प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में साहित्यिक स्तर के अनुसार तो ये मौलिक उपन्यास नहीं और जो पुस्तकें मौलिक उपन्यास बतलाई जाती हैं वे अधिकतर तिलिस्म एवं जासूसी कहानी मात्र हैं। इस धारणा का एक कारण प्रेमचन्द-पूर्व-युग में उपन्यास का अपरिमित प्रवाह है। यदि पहले वर्षों के कारण उपन्यास-धारा प्रचलित न हुई होती तो प्रेमचन्द अन्त तक आते-आते यह निश्चय स्थिर न कर सकते।

इस परम्परागत धारणा का मेरे हृदय में सुधार उस समय हुआ जब मैंने

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पूज्य डा० नगेन्द्रजी से उपन्यास-साहित्य के विकास पर एम०ए० कक्षा में व्याख्यान सुना। तभी से इस काल के विषय में मेरे मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अनन्तर मैंने प्रेमचन्द्र-पूर्व उपन्यास साहित्य पर शोध कार्य की अनुमति मांगी जो डाक्टर साहब ने सहर्ष दे दी और कार्यरेखा आदि में सहायता देकर मुझे प्रोत्साहित भी किया। आगे चलकर प्रस्तुत प्रबन्ध के शास्त्रीय भाग में आपसे मुझे अमूल्य परामर्श प्राप्त हुआ जिसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रेमचन्द्र-पूर्व-युग के मौलिक उपन्यास-साहित्य का अध्ययन किया गया है। उस युग में इतने अधिक उपन्यास लिखे गये कि उनका ऐतिहासिक विवरण एक स्वतन्त्र प्रबन्ध हो सकता है। मैंने सभी रचनाओं का विवरण देकर प्रेमचन्द्र-पूर्व उपन्यास-साहित्य का इतिहास नहीं लिखा, प्रत्युत केवल प्रवृत्ति-विशेष की प्रतिनिधि रचनाओं तक अपने अध्ययन को सीमित रखा है। प्रतिनिधि रचनाओं का अध्ययन शैली विषयक भी हो सकता है और प्रवृत्ति विषयक भी। इस शोध प्रबन्ध में केवल प्रवृत्ति विषयक अध्ययन है। अतः प्रेमचन्द्र-पूर्व युग की मौलिक उपन्यास राशि में से प्रतिनिधि रचनाओं का अध्ययन करते हुए युग प्रवृत्ति का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध का लक्ष्य है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रयास सर्वांशतः मौलिक है। उस साहित्य का अभी तक न ऐतिहासिक अध्ययन हुआ है और न विवेचनात्मक।

विवेच्य सामग्री पर आलोचकों ने बहुत कम ध्यान दिया है। इसलिए प्रामाणिक अध्ययन का संकेत भी किसी आलोचनात्मक रचना से मिलना संभव नहीं। ऐसी परिस्थिति में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं लेखक माने गये हैं। जिस रचना को लेखक ने 'उपन्यास' कहा उसको प्रस्तुत अध्ययन में 'उपन्यास' मान लिया गया। जिस वर्ग में लेखक ने अपने उपन्यास को स्थान दिया उसी वर्ग में उसे मैंने भी रख लिया। दूसरा प्रमाण तत्कालीन समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं हैं उनसे यह विदित होता है कि रचना-विशेष अथवा प्रवृत्ति विशेष के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यिकों की क्या प्रतिक्रिया थी। तीसरा प्रमाण रचनाओं के विज्ञापन हैं जो कम-से-कम इतना अवश्य बतला देते हैं कि उस युग का पाठक क्या चाहता था। इस प्रकार उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण करते हुए जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनकी बहुत बड़ी साक्षी वह साहित्य स्वयं है—मेरा प्रयत्न यह रहा है कि यथासम्भव समकालीन साहित्यिकों की सम्मतियों से लाभ उठाया जाय।

प्रस्तुत प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 'उपन्यास' तथा उसके मूल रूप 'नॉवेल' शब्दों तथा उनसे अभिव्यक्त धारणाओं की विविधताओं का अध्ययन किया गया है। संस्कृत का 'उपन्यास' शब्द बंगला में एक विशेष अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। हिन्दी में उस अर्थ का अनुकरण हुआ। अंग्रेज़ी में भी 'नॉवेल' शब्द विदेश से आकर एक विशेष अर्थ का द्योतक बन गया था। नॉवेल के अर्थ और रूप परिभाषा में परिवर्तन होता रहा है। 'नॉवेल' के साथ ? हैं परन्तु 'उपन्यास' के साथ माने जाते हैं।

'नावल' अथवा 'उपन्यास' के अनेक भेद हो सकते हैं, जिनमें से कुछ भेद बहुत स्वाभाविक हैं।

द्वितीय अध्याय में संस्कृत से लेकर प्राकृत पैशाची पालि एवं अपभ्रंश भाषाओं के कथा-साहित्य पर विचार करते हुए यह प्रयत्न किया गया है कि उपन्यास से किस रूप का कितना साम्य तथा कितना वैषम्य है। शास्त्रीय दृष्टि से कथा के विभिन्न रूप तथा उपन्यास की उनसे तुलना प्रस्तुत की गई है। मध्ययुगीन कथा-साहित्य से उपन्यास की तुलना कर यह प्रतिपादित किया गया है कि उस साहित्य से उपन्यास का सम्बन्ध जोड़ना भ्रामक है। खड़ी बोली की प्रारम्भिक कहानियों को उपन्यास मानने का खंडन किया गया है। बंगभाषा के प्रारंभिक उपन्यासों पर सामान्य दृष्टिपात कर उनकी विशेषताओं का विश्लेषण है। तदनन्तर इस विवादपूर्ण प्रश्न पर विचार है कि 'रानी केतकी की कहानी' से लेकर 'चन्द्रकान्ता' तक के उपन्यासों में से किसको हिन्दी का प्रथम मौलिक साहित्यिक उपन्यास मानना उचित है। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का वैज्ञानिक काल विभाजन प्रस्तुत करके अन्त में आलोच्य-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण तथा वस्तु-प्रमाण के आधार पर उस उपन्यास राशि का सामाजिक ऐतिहासिक एवं घटनात्मक वर्गों में वर्गीकरण है।

तृतीय अध्याय में सामाजिक जीवन और उसका चित्रण करने वाले उपन्यासों का अध्ययन है। राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्मसमाज एवं महर्षि दयानन्द द्वारा आर्य समाज की स्थापना के प्रभाव से पूर्व हिन्दी में समाज-नीति के कुछ उपन्यास लिखे गये जिनका उद्गम 'परीक्षा गुरु' में तथा जिनकी अवस्थिति 'सुन्दर सरोजिनी' पर है। तदनन्तर सामाजिक धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये जिनका प्रभाव किशोरीलाल गोस्वामी से लेकर मन्नन द्विवेदी तक की रचनाओं पर निरन्तर पाया जाता है। इस युग के मुख्य मुख्य उपन्यासों का अध्ययन उस काल के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है सामाजिक यथार्थ एवं आदर्श दोनों की दृष्टि से यह सामग्री अमूल्य है। उपन्यासकारों ने 'आर्यसमाज' और 'सनातन समाज' अंग्रेजी कोर्टशिप और 'भारतीय प्रेम' का सूक्ष्म अन्तर दिखलाया है। साथ ही बहु-विवाह, स्वच्छन्द प्रेम, विवाह पूर्व प्रेम, दूषित सम्मान, छुआछूत, तीर्थयात्रा, श्राद्ध आदि समस्याओं का चित्रण एवं ईसाइयों के प्रचार तथा हिन्दुओं के संगठन का सूक्ष्म अंकन है।

चतुर्थ अध्याय में ऐतिहासिक उपन्यासों का अध्ययन है। आलोच्य-काल में समाज का चित्रण प्रमुख हो जाने के कारण उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रति न्याय नहीं कर पाये। लेखकों की संख्या भी कम है और रचनायें भी कम। फिर भी किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक रहस्यों को प्रकट करने की अपूर्व क्षमता है। इतिहास के उद्घाटन द्वारा पाठक को मनोरंजन एवं उपदेश प्राप्त कराने में वे सफल हैं। समाज के प्रति दत्तदृष्टि होने के कारण इस काल के कलाकार सुदूर अतीत के इतिहास में नहीं जा पाये। मुसलमानों के प्रति घृणा यवनों के अत्याचार से विलास तक की पराकाष्ठा एवं मन की विकृति इन रचनाओं में [illegible]

विवेचित है। मेरठ-काल खण्ड के विन्यास के लिए यथासंभव प्रमाण भी जुटाये गये हैं।

पंचम अध्याय में घटनात्मक उपन्यासों का अध्ययन है। प्रेमचन्द-पूर्व काल में घटनात्मक उपन्यास सबसे अधिक लिखे गये और अधिकांश में इन्हीं के सहारे ज्ञान-विज्ञान एवं उपन्यास मानाने चमत्कार रही। इस सामग्री को स्वयं उपन्यासकारों ने ही अधिक सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा। सामान्यतः सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास शिष्ट समझे जाते थे और घटनात्मक अद्भुत उपन्यास कुतूहलकारी रसीली एवं घटिया न मुख्य होने के कारण हेय गिने जाते थे। प्रस्तुत अध्याय में इस साहित्य राशि का व्यावहारिक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इसको उपेक्षित करना उचित नहीं। सामाजिक जीवन एवं परम्परा के मिश्रण से तैयार हुआ यह पाठ इससे समझे अधीन नहीं कर सकता।

अन्त में उपसंहार-स्वरूप आलोच्य काल का मूल्यांकन है जिसमें प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उसका तत्कालीन जीवन का प्रतिनिधि प्रतिबिम्ब सिद्ध किया गया है। मुझे विश्वास है कि मेरा यह प्रयास आलोच्य काल की उस विशाल साहित्य राशि के प्रति न्याय कर सका है जो अब तक उपेक्षित की जा रही थी।

प्रस्तुत प्रबन्ध का निर्देशन दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की रीडर डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा पी-एच० डी०, डी० लिट्० ने किया है। आदरणीया सिन्हा जी के स्नेह को मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता, स्वयं व्यस्त रहते हुए भी वे अपनी छात्राओं की सहायता को सदा प्रस्तुत रहती हैं। बहिन की सहायता के साथ स्नेह की भावना, बौद्धिक विवेचन के साथ भावुक मनोरंजन उनके स्थिर व्यक्तित्व में सहज ही हिल-मिल गये हैं। थीसिस को तैयार करते हुए समय-समय पर मुझे आदरणीय डॉ० विजयेन्द्र स्नातक जी से बहुत सहायता मिली है मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। विभागाध्यक्ष पूज्य डॉ० नगेन्द्र को एक बार फिर साभार धन्यवाद देना मेरा परम कर्तव्य है।

प्रस्तुत प्रबन्ध सन् १९५८ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। प्रकाशित करते हुए इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। थीसिस में प्रयुक्त पत्रिकाएँ, सामग्री, पुस्तकें तथा प्राचीन [illegible] पुस्तकालय के अध्यक्ष [illegible] पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री [illegible] ने मुझे [illegible] उदार सहायता दी उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। विशेषतः नागरी-प्रचारिणी सभा [illegible] के [illegible] यह [illegible] मुझे [illegible] के [illegible] का आभारी हूँ। [illegible] के [illegible] ने मेरे थीसिस को पुस्तकाकार प्रकाशित करने में [illegible] दिया है मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

[illegible]

—कैलाश प्रकाश

विषय-सूची

तृतीय अध्याय

उपन्यास या नॉवेल

'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति

'उपन्यास' शब्द का जन्म 'उप' उपसर्ग एवं 'न्यास' पद के योग से हुआ है। 'न्यास' में 'नि' उपसर्ग के साथ 'अस्'[1] (अर्थात् 'रखना' या 'फेंकना') अर्थ वाली असु धातु का योग है। इसलिए 'न्यास' पद का व्यवहार 'रखना' या 'स्थापित करना' और 'छोड़ना' या 'त्यागना' का[2] समान अर्थों में होता है। प्रथम अर्थ 'गुरुन्यास', 'रेखान्यास', 'पदन्यास', 'बीजन्यास' आदि में और द्वितीय अर्थ 'शरीरन्यास', 'संन्यास' आदि[3] शब्दों में देखा जा सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति[4] में 'न्यास' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में पाया जाता है।

'न्यास' शब्द के कतिपय और अर्थ भी हैं। काव्य[5] तथा काव्यग्रन्थों[6] में 'न्यास' का सामान्य अर्थ 'धरोहर' है जो अमरकोश में गृहीत हुआ प्रतीत होता है। प्रातिशाख्य[7] में स्वरविशेष को और [illegible] को 'न्यास' कहते हैं।

इसी 'न्यास' पद का 'उप' के साथ योग होने से 'उपन्यास' शब्द निष्पन्न होता

---

१ असु क्षेपणे।

२ मोनियर विलियम्स: संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

३ वही।

४ [illegible] ॥ ५॥

—([illegible] प्रकरण)

[illegible] । १ ४।

—(प्रायश्चित्त अध्याय चतुर्थ प्रकरण)

५ [illegible] । (अयोध्या [illegible] काण्ड)

६ [illegible] ॥ —([illegible] प्रथम अंक)

[illegible] —(वही [illegible])

[illegible] । (वही [illegible])

[illegible] ।१३।

—([illegible] सर्ग)

[illegible] ।१११।

—([illegible])

[illegible] । ([illegible] प्रथम [illegible])

७ [illegible] ।१७।

—([illegible] पटल)

[illegible] । ६३ । ([illegible])

८ मोनियर विलियम्स: संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

●

१

उपन्यास या नॉवेल

'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति

'उपन्यास' शब्द की रचना 'उप' उपसर्ग एवं 'न्यास' पद के योग से हुई है। 'न्यास' में 'नि' उपसर्ग के साथ 'क्षेपण'[1] (अर्थात् 'रखना' या 'फेंकना') अर्थ वाली 'असु' धातु का योग है, इसलिए 'न्यास' पद का व्यवहार 'रखना' या 'स्थापित करना' और 'छोड़ना' या 'त्यागना'[2] अर्थों में होता है। प्रथम अर्थ 'पुरन्यास', 'रेखान्यास', 'बीजन्यास' आदि में और द्वितीय अर्थ 'शरीरन्यास', 'सन्यास' आदि[3] शब्दों में देखा जा सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में 'न्यास' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में पाया जाता है।[4]

'न्यास' शब्द के कतिपय और अर्थ भी हैं। काव्य[5] तथा कामसूत्रों[6] में 'न्यास' का सामान्य अर्थ 'धरोहर' है जो धर्मशास्त्र में दूषित हुआ प्रतीत होता है। प्रातिशाख्य[8] में स्वरविशेष का और कान्तिकान्तिवृत्ति को 'न्यास' कहते हैं।

इसी 'न्यास' पद का 'उप' के साथ योग होने से 'उपन्यास' शब्द निष्पन्न होता

---

१ असु क्षेपणे।
२ मानियर विलियम्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।
३ वही।
४ [illegible] ॥ ३१
—[illegible]
[illegible] ॥ ३ ४ ॥
—([illegible])
५ [illegible] । ([illegible]) ॥ —([illegible])
६ [illegible] —([illegible])
[illegible] ॥ ([illegible])
[illegible] ॥३॥
[illegible]
—([illegible])
[illegible] ॥११॥
—([illegible])
[illegible] । ([illegible])
७ [illegible] ॥३॥
—([illegible])
[illegible] ॥८॥ [illegible]
८ मानियर विलियम्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

है। 'नाट्यशास्त्रम्' में 'उपन्यास' नाम पताकास्थानक के चतुर्थ भेद और प्रतिमुखसन्धि के एक अंग[1] का है। 'दशरूपकम्' में भी प्रतिमुखसन्धि का द्वादश[2] अंग 'उपन्यास' है, धनिक ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए 'उपन्यास' शब्द का अर्थ 'नियोजन'[3] माना है। 'महाभाष्य'[4] में 'कथन' भामह के 'काव्यालंकार'[5] में 'विन्यास' एवं 'स्थापना' 'काव्यादर्श' और 'साहित्यदर्पण'[6] में 'स्थापना' एवं 'ज्ञापन' अर्थों में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'[7] में 'उपन्यस्त' शब्द 'विन्यस्त' के अर्थ में और 'उपन्यास' शब्द 'सन्दर्भ' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'अमरुशतक'[8] और 'याज्ञवल्क्यस्मृति'[9] में 'उपन्यास' का अर्थ 'कथन' है 'किरातार्जुनीयम्'[10] में 'उदाहरण'। अमरकोषकार ने 'उपन्यास' का सामान्य अर्थ 'वाङ्मुख'[11] माना है, जिसकी व्याख्या 'वागारम्भ'[12] या 'कथन' मात्र स्वीकार की जाती है।

अस्तु, 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में उपलब्ध है। इनमें से मुख्य[13]

---

१ उपन्यासः संयुतस्य तत्कार्यमुपपादनम् । ११ । (अध्याय १९)
उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासस्तु स स्मृतः ।७४। (वही)

२ 'उपन्यासस्तु सोपायम्' अथवा 'प्रसादनमुपन्यासः' ।३२। (प्रथम प्रकाश)

३ प्रसादोऽभ्यर्थनेन नियोजनाद् उपन्यास इति ।

४ विषम उपन्यासः । (प्रथम अध्याय)

५ नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।२२। (प्रथम परिच्छेद)
उपन्यासमन्यस्य सर्वस्योपचितौ ।७१। (द्वितीय परिच्छेद)

६ नायिका च प्रयुत सहयमेव तथाऽपि लोकेऽत्र हि तुल्यगोपन्यासम् ।
—(काव्यादर्श दशम परिच्छेद)
कन्याकोऽस्तित्वमतो सत्यमयोपन्यासमभिमिष ।
—(साहित्य-दर्पण दशम परिच्छेद संकेत अलंकार का उदाहरण)

७ विधिवदुपन्यस्तम् । (सप्तम अंक में षोडशतम श्लोक के उपरान्त)
येन स्वस्य उपन्यासपूर्वं किमपि कथितव्यम् ।
—(तृतीय अंक में प्रियंवदा की उक्ति की संस्कृत छाया)
सायकः खलु उपन्यासः ।
—(तृतीय अंक में शकुन्तला की उक्ति की संस्कृत छाया)

८ निर्गोत रामवैरवौकयमाष्यपेक्षमस्पृक्ष्यत ।
—(अमरुशतक चतुर्थ अध्याय में उद्धृत)

९ मृतसन्ध्युपन्यासं तीव्रे व्यवहारतः ।।६।।
—(व्यवहार अध्याय द्वितीय प्रकरण)

१० स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म वः ।३। (द्वितीय सर्ग)

११ उपन्यासस्तु वाङ्मुखम् । (प्रथम काण्ड शब्दादि वर्ग)

१२ वाचो मुखमिव मुखम्—आरम्भः ।

१३ मौलिक विनियोग व तरह-तरह विस्तृत विवरणी ।
वैज्ञानिक व दैनिक जीवन संबंधी विवरणी ।

है—'कथन' 'नियोजन' 'निर्देश' 'संकेत' 'घोषणा' 'परिसंवाद' तथा 'मुख्य'। 'उपन्यास' शब्द के 'कथन' 'नियोजन' तथा 'निर्देश' अर्थ ही प्रस्तुत प्रकरण में प्रासंगिक हैं। कोष के 'नाट्य-सूत्र' 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' तथा 'अमर-शतकम्' के 'वचनोपन्यास' में भी ये ही मुख्य प्रासंगिक अर्थ लक्षित होते हैं। सामान्यतः वचन या 'कथन' के 'नियोजन' का नाम 'उपन्यास' है। कालान्तर में 'घटनाओं का नियोजन' भी 'उपन्यास' कहा जाने लगा। प्रत्यक्ष रूप से नाट्य के 'प्रसादन' काव्य के 'नियोजन' धर्मशास्त्र के 'कथन' तथा कोष के 'नाट्य-सूत्र' का 'उपन्यास' में आधुनिक अर्थ से कोई साम्य प्रतीत नहीं होता।

संस्कृत से 'उपन्यास' शब्द आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी आया। तमिल और कन्नड़ में 'उपन्यास' का अर्थ 'व्याख्यान' है जिसे 'कथन' से दूर नहीं कह सकते। बंगला में 'उपन्यास' शब्द के मुख्य अर्थ दो हैं—एक नवीन और दूसरा प्राचीन। प्राचीन अर्थ में 'उपन्यास' का व्यवहार 'वाक्यारम्भ' 'उल्लेख' 'उपस्थापन' तथा 'दान' के लिए होता है[1]। इन अर्थों की संगति संस्कृत-परम्परा से बैठ जाती है। नवीन अर्थ में 'उपन्यास' कथा-साहित्य का रूप-विशेष है। यह नवीन अर्थ अंग्रेजी के सम्पर्क का प्रासंगिक फल है। 'चमत्कार-जनक सांसारिक घटनामूलक गद्य-ग्रन्थ'[2] 'अस्वाभाविक कल्पित उपाख्यान उपकथा गल्प'[3] अथवा 'श्रोता या पाठकदिगेर चित्तविनोदार्थ कल्पित वृत्तान्त'[4] 'उपन्यास' शब्द के ये नवीन अर्थ हैं। हिन्दी में भी 'उपन्यास' के अब दो संस्कारों के द्योतक हैं। संस्कृत की परम्परा से इसका अर्थ 'वाक्य का उपक्रम' 'बयान' 'बात की लपेट' या 'बात का सच्चा' है और अंग्रेजी के सम्पर्क से कल्पित आख्यायिका 'कथा' या नावेल[6]।

'उपन्यास' शब्द का नवीन अर्थ में प्रयोग बंगला और हिन्दी में एक ही परिस्थिति में हुआ। बंगला में यह पहले है और हिन्दी में कुछ पीछे और कदाचित् हिन्दी में इस का आगमन बंगला के संसर्ग में ही हुआ था इसलिए इस दिशा में हिन्दी बंगला की ऋणी है। सन् १७७४ में कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना से उपरान्त अंग्रेजी भाषा के अध्ययन का महत्त्व बढ़ने लगा। रामराममिश्र नामक ब्राह्मण ने सर्वप्रथम पंचमी में दस या बारह धनी बाबुओं को अंग्रेजी सिखाई। कालान्तर में कालेज की स्थापना

---

1 जितेन्द्रनाथ गोस्वामी के उपन्यासों के मुखपृष्ठ पर 'उपन्यासम् बालबुराण' छपा हुआ है, या प्राचीन और नवीन अर्थों के मिश्रण की सूचना देता है।
2 सरल बांग्ला अभिधान।
नूतन बंगला अभिधान।
3 संगीत शब्दकोष प्रथम भाग द्वितीय संस्करण।
4 वही।
5 नूतन बंगला अभिधान।
6 हिन्दी शब्द सागर।
7 रामकमल सेन : ए डिक्शनरी इन इंग्लिश एण्ड बेंगाली।
—(हिन्दी गद्य और उपन्यास की भूमिका में पृष्ठ ७ पर उद्धृत)

हुई और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग[1] तक बंगाल पर पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति का रंग छा गया। नवयुवकों में अंग्रेजी कथा-साहित्य का प्रचार हुआ और 'रोमान्स' तथा 'हिस्टी नॉविल्स' के प्रति उत्तरोत्तर रुचि बढ़ने लगी। साहित्यिकों ने बंगला भाषा में भी कलकत्ता के जीवन पर व्यंग्य लिखे। 'बाबूर उपाख्यान' (सन् १८२१) 'नवबाबूविलास' (सन् १८२५) तथा 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५८) इन में उल्लेख योग्य हैं। इन की दो विशेषताएं हैं—'कलिकाता भाषाय कलिकातास्थविमेर लोकेर भाषा'[2] तथा 'व्यंग्य-विद्रूप की हास्यरसपूर्ण सामाजिक चित्र'[3]। इनके साथ-साथ 'कलिकातार लुकोचुरि'[4] (कलकतिया समाज की लुका-छिपी) भी कथासाहित्य के लिए लोकप्रिय विषय बनी। 'रोमांस' 'हिस्ट्री' 'उपाख्यान' इन रचनाओं के आदि-नाम थे। इन्हीं के संयोग से 'उपन्यास'[5] नाम का प्रादुर्भाव हुआ। 'उपकथा' एवं 'उपाख्यान' का उपसर्ग 'उप' और रोमान्स (प्राचीन अथवा रम्यन्यास') का प्रथम 'न्यास'[6] 'उपन्यास' शब्द के सम्प्रसन्न उद्भव के कारण बने। उपर्युक्त परिस्थितियों से होता हुआ 'उपन्यास' शब्द स्थिर होकर अंग्रेजी के नॉविल या 'रोमान्स' का समानान्तर बना। इसमें 'नावेल' से 'यथार्थ जीवन का चित्रण' और 'रोमान्स' से 'अतिरंजना' का समावेश हो गया था। 'उपन्यास' के साथ-साथ बंगला में 'उपकथा' और 'नभेल' (नविल) शब्द भी चलते रहे। भारत की आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी का 'नॉविल' शब्द और उसका समानान्तर एक देशी शब्द कुछ काल तक साथ साथ प्रचलित रहे हैं। गुजराती में 'नवल कथा' और 'नावल' मराठी में 'नवलिका' और 'कादम्बरी' तथा उर्दू में 'नावल' और 'अफ्साना' इस के प्रमाण हैं। अस्तु, 'उपन्यास' शब्द का नवीन अर्थ में परिस्थितिजन्य प्रयोग 'नॉविल' एवं 'रोमान्स' की समवेत अभिव्यक्ति के लिए बंगला और हिन्दी में स्थिर हो गया।

---

१ 'आलालेर घरेर दुलाल' भूमिका पृ. १

२ वही वही।

३ वही पृ. २

४. टेकचंद ठाकुर की रचना विशेष का नाम।

५ 'उपन्यास' शब्द का पुराना प्रयोग विविधार्थ संग्रह [illegible] में दो कहानियों के लिए है। वे हैं— [illegible]।
—डा० [illegible]
[illegible], पृ० १)

६ [illegible] की एक रचना का नाम [illegible] (१८[illegible] ई०) है जो नॉविल के [illegible] तथा रोमान्स (रम्यन्यास) के [illegible] से बना है।
—(डा० [illegible] : [illegible] द्वितीय खण्ड [illegible] पृ० [illegible])

नॉविल शब्द का इतिहास

उपन्यास 'नॉविल' का ही प्रतिरूप है, इसलिए नॉविल का पूर्व इतिहास उपन्यास के स्वरूप-ज्ञान में सहायक होगा। 'नॉविल' शब्द अंग्रेजी का है, इसका जन्म बहुत प्राचीन नहीं है। अंग्रेजी में कथा-साहित्य के लिए सामान्यतः व्यवहृत शब्द 'फिक्शन' है, जो अपने भीतर 'नॉविल', 'गद्य रोमान्स' तथा 'कथात्मक काव्य'[1] का समावेश कर लेता है। व्युत्पत्ति-परक अर्थ का अनुसरण करें तो 'नाटक' भी 'फिक्शन' के अन्तर्गत ही आयेगा। फिक्शन में यथार्थ और कल्पना का संयोग होता है और इसी गुण से वह 'नॉविल' एवं 'रोमान्स' में विकसित हो जाती है। क्लारा रीव[2] के अनुसार समकालीन यथार्थ जीवन का चित्र नॉविल का व्यवच्छेदक धर्म है, इसके विपरीत रोमान्स में अतिरंजित कल्पना का वर्ण्य वस्तु और वर्णन शैली में प्राधान्य रहता है।

'नॉविल' शब्द का प्रयोग साहित्य में सन् १५५०[3] से मिलता है। वहीं यह विशेषण है और वहीं संज्ञा। इसके मूल फ्रेंच भाषा के Novelle एवं Novus इटली भाषा के Novas एवं Novella तथा लैटिन भाषा के Novella एवं Novellas शब्द हैं। इटली में ऐसी पद्य-कथा को जिस में यथार्थ जीवन का छल-छद्म आदि प्रतिबिम्बित हो, प्राविन्शियल कवि Novas कहने लगे — Novas का व्यवहार बहुवचन में होता था।[4] उन्हीं के समान परन्तु आकार में छोटी गद्य-कथा को बोकेशियो तथा उनके समसामयिकों ने Novella कहना प्रारम्भ कर दिया। दो शताब्दियों तक इटली के लेखक बोकेशियो (रचना 'डीकैमरान' सन् १३४८) के अनुकरण पर, Novello बहुसंख्या में पुस्तकें लिखते रहे। ऐलिज़ाबेथ के शासन-काल में ये रचनाएं अंग्रेजी में आ गईं,

---

१ It includes not only the novel and the prose romance but also narrative poetry in strict etymological sense it includes drama. (12) Ernest A Baker The History of the English Novel Volume 1

२ The Novel is a picture of real life and manners and of the times in which it is written. The Romance in lofty and elevated language describes what never happend nor is likely to happen. (Quoted on p. XIV Introduction in The Development of the English Novel by Wilbur L. Cross)

३ दि शार्टर आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी।

४ For a verse-narrative approaching closer to the manners of real life its intrigues and zealousies—The Provencal poets had employed the word Novas (always plural) for a like narrative in prose always short, Boccaccio and his contemporaries were using the cognate word Novella (XIII) (Introduction) Wilbur L. Cross The Development of the English Novel)

हुई और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग[1] तक बंगाल पर पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति का रंग छा गया। नवयुवकों में अंग्रेजी कथा-साहित्य का प्रचार हुआ और 'रोमान्स' तथा 'मिस्ट्री नॉविल्स' के प्रति उत्तरोत्तर रुचि बढ़ने लगी। साहित्यिकों ने बंगला भाषा में भी कलकत्ता के जीवन पर व्यंग्य लिखे। 'बाबूर उपाख्यान' (सन् १८२१) 'नवबाबूविलास' (सन् १८२५) तथा 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५८) इन में उल्लेख योग्य हैं। इन की दो विशेषताएं हैं—'कलिकाता भाषाय कलिकातास्थविदेर लोकव्यवहार'[2] तथा 'व्यंग्य-चित्र भी हास्यरसपूर्ण सामाजिक चित्र'[3]। इसके साथ-साथ 'कलिकातार लुकोचूरि' (कलकत्तिया समाज की लुका-छिपी) भी कथासाहित्य के लिए लोकप्रिय विषय बनी। 'रोमांस' 'मिस्ट्री' 'उपाख्यान' इन रचनाओं के आदि-नाम थे। इन्हीं के संयोग से 'उपन्यास'[5] नाम का प्रादुर्भाव हुआ। 'उपकथा' एवं 'उपाख्यान' का उपसर्ग 'उप' और रोमान्स (प्राचीन बंगला 'रमन्यास') का प्रथम 'न्यास'[6] 'उपन्यास' शब्द के अन्यतम उद्भव के कारण बने। उपर्युक्त परिस्थितियों से उपजा हुआ 'उपन्यास' शब्द स्थिर होकर अंग्रेजी के नॉविल या 'रोमान्स' का समानान्तर बना। इसमें 'नॉवेल' से 'यथार्थ जीवन का चित्रण' और 'रोमान्स' से 'अतिरंजना' का समावेश हो गया था। 'उपन्यास' के साथ-साथ बंगला में 'उपकथा' और 'नभेल' (नॉविल) शब्द भी चलते रहे। भारत की आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी का 'नॉविल' शब्द और उसका समानान्तर एक देशी शब्द कुछ काल तक साथ-साथ प्रचलित रहे हैं। गुजराती में 'नवल कथा' और 'वार्ता' मराठी में 'नवलिका' और 'कादम्बरी' तथा उर्दू में 'नावल' और 'अफसाना' इस के प्रमाण हैं। अस्तु 'उपन्यास' शब्द का नवीन अर्थ में परिस्थितिजन्य प्रयोग 'नॉविल' एवं 'रोमान्स' की समवेत अभिव्यक्ति के लिए बंगला और हिन्दी में स्थिर हो गया।

---

१ 'आलालेर घरेर दुलाल' भूमिका पृ० १

२ वही, वही।

३ वही पृ० ५

४ रेवनॉर ब्लिसर की रचना-विशेष का नाम।

५ 'उपन्यास' शब्द का पुराना प्रयोग 'सिद्धार्थ संवाद' (शक संवत् १७७१ तथा १७७५) में दो कहानियों के लिए है: वे हैं— 'सरलर उपन्यास' तथा 'पाठकबाबुर गल्पेर उपन्यास'।
—डा० श्री कुमार दासगुप्त : द डिवेलपमेंट आफ दि बंगाली नॉविल भाग (कलकत्ता, पृ० ५)

६ भूदेवचन्द्र की एक रचना का नाम 'ऐतिहासिक उपन्यास' (१८५७ ई०) है जो नॉविल के 'उप' तथा 'रोमान्स' (रमन्यास) के न्यास के योग से बना है।
—डा० सुकुमार सेन : बंगला साहित्येर इतिहास द्वितीय खण्ड
प्रथम परिच्छेद, पृ० १७४)

नॉविल शब्द का इतिहास

'उपन्यास' 'नॉविल' का ही प्रतिरूप है, इसलिए नॉविल का पूर्व इतिहास उपन्यास के स्वरूप ज्ञान में सहायक होगा। 'नॉविल' शब्द प्रयुक्त था है, इसका जन्म बहुत प्राचीन नहीं है। अंग्रेजी में कथा-साहित्य के लिए सामान्यतः व्यवहृत शब्द 'फिक्शन' है जो अपने भीतर 'नॉविल', 'गद्य रोमान्स' तथा 'वर्णनात्मक काव्य' का समावेश कर लेता है।[1] व्युत्पत्ति परक अर्थ का अनुसरण करें तो 'नाटक' भी 'फिक्शन' के अन्तर्गत ही आवेगा। 'फिक्शन' में यथार्थ और कल्पना का संयोग होता है और इसी गुण से वह 'नॉविल' एवं 'रोमान्स' में विभाजित हो जाती है। क्लारा रीव[2] के अनुसार समकालीन यथार्थ जीवन का चित्र नॉविल का व्यवच्छेदक धर्म है, इसके विपरीत रोमान्स में अतिरंजित कल्पना का वर्ण्य वस्तु और वर्णन शैली में प्राधान्य रहता है।

'नॉविल' शब्द का प्रयोग साहित्य में सन् १५६०[3] से मिलता है। यहीं यह विशेषण है और यहीं संज्ञा। इसके मूल फ्रेंच भाषा के Novelle एवं Novus इटली भाषा के Novas एवं Novella तथा लैटिन भाषा के Novelli एवं Novellus शब्द हैं। इटली में ऐसी पद्य-कथा को जिस में यथार्थ जीवन का छल-छद्म, राग द्वेष प्रति शामिल हो, प्रोवेंसल कवि Novas कहने लगे—Novas का व्यवहार बहुवचन में होता था। उसी के समान परन्तु आकार में छोटी पद्य-कथा को बोकेशियो तथा उसके समसामयिकों ने Novella कहना प्रारम्भ कर दिया। दो शताब्दियों तक इटली के लेखक बहुसंख्या में बोकेशियो (रचना 'डी कैमरान' सन् १३४८) के अनुकरण पर Novello की पुस्तकें लिखते रहे। एलिजाबेथ के शासन-काल में ये रचनाएँ अंग्रेजी में आ गईं,

---

१ It includes not only the novel and the prose romance but also narrative poetry in strict etymological sense it includes drama. (12) The History of the English Novel Volume 1 Ernest A. Baker

२ The Novel is a picture of real life and manners and of the times in which it is written. The Romance in lofty and elevated language describes what never happend nor is likely to happen. (Quoted on p. XIV Introduction in 'The Development of the English Novel' by Wilbur L. Cross)

३ दि शार्टर ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी।

४ For a verse-narrative approaching closer to the manners of real life, its intrigues and zealousies—The Provencal poets had employed the word Novas (always plural); for a like narrative in prose always short, Boccaccio and his contemporaries were using the cognate word Novella. (XIII) (Introduction) The Development of the English Novel. Wilbur L. Cross

और उनके साथ उन अनूदित रचनाओं या उनकी अनुकृत रचनाओं के लिए[1] 'नावेल' शब्द का व्यवहार भी प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार सन् १५६६ से[2] अंग्रेजी में नावेल शब्द का व्यवहार बोकैशियो की यथार्थ-परक गद्य-कथाओं के अनुकरण पर लिखी गई रचनाओं के लिए पाया जाता है।

सन् १६०० के बाद नावेल शब्द का व्यवहार अंग्रेजी में विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। १६१२ ई० के आसपास इसका रोमन-विधि में विशेष अर्थ था—विधि-संहिता[3] का पूरक नियम या विधान विशेषतः सम्राट् जस्टीनियन द्वारा निर्मित। कुछ काल पश्चात् एक पर्याप्त आकार की गद्य-कथा[4]—जिसमें पात्र और उनके कार्य-व्यापार यथार्थ जीवन के प्रतिनिधि होकर संश्लिष्ट कथानक में चित्रित हों—'नावेल' शब्द से अभिहित होने लगी। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'नावेल' शब्द का अर्थ 'नवीन' था और बहुवचन में यह शब्द 'समाचार' या 'समाचारपत्र' का पर्याय बन गया। 'नावेलिस्ट' शब्द इसी 'नावेल' से भाववाचक संज्ञा बना है। अस्तु, 'नावेल' उस गद्य-कथा को कह सकते हैं जिसमें घटनाओं की नवीन ढंग से योजना हो जिसमें दृष्टिकोण की मूलनता हो *और जो समकालीन जीवन का मनोरंजक शैली से वर्णन प्रस्तुत करती हो।*

इस प्रकार 'नॉविल' 'फिक्शन' का पोषक एवं 'रोमान्स' का अनुज है। सामान्य 'फिक्शन' दो प्रकार की थी—'रोमान्स' तथा 'नावेल' और 'रोमान्स' १७वीं शताब्दी में सामान्य व्यवहार में आने लगी थी। १८वीं शताब्दी तक 'रोमान्स' तथा नावेल' दोनों का क्षेत्र स्वतंत्र तथा स्पष्ट था। 'दि प्रोग्रेस आफ रोमान्स' (रचना काल सन् १७८५) में क्लारा रीव ने 'रोमान्स' और 'नावेल' का क्षेत्र स्पष्ट करते हुए साहित्यिकों की मान्यता को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

'नॉविल यथार्थ जीवन और रीति-व्यवहारपूर्ण उस युग का चित्र है जिसमें इसकी रचना होती है। रोमान्स अतिरंजित एवं आकर्षक भाषा में उसका वर्णन करता है जो न कभी घटित हुआ और न जिसकी संभावना है'। १९वीं शताब्दी में विशेषतः वाल्टर स्काट (रचना काल सन् १८१४ से १८३१ तक) के कथा-साहित्य में 'रोमान्स' और

---

१ During the two centuries following Boccaccio the Italians continued to compose books of Novella, and in very great number In the age of Elizabeth they came into English in Shoals, and with them the word Novel as appliceable to either the translation or an immitation.

(XIV) (Ibid)

२ Oxford English Dictionary Volume II

३ The Shorter Oxford English Dictionary

४ A fiction prose narrative of considerable length, in which characters and actions representative of real life are portrayed in a plot of more or less complexity

'नावेल' दोनों के गुणों का मिश्रण' हो गया। तब से साहित्य में 'नावेल' का क्षेत्र व्यापक मान लिया गया और 'रोमान्स' का संकीर्ण। 'नावेल' कथा-साहित्य के लिए सामान्य नाम बन गया। लगभग तीन शताब्दियों के इस इतिहास में नावेल शब्द समय-समय पर प्रभाव-वैशिष्ट्य के कारण विभिन्न अर्थों का द्योतन करते हुए, अन्त में पर्याप्त आकार की यथार्थमयी गद्य-कथा की सामान्य संज्ञा स्वीकार कर लिया गया है। आधुनिक भारतीय भाषाएं 'नॉविल' के संसर्ग में आकर इसी नाम-रूप से प्रभावित हुई हैं।

उपन्यास या नॉविल की परिभाषा

दि न्यू इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार 'नावेल' गद्य में लिखी हुई पर्याप्त आकार की उस कल्पित कथा को कहते हैं जिसमें यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करते हुए से पात्र और कार्य-व्यापार कथानक के अन्तर्गत चित्रित हों[3]। बाबू गुलाबराय ने उपन्यास [4] इसका लगभग इन्हीं शब्दों में बतलाया है कि 'उपन्यास' कार्यकारण शृंखला में बंधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से संबंधित वास्तविक अथवा काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है[5]। यथार्थ जीवन के अनुरूप पात्र और कार्य-व्यापारों का सृजन जीवन के सत्य की रसात्मक अनुभूति कराता है। उपन्यास में जीवन का यथार्थ और सत्य रूप नहीं होता प्रत्युत उस सत्य का यथार्थ चित्रण रहता है। इसलिए उपन्यास की कथा ऐतिहासिक अर्थ में सत्य नहीं होती प्रत्युत सत्याभासपूर्ण[?] होती है क्योंकि साहित्य का सत्य तो वही है जो स्पष्ट और यथावत् रूप से ग्रहण किया जा सके।[6]

मध्ययुगीन इंग्लैंड में समाज के दो वर्ग थे—विशिष्ट वर्ग (अपर क्लास) तथा सामान्य वर्ग (लोअर क्लास)[7]। दोनों वर्गों की गायकों के मुख से मार्मिक कथाओं को सुनने में रुचि थी। विशिष्ट वर्ग के जीवन का आदर्श जिन भावपूर्ण गीत-कथाओं

---

१ लिटरेचर एण्ड कॉमन [?] दि टिवेंटिएथ सेंचुरी [?] इंगलिश नॉविल [?] पृ० १४
२. वही।
३ A fictitious prose tale or narrative of considerable length in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot."
४ काव्य के रूप, पृ० १६०
५ "The name given in literature to a sustained story which is not historically true, but might very easily be so (Encyclopaedia Britanica Vol. 16)
६ "Whatever is clearly and distinctly apprehended is true. (Cartesian) Quoted in 'Some Principles of Fiction by Robert Liddell on page 117
७. दि न्यू [?] एनसाइक्लोपीडिया [?]

में अंकित रहता था उनसे 'रोमान्स' का उदय हुआ। सामान्य वर्ग की प्रेम-कथाएं 'नावेल' का आधार बनीं। इनमें या तो विशिष्ट वर्ग (योद्धाओं और पादरियों) पर व्यंग्य-परिहास रहता था या दुष्ट और दुर्जनों के साहसिक कार्य अथवा सामान्य वर्ग का अपना जीवन। इटली की नावेल या 'नवीन कहानियां' जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, जब इंग्लैंड में आईं तो सामान्य वर्ग की इन कथाओं को भी इटली का वही नाम (कुछ देसी रूप के साथ) प्राप्त हो गया। आधुनिक साहित्य में नावेल पर्याप्त आकार की उस गुम्फित कथावस्तुमयी रचना को कहते हैं जिसमें जीवन का वास्तविक[1] चित्र हो और जिसके पात्र एवं घटनाएं यथार्थ या यथार्थ के अनुरूप हों।

अंग्रेजी में स्वरूप के साथ-साथ नावेल की परिभाषा भी विकसित होती रही है। फ्रांसिस बेकन के अनुसार नावेल 'कल्पित इतिहास'[2] है तो फील्डिंग के अनुसार 'मनोरंजक गद्य महाकाव्य'[3]। क्लारा रीव ने नावेल की विशेषता 'स्वकीय युग के यथार्थ जीवन और रीति-व्यवहार का चित्र'[4] मानी है तो बेकर ने 'कल्पित गद्य-कथा के द्वारा मानव जीवन की व्याख्या'[5]। वारेन 'कथावस्तुमयी कल्पित कथा'[6] मात्र को नावेल कहते हैं तो फॉर्स्टर 'कालक्रम से नियोजित घटनाओं के वर्णन'[7] को। उक्त तथा इनके समान अन्य परिभाषाओं में सर्वमान्य अंश को ही महत्त्व देकर हडसन कहते हैं कि 'नावेल' भले ही अन्य कुछ हो या न हो कहानी तो अवश्य है[8]। फ्रांसीसी आलोचक भी 'निश्चित आकार की गद्य-कथा'[9] कहकर नावेल का सामान्य लक्षण करते हैं।

अस्तु, व्याख्याताओं में मतभेद न होते हुए भी 'नावेल' की सर्वमान्य परिभाषा सम्भव नहीं हो सकी है, क्योंकि जितनी रचनाएं 'नावेल' नाम से प्रसिद्ध हैं वे सब एक

---

१ दि न्यू सिंचर्ड एनसाइक्लोपीडिया वाल्यूम ७

The term novel is now usually applied to a narrative of consider able length with a more or less intricate plot which pictures life as it is, dealing with characters and events that have been or might be real.

२ Feigned History

३ A comic epic in Prose.

४ Picture of real life and manners, and of the times in which it is written

५ The interpretation of human life by means of fictitious narrative in prose

६ A novel is a fictitious narrative which contains a plot"

७ It is a narrative of events arranged in their time sequence

८ A novel whatever else it is or it is not is at any rate a story

९ Une fiction en prose d une certaine etendue M Abel.

ही प्रकार की नहीं है। भविष्य में भी उनमें स्पष्ट भेद संभावित रहेगा क्योंकि उनमें 'स्वकीय युग' का विशेष महत्व है। यदि परिभाषा का आग्रह न रखकर नावेल की विशेषताओं का स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमशः हुए यथाक्रम कथन किया जाए तो अधिक समीचीन होगा। नावेल की सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(क) माध्यम गद्य हो पद्य नहीं।

(ख) विषय-वस्तु जीवन का चित्रण हो—पूर्ण अथवा मुख्यतः कल्पित कथा के रूप में।

(ग) शैली कथ्य वस्तु को विश्वसनीय बनाने वाली हो अथवा कम-से कम जीवन के तथ्यों के साथ निश्चित एवं व्यवस्थित रूप से सम्बद्ध हो।

(घ) रचयिता के दृष्टिकोण की स्पष्टता।

गद्य में रचित किसी भी बड़ी कथा को 'नॉवेल' कहा जा सकता है। इसके नियम स्वाधीन हैं। अनिवार्य बन्धन इतना है कि लेखक और पाठक के बीच मौन भाषण हो सके। 'नॉवेल' श्रोतागण की अपेक्षा नहीं रखता परन्तु रचना के साथ ही सम कालीन रीति-नीति में रुचिमान पाठकों की इसे अपेक्षा[1] है। 'नावेल' उस युग में फलता फूलता है जब जनता की बुद्धि और तर्कशक्ति अत्यन्त सक्रिय हो, कल्पना शक्ति तन्द्रित रहे परन्तु विवेचना बहुत सचेत एवं जागरूक हो[2]। वस्तुतः 'नावेल' अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा अधिक बुद्धिवादी रचना है। सत्यानुरूप चित्रण के द्वारा नावेल पाठक को समकालीन जीवन के प्रति अधिक सावधान कर देता है। इसीलिए विश्व के इतिहास में 'नॉवेल' बड़ी-बड़ी क्रान्तियों (फ्रांस की राज्यक्रान्ति सन् १८३८ ई० तथा रूस की साम्यक्रान्ति सन् १९०२ ई०) का कारण बना है। सामान्य जनता को गद्य-कथा के माध्यम से समकालीन जीवन के प्रति स्वकीय दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सचेत एवं सक्रिय बना देने में ही उपन्यास का कृतित्व है।

नॉवेल या उपन्यास में रोमान्स के समान रञ्जित भावना, महाकाव्य के समान जीवन की सर्वाङ्गीणता और नाटक के समान मनोरमता विद्यमान रहती है। इसकी सामग्री मुख्यतः वर्तमान से आती है अतीत से नहीं। इसमें आधिपत्य बुद्धि-तत्त्व का है

---

१ A novel, admittedly obeys few laws, but it must be a story written to be read in silence the silent communion of author and reader. It demands no audience but by the very law of its being it demands the existence of a large reading public attuned to its contemporary conventions. (७)

S. Diana Neill: A Short History Of the English Novel.

२ When the intellect and the reason are most active, the imaginative faculties may be dormant but the critical are very much awake. (२२)

Ernest A. Baker: The history of the English Novel, Volume I.

हृदय पक्ष का उतना नहीं। नाविल का प्रधान नैतिक शिक्षा नहीं फिर भी लेखक के दृष्टिकोण द्वारा वह पाठकों के व्यक्तित्व का निर्माण करता है। नाविल की इन विशेषताओं का स्पष्ट विवेचन करने के लिए अन्य साहित्य-रूपों से इसका साम्य और वैषम्य जानना अति आवश्यक है।

उपन्यास और काव्य

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये हैं। आधुनिक आलोचक उपन्यास-कहानी के सन्निवेश के कारण साहित्य को दृश्य श्रव्य और पाठ्य या पाठ्य तीन[1] प्रकार का मानते हैं। उपन्यास-कहानी साहित्य का ऐसा भेद है जो काव्य नाम से प्रसिद्ध अन्य दो भेदों (दृश्य एवं श्रव्य) से अपृथक होते हुए भी पृथक है। उपन्यास के अधिकारी-पाठक वे हैं जिनकी सामयिक जीवन में रुचि हो और जो लेखक से तद्विषयक मौन संलाप[2] कर सकें।

'उपन्यास' को 'काव्य' का ही एक रूप[3] कहा जा सकता है। कथा-साहित्य और चरित्र-प्रधान प्रबन्ध काव्य में तो विशेष[4] निकटता है। कथा-साहित्य का उद्भव ही एपिक या प्रबन्ध काव्य के स्थान[5] पर होता है। जिस प्रकार काव्य कवि के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है उसी प्रकार उपन्यास-कुसुम[6] रचयिता के व्यक्तित्व-विटप से उद्भूत पुष्प और सुरभित होता है। दोनों ही सामाजिक जीवन के चित्र हैं जो कलाकार के व्यक्तित्व की छाप से अंकित होकर पाठक के समक्ष अपनी विविधता में उपस्थित हो जाते हैं। व्यक्तित्व का प्रभाव कल्पना का प्रसार, कला की रमणीयता नियति की शक्ति मानव की दुर्बलता और चरित्र का उज्ज्वल रूप काव्य एवं उपन्यास दोनों में समान रूप से अंकित किये जाते हैं। कवि के समान उपन्यासकार वर्णन का विशेष प्रेमी हो सकता है ये वर्णन उसकी संवेदना से अनुप्राणित होकर उसके स्वकीय दृष्टिकोण के विशेष परिचायक होंगे। उपन्यास और काव्य दोनों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण दोनों की संवेदनाएं, दोनों के मूल्यांकन मात्रा में भिन्न हो सकते हैं स्वरूप में नहीं क्योंकि दोनों मूर्त बिम्बों द्वारा जीवन का कलापूर्ण चित्रण[7] करते हैं।

---

१ गुलाबराय : काव्य के रूप।

२. एस. डिमान्स डील : द हार्ट सिस्टी आफ दि इंगलिश नावेल पृ. ७

३ रिचर्ड चर्च : दि ग्रोथ आफ दि इंगलिश नावेल।
"—the novel is the child of poetry—" (120)

४ भगवतस्वरूप : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य पृ. १३

५ एर्नेस्ट ए. बेकर : दि हिस्ट्री आफ दि इंगलिश नावेल वाल्यूम १ पृ. ११

६ रिचर्ड चर्च : दि ग्रोथ आफ दि इंगलिश नावेल।
"The novel like the poem, is after all a flower of thei ndividual personality—" (120)

७ रिचर्ड चर्च : दि ग्रोथ आफ दि इंगलिश नावेल।
"Their approach to life their sensuous apprehensions their inter-

काव्य और उपन्यास का मुख्य अन्तर कल्पना की मात्रा पर निर्भर है। काव्य की कथावस्तु और पात्र वास्तविक न होकर कल्पना-मात्र भी हो सकते हैं। ऐसी भी कविता हो सकती है जिसमें व्यक्ति या वस्तु का नितान्त अभाव हो और केवल एक भावना, उच्छ्वास अथवा एक प्राकृतिक दृश्य मात्र अंकित कर दिया जाए[1]। उपन्यास की घटनाएं और पात्र इतने काल्पनिक नहीं हो सकते। उनकी अस्मिता वास्तविकता के ठोस धरातल पर ही टिकती है। किसी काल-विशेष का सहारा लेकर उपन्यास अवकाश में अपनी कल्पना का प्रसार नहीं कर सकता। तथ्यान्वेषण के कारण कई बार तो उपन्यास काव्य की अपेक्षा इतिहास के अधिक समीप दिखाई पड़ने लगता है।

उपन्यास और काव्य दोनों में कल्पना का तो आश्रय अनिवार्य है। परन्तु कवि-कल्पना के प्रति हमारा विश्वास आस्तिक-कोटि का होता है, उपन्यास के प्रति हमारे विश्वास में संशय प्रबल रहता है, उसे नास्तिकता का द्योतक कह सकते हैं[2]। काव्य को पढ़ते हुए हमारा तादात्म्य कवि की अनुभूति के साथ हो जाता है, हमारा बौद्धिक अस्तित्व अंशतः तिरोहित हो जाता है और हम कवि के साथ ही काल्पनिक आकाश में तैरने लगते हैं। कविता में यदि ऐसी शक्ति न हो तो उससे पाठक और श्रोता को आनन्द नहीं मिल सकता। दूसरी ओर उपन्यास का आरम्भ ही उत्सुकता, कुतूहल और संशय में होता है। उपन्यास पढ़कर हम यह नहीं स्वीकार कर सके कि ऐसा हो सकता है। प्रत्येक बार हमारा प्रश्न यह होता है कि ऐसा कैसे हुआ[3]। कवि-कल्पना अपनी माया से पाठक के मन को मुग्ध कर उसे अपनी सृष्टि का अनुचर बना लेती है, परन्तु उपन्यासकार की सृष्टि में पाठक निरीक्षण और परीक्षण करता हुआ ही आगे बढ़ सकता है।

कल्पना जीवी और कल्पना-अवलम्बित होने के कारण काव्य भविष्यद्रष्टा है, परन्तु उपन्यास अतीत और वर्तमान को अधिक स्वीकार करता है। उपन्यास सामयिक जीवन की उपेक्षा करके भविष्य की कल्पना नहीं करता, इसीलिए वह 'ज़माने से आगे बढ़ने' का भी दावा नहीं करता। काव्य वर्तमान को भूल कर अपनी कला से पाठक को अभिभूत करके उसे अनागत के सुनहरे सपने दिखा सकता है। यह अन्तर भी आनुषंगिक है। सच्चा कवि भी अपने युग और परिवेश से सर्वथा अछूता नहीं रह पाता, इसलिए वर्तमान की उपेक्षा उसके लिए सम्भव नहीं। दूसरी ओर भविष्यदर्शी उपन्यास लेखक भी अपनी रचनाओं में भावी समाज का चित्र अंकित करते हैं।

वस्तुतः काव्य में रचनात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है, उपन्यास में विश्लेषणात्मक

---

pretations in terms of significant symbols may be different in degree but they are the same in kind. That kind is the presentation of life through images. (3)

१ [illegible]।
२ वही।
३ वही।

अधिक[1]। कवि-जगत् मन-कल्पित होता है, उपन्यासकार का जगत् अनुभवजन्य। कवि देशकालातीत नित्य और शाश्वत भावों के गीत लिखता है, उपन्यासकार अपेक्षाकृत स्थूल भौतिक और परिवर्तनशील युगीन समस्याओं एवं चित्रों में उलझा रहता है। कवि जीवनानुभूति से प्रेरित होकर अपने व्यक्तित्व का प्रसार करता है परन्तु उपन्यासकार के मार्ग में जीवन के उपकरण बिखरे हुए हैं जो उसे आकृष्ट कर उसके मन में उत्सुकता जगाते हैं और वह उनके अर्थ को समझने का प्रयत्न करता है[2]। संक्षेप में, काव्य अनुभूति का विषय है और उपन्यास अपेक्षाकृत बुद्धि का। काव्य जीवन की प्रेरणा का परिणाम है और उपन्यास जीवन के निरीक्षण का फल। उपन्यास बौद्धिक और तार्किक युग में अधिक सफल होता है।

काव्य साहित्य का रम्यतम रूप है। कवि की आत्मा अन्तर्मुखी होकर अभिव्यक्ति का प्रयत्न करती है और संगीत उस अभिव्यक्ति को माधुर्य प्रदान कर देता है। इस के विपरीत उपन्यास की कला वर्णन प्रधान होती है और उपन्यासकार की वृत्ति बहिर्मुखी। उपन्यास में न उतनी संक्षिप्तता हो सकती है और न उतनी सघनता। कला की दृष्टि से काव्य और उपन्यास दो भिन्न किनारों पर स्थित हैं, काव्य-कला सबसे कठिन है, तो उपन्यास-कला सबसे सरल। कम से कम एक उपन्यास तो सब कोई लिख सकता है।

काव्य जीवन की आलोचना है, परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस में कि उपन्यास[3]। काव्य भाव-जगत् की सृष्टि कर उसकी तुलना में प्रत्यक्ष जीवन और जगत की आलोचना करता है, उपन्यास नवीन सृष्टि नहीं करता, प्रत्यक्ष जीवन का निरीक्षण और परीक्षण करके उस पर अपना निर्णय दे देता है। कवि की अपेक्षा उपन्यासकार जीवन से अधिक

---

१ अर्नेस्ट ए. बेकर—दि हिस्ट्री आफ दि इंगलिश नावेल वाल्यूम १।

Poetry is creative the novel analytical—the kingdom of poetry—is not this world but of the spirit it is not of temporal but of timeless things—the world of enduring ideas or as the poet may conceive it of absolute realities. (18)

२ वही।

Life is behind the poet impelling and sustaining his imagination. It is infront of the prose artist, the object of his attention, curiosity reflection when he portrays it his motive is to bring out the meaning that it has for him. (18)

३ वही।

Poetry is only indirectly a criticism of life in that the ideal world it shapes forth gives a standard and criterion by which we can not help judging and measuring life. The novel on the other hand is a direct interpretation (18)

निकट है।[1] इसके अनुभव सार्वजनिक होते हैं, उसकी दृष्टि अधिक तटस्थ होती है, कवि के समान वैयक्तिक और अद्भुत सृष्टि करके वह पाठक के मन को प्रत्यक्ष जीवन से पराङ्मुख नहीं बनाता।

कहानी और उपन्यास की तुलना करते हुए आलोचक कहानी को खण्डकाव्य और उपन्यास को महाकाव्य के समकक्ष स्थान देते हैं। महाकाव्य के समान उपन्यास में भी जीवन का व्यापक चित्र रहता है। परन्तु महाकाव्य व्यापक जीवन से केवल उन उपकरणों को लेता है जो या तो असामान्य होते हैं या असामान्य[2] बनाये जा सकते हैं। इसके विपरीत उपन्यास छोटी तथा सामान्य वस्तुओं को ध्यान में देखता चलता है।

इस प्रकार काव्य और उपन्यास का अन्तर इतना स्थूल नहीं जितना कि साधारणतः दिखलाई पड़ता है। काव्य पद्य में लिखा जाता है और उपन्यास गद्य में। इस माध्यम-भेद के अतिरिक्त यह अन्तर सामयिक है। आलोचकों का मत है कि प्रत्येक गद्य कृति में भी 'अभिव्यक्ति अंश काव्यत्व'[3] का भी रहता है अतः उपन्यास में काव्य के लिए स्थान है ही। परन्तु काव्य समग्र उपन्यास को अपने भीतर समाविष्ट नहीं कर पाता। काव्य-कला उपन्यास-कला से दुरूह है, उसके असामान्य अतिरंजित और काल्पनिक जगत् में उपन्यास के सामान्य यथार्थ और वास्तविक को आदर नहीं मिलता। उपन्यासकार कवि भी होते हैं परन्तु कवि उपन्यास के धरातल पर उतर कर ह्रासोन्मुख हो सकता है।

उपन्यास और नाटक

गद्य के माध्यम से उपाख्यान तीन रूपों में मिल या सकते हैं—कथा-ग्रन्थ (उपन्यास) आख्यायिका (कहानी) और नाटक। 'नाटक' में केवल वे व्यक्ति ही कथा का वहन करते हैं जिनका उसमें समावेश है 'आख्यायिका' में लेखक स्वयं सब विषयों का वर्णन करता है और 'उपन्यास' इन दोनों के बीच की वस्तु है इसके भीतर पात्र भी कथोपकथन द्वारा कथा को आगे चलाते हैं और लेखक स्वयं भी कहानी कहता चलता

---

१ अर्नेस्ट ए० बेकर : दि हिस्ट्री आफ दि इंग्लिश नावल वाल्यूम १।

The only truth demanded of the creators of poetry is imaginative integrity truth to them elee A narrower cannon is imposed on the novelist he is expected to be true to life—that be i to be always consistent with other men s experience of the world. (15)

२ श्रीकुमार बन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा।

[illegible] (११)

३ [illegible]

है।[1] परन्तु नाटक और उपन्यास के मूल तत्व बहुत-कुछ एक ही है परन्तु साहित्य के उन दोनों रूपों का अन्तर भी स्पष्ट है। नाटककार को रंगमंच की सुविधा का सदा ध्यान रखना पड़ता है इसलिए नाटक का आकार छोटा होता है उसमें रचयिता स्वयं कुछ नहीं कहता और समस्त दृश्यों को पूर्णत मनोरंजक बनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है। उपन्यास में ऐसा कोई बंधन नहीं इसलिए न समय का शासन होता है और न लेखक अपने को पात्रों से अलग रखता है। हडसन ने इसीलिए नाटक की कला को एक कुछ संयुक्त कला माना है जिस में रंगमंच की कला का भी उतना ही महत्व है जितना कि साहित्य कला का नाटक की कला कठोर नियमों में आबद्ध रहती है और उपन्यास की अपेक्षाकृत स्वच्छन्द या नियमों के बन्धन से मुक्त[2]। 'उपन्यास ने उन सब कमीनों को हटा दिया है जो नाटक में रंगमंच के लिए अनिवार्य हैं'।

उपन्यास और नाटक के कथानक में भी अन्तर है। कारण यह कि नाटक में प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई जाती है भले ही वह भूत में घटित हुई हो[3] इसके विपरीत उपन्यास वर्तमान जीवन की घटनाओं को भी भूत घटित कथा के रूप में उपस्थित करता है। इसलिए जहां उपन्यास का कथानक पाठक के मन में अविश्वसनीय भावनाएं जगा सकता है वहां नाटक अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय तथा सामान्य बना रहता है। भूत की वस्तु का एक विशेष संदेश है परन्तु वर्तमान की कथावस्तु रंगीन न होने के कारण व्यावहारिक एवं उपयोगी अधिक है।

उपन्यास का कलेवर बड़ा होता है और नाटक का छोटा। उपन्यास में वर्णन के लिए बहुत अवकाश है परन्तु नाटक रंगसंकेतों[4] से ही वर्णन का काम चलाता है। नाटककार के पास समय का बन्धन है वह निश्चित अवधि में जितना दिखा सका अपनी कला में उतना ही सफल रहेगा परन्तु उपन्यासकार पर समय और आकार का यह प्रतिबन्ध नहीं है।[5]

नाटक का एक मुख्य अंग कथोपकथन है परन्तु उपन्यास में यह वैकल्पिक होता है। पुराने उपन्यास की प्रवृत्ति तो कथामात्र ही थी आजकल अवश्य कथोपकथन की भी योजना की जाने लगी है। नाटककार के पास कथा कहने का एक ही साधन है कि वह पात्रों के मुख से कथावस्तु की अभिव्यक्ति कराये परन्तु उपन्यासकार तीन साधनों

---

१ श्री चंद्रनाथ भट्ट : उपन्यासाचार्य साहित्य।
"नाटक या कथा मंदिर स्वरूप (पृ १)

२ The drama is the most rigorous form of literary art prose fiction is the loosest.
(An Introduction to the Study of Literature, 130)

३ गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ ८६।

४ सिल्वर एल कौम्ब दि टेक्नीक आफ दि इंगलिश नावेल।
The dramatist can only suggest scenery the novelist may hang his interior with the landscapes. (60)

५ गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ १११।

का उपयोग कर सकता है—यथा आत्मकथा (डायरी) तथा पत्र[1]। उपन्यासों में प्रायः तीनों ही प्रणालियों का उपयोग रहता है।

नाटककार सामाजिकों को अपने पात्रों का परिचय केवल दो प्रकार से ही नहीं करवाता प्रस्तुत पात्रों की वेश भूषा, भाव भंगी आदि भी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन में सहायक होते हैं। उपन्यास में पाठक को पात्रों के प्रत्यक्ष दर्शन का प्रसंग नहीं उठता वह उनके व्यक्तित्व का अनुमान या तो वर्णित परिस्थितियों से लगायेगा या पात्र अथवा लेखक के साक्षात् कथन से।

नाटक में नाटककार सामाजिकों के सामने स्वयं उपस्थित होकर न तो कुछ कह सकता है और न उद्बुद्ध समस्याओं पर अपना मत ही दे सकता है—वह अधिक से अधिक किसी पात्र को अपना प्रतिनिधि बना कर उसके द्वारा अपने विचार प्रकट करेगा। उपन्यास में लेखक को किसी रूप या व्याज से पाठकों के सामने आने की बाधा रहती नहीं। आजकल तो अधिकतर उपन्यास प्रभावात्मक दृष्टिकोण से ही लिखे जाते हैं और अधिकतर लेखक नायक के व्यक्तित्व में किसी न किसी मात्रा में स्वयं उपस्थित होने का प्रयत्न करते हैं।

गेटे के अनुसार उपन्यास में मुख्यतः भावनाएं और घटनाएं ही अंकित की जाती हैं परन्तु नाटक में पात्र और उनका क्रियाकलाप[2]। वस्तुतः उपन्यास में पाठक का ध्यान उन घटनाओं की ओर आकृष्ट होता है जो उपन्यास का संचालन करती हैं। उपन्यास का नायक इतना सक्रिय नहीं होता जितना कि नाटक का—नाटक में हम नायक को प्रत्यक्ष क्रियाशील देखते हैं परन्तु उपन्यास में हम को केवल उस की कार्यावली का चित्र रूप ही मिलता है।

उपन्यास और नाटक की व्याख्या में अन्तर है। नाटक की शक्ति प्रत्यक्षता है और उपन्यास का साधन कथन। नाटक नेत्रों के द्वारा हृदय को प्रभावित करता है और उपन्यास कल्पना के द्वारा मन को। नाटक की वास्तविकता भाव में तीव्रता लाती है और उपन्यास की वास्तविकता प्रायः कल्पना का विस्तार करती है। नाटक में नाटक पात्रों के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। उपन्यास में लेखक का दृष्टिकोण अथवा कथा वस्तु पात्रों के ऊपर अपना आवरण भी डाल सकते हैं। नाटक एक मिश्र कला है उस पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध हैं—देश के भी और काल के भी। परन्तु उपन्यास केवल लेखक की कसौटी पर ही कसा जाता है—यदि वह रोचक है तो उसमें पाठक को और कोई अपेक्षा नहीं रहती।

आजकल उपन्यास और नाटक अपनी-अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने लगे हैं। पहले ये एक दूसरे के पूरक थे। आज उपन्यास

१ हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ लिटरेचर, पृ० १८२।

२ In the novel it is chiefly sentiments and events that are exhibit ed in the drama it is character and deeds

(Carlyle's Translation of Goethe)

कथोपकथनों से भरा रहता है और नाटक अभिनेय नहीं भी होता। नाटककार पात्रमुख से अपने विचारों का प्रचार करता है और विचारों के प्रतिनिधि पात्रों का निर्माण करके तर्क-वितर्क एवं वाद-विवाद द्वारा स्वमत की प्रतिष्ठा में प्रयत्नशील होता है। जीवन-संघर्ष में उपन्यास में वर्णन को कम से कम स्थान देना निश्चय किया है।

उपन्यास और नाटक में परस्पर सामीप्य की वृद्धि होने पर भी उन को पृथक करने वाली दो कसौटियाँ स्पष्ट हैं—कथोपकथन की मात्रा और आकार। नाटक का कलेवर कथोपकथन-मात्र से निर्मित होता है परन्तु उपन्यास में कथोपकथन की केवल योजना हो सकती है। नाटक का आकार प्रायः छोटा है और उपन्यास का वर्णन बाहुल्य के कारण प्रायः विस्तृत।

'उपन्यास' और 'रोमान्स'

संस्कृत भाषा में 'आख्यान' 'दृष्टान्त' 'उपाख्यान' 'कथा' तथा 'आख्यायिका' शब्दों का व्यवहार कथात्मक साहित्य के लिए सामान्यतः प्रचलित है। अंग्रेजी में 'फिक्शन' 'स्टोरी' 'रोमान्स' 'नॉवेल' आदि शब्द उसी प्रकार व्यवहार्य हैं। हिन्दी में 'कहानी' शब्द अपेक्षाकृत पुराना और 'उपन्यास' शब्द नया है। किंचित् संस्कृत से और अधिकांशतः अंग्रेजी से (बंगीय माध्यम से) प्रभावित होने पर भी आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कथात्मक साहित्य के लिए 'कहानी' और 'उपन्यास' दो शब्दों का ही व्यवहार होता है, इसलिए 'उपन्यास' का पर्याय केवल 'कहानी' को ही माना जा सकता है। बंगला में जिन दिनों 'उपन्यास' शब्द का जन्म हुआ था उस काल में अंग्रेजी का 'नॉवेल' शब्द 'रोमान्स' (रोमान्टिक नॉवेल) तथा 'नॉवेल' (रियलिस्टिक नॉवेल) दोनों के लिए प्रयुक्त होता था—ऊपर बताया जा चुका है कि 'उपन्यास' शब्द में मूल प्रेरणा 'रोमान्स' की ही है। अस्तु, हिन्दी में अप्रयुक्त होते हुए भी 'रोमान्स' का 'उपन्यास' से अन्तर जान लेना आवश्यक है।

मध्यकालीन इंग्लैण्ड में समाज के दो अंग—विशिष्ट और सामान्य—अपने आदर्शों का चित्र जिन दो प्रकार के कथा-साहित्यों में देखा करते थे उनसे क्रमशः 'रोमान्स' और 'नॉवेल' का विकास हुआ। परन्तु नॉवल शब्द अपने व्यापक अर्थ में रोमांस को भी अपने अन्तर्गत समाविष्ट कर लेता है। नॉवेल के इतिहास को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जाता है—मध्यकालीन रोमांस, यथार्थवादी उपन्यास और आधुनिक उपन्यास[1]। आधुनिक नॉवेल (यथार्थवादी और नवमान) का जन्म स्काट के बाद से मानना चाहिए। अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य के वस्तुतः दो ही रूप हैं—रोमांस नॉवेल तथा वास्तववादी (रियलिस्टिक) नॉवेल।

रोमांस में कल्पना का अत्यधिक प्रयोग, जीवन का असामान्य चित्र और रस-कथा की प्रवृत्ति ही मुख्य है, चरित्र-चित्रण और वास्तविकता का महत्त्व नहीं[2]। अंग्रेजी

१ रिचर्ड एम. बीन : दि डेवेलपमेंट ऑफ दि इंग्लिश नॉवेल पृ० ११७।

२ The romance gives greater freedom to the imagination, deals with more unusual aspects of life and is usually more concerned with

साहित्य के प्रारम्भिक दिनों में रोमांस शब्द रोमांस भाषा (फ्रेंच) से अनूदित साहस तथा प्रेम की प्रारम्भिक पद्य-कथाओं के लिए प्रयुक्त होता था[1]। तदनन्तर अंग्रेजी की यथानियम कहानियों के लिए भी इसका व्यवहार होने लगा और तीसरी अवस्था वह है जब स्वतन्त्र काल्पनिक अतिरंजनापूर्ण प्रेमकथाओं और साहसिक कथाओं को रोमांस कहने लगे।

इसके विपरीत नॉविल का प्राण साधारण जीवन की अभिव्यक्ति और विश्वसनीय परिस्थितियों का चित्रण है[2]। कल्पना के स्थान पर वास्तविकता, असामान्य के स्थान पर सामान्यता और उत्तेजना के स्थान पर पात्रों का क्रमिक विकास और कथा की स्वाभाविक गति नॉविल को रोमांस से अलग करते हैं। "उपन्यास यथार्थ जीवन का चित्र है जिसमें अपने समय और रीति-रिवाज का अंकन होता है। रोमांस अतिरंजित भाषा में उन बातों का वर्णन करता है जो न कभी हुईं और न जिनके होने की सम्भावना है। उपन्यास में नित्यप्रति के जीवन का सहज सुगम चित्रण रहता है ऐसे जीवन का जो हमारे मित्रों के या स्वयं हमारे साथ घटित होता है और प्रत्येक दृश्य एवं प्रत्येक चित्र की विश्वसनीय स्वाभाविकता इस की पूर्ण सफलता की द्योतक है[3]।

इस प्रकार जो गद्य-कथा वास्तविक जीवन का स्वाभाविक चित्रण करती है उसे नॉविल और जो अतिरंजना द्वारा जीवन का अद्भुत असम्भव या अविश्वसनीय काल्पनिक रूप (साहसिक या इतर गुणों द्वारा) प्रस्तुत करती है उसे रोमांस कहा

---

१ श्री विल्बर एल० क्रास : दि डिवेलपमेंट आफ दि इंग्लिश नॉवेल।

Then romance meant a highly idealised verse narrative of adventure or love translated from the French that is from a romance language. (Introduction)

२ वही।

" a novel must possess an ordinary structure but that it shall be a careful study of some phase of real life or of conduct in a situation which however impossible in itself the imagination is willing to accept for the time being as possible (21)

३ क्लेरा रीव : दि प्रोग्रेस आफ रोमांस।

"The novel is a picture of real life and manners, and of the times in which it is written. The romance in lofty and elevated language describes what never happened nor is likely to happen. The novel gives a familiar relation of such things as pass every day before our eyes, such as may happen to our friends or to ourselves and the perfection of it is to represent every scene in so easy and natural manners and to make them appear so probable as to deceive us "

जायेगा[1]।

एबेल चेवेली[2] के अनुसार रोमांस और नॉविल का अन्तर इन शब्दों में स्पष्ट किया जाता है कि 'रोमांस शब्द का व्यवहार उन रचनाओं के लिए होता है जिनमें निरीक्षण के ऊपर कल्पना का शासन पाया जाय और उपन्यास के क्षेत्र में सर्व-सामान्य का प्रतिदिन का जीवन रहता है।

उपन्यास और कहानी

स्टोरी और नॉविल दोनों का फिक्शन के अन्तर्गत समावेश होता है। प्रारम्भिक दिनों में कथा-तत्त्व-संयुक्त समस्त साहित्य को कथा या स्टोरी कहा जाता था इसीलिए आलोचकों ने कथा-तत्त्व को उपन्यास का सबसे मुख्य तत्त्व माना है[3]। आजकल की कहानी उपन्यास की ही स्वतन्त्र रूप से विकसित शाखा है परन्तु उसका इतना स्वतंत्र विकास हो चुका है कि वह उपन्यास के कुल की होती हुई भी उससे भिन्न हो गई है। 'वह बालिका जो गल्प कहलाती है उपन्यास की ही औरस जात है किन्तु कुछ समय से वह अपने पितृगृह में निवास नहीं करती इसने[4] नवीन कुल की मर्यादा ग्रहण कर ली है।

उपन्यास में जीवन का पूरा चित्र होता है और कहानी में जीवन के एक पक्ष की झांकी मात्र परन्तु यह आकार का स्थूल भेद मात्र ही दोनों का व्यवच्छेदक नहीं माना जा सकता। उपन्यास और कहानी के रूप-रंग भी अलग-अलग हो गए हैं। आकार मात्र के आधार पर छोटी गद्य कथा को कहानी और बड़ी गद्य कथा को उपन्यास नहीं कह सकते। कहानी को छोटा उपन्यास और उपन्यास को बड़ी कहानी कहना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसा कि चौपाए होने की समानता के आधार पर मेंढक को छोटा बैल और

---

१ श्री विल्बर एल. क्रास 'दि डिवेलपमैंट आफ दि इंग्लिश नावेल'।
That prose fiction which deals realistically with actual life is called in criticism and conversation prominently the novel That prose fiction which deals with life in a false or fantastic manner or represents it in the setting of strange improbable or impossible adventures, or idealises the virtues and the vices of human nature is called romance (Introduction)

२ वही The one — romance — is applied to books in which imagination predominates over observation. The other — 'novel designates the more recent genre which has for its domain the life of every day and of all men.

३ 'The fundamental aspect of the novel is its story-telling aspect (Forester)
A novel, whatever else it is or it is not is at any rate a story" (Hudson)

४ साहित्यालोचन पृ. १४४

शैल को बड़ा भैया कहना'[1]। कहानी और उपन्यास एक ही वर्ग के हैं परन्तु कहानी उपन्यास से पूर्णतया स्वतंत्र हो चुकी है यद्यपि उपन्यास में कथा-तत्व रहता है फिर भी आज की कहानी उपन्यास से अलग एक स्वतन्त्र कथा-रूप है।

कहानी जीवन की केवल एक स्थिति अथवा एक अंग का ही चित्रण करती है उसमें जीवन की केवल एक झलक या झांकी ही रहती है। इसके विपरीत उपन्यास में जीवन का बहुमुखी और व्यापक चित्र पाया जाता है। कहानी-लेखक के सामने केवल एक ही लक्ष्य है और उसी के निर्वाह में उसकी सफलता निर्भर है उपन्यासकार जिस जीवन को लेता है उसका व्यापक तथा विस्तारपूर्ण चित्र उपस्थित करता है। यदि कहानी गद्यात्मक गीतकाव्य है तो हम सम्भवतः उपन्यास को गद्य का महाकाव्य कह सकते हैं।

कहानी की शैली का मुख्य गुण एकाग्रता है उपन्यास की शैली का मुख्य गुण व्यापकता। एक में कार्य-व्यापार की क्षिप्रता रहती है तो दूसरे में विवरणात्मकता। कहानी का शिल्प विधान संयत होता है उपन्यास का शिथिल। कहानी में अन्य विषयों की आलोचना प्रत्यालोचना के लिए स्थान नहीं होता परन्तु उपन्यास के विन्यास में लेखक का विवेचनात्मक चित्रण रहता ही है।

'कहानी में चरित्र-विकास के लिए अधिक गुंजाइश नहीं रहती। उसमें घटनाएँ चरित्र की एक झलक दिखाई जाती है जिससे पूरे चरित्र का भी कुछ आभास मिल जाता है'[2]। इसके विपरीत उपन्यास की सफलता चरित्र-विकास पर निर्भर है। कहानी पृष्ठभूमि का चित्रण न करके अभीष्ट दृश्य या पात्र की झांकी मात्र दिखाती है परन्तु उपन्यास जिस तथ्य को हृदयंगम कराता है उसका विस्तृत वर्णन करके उसे स्वतःग्राह्य बना देता है। अतः यह कहना सर्वथा असंगत है कि कहानी उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण है। उपन्यास का संक्षेपण करने पर उसकी विशिष्टता भी जा जायेगी जो कि कहानी के लिए अज्ञात है। कहानी उपन्यास के एक अंश का कलात्मक रूप है उसकी एक-तथ्यता उसे वैविध्यपूर्ण उपन्यास से पृथक कर देता है।

कहानी यदि भावना और कल्पना से जीवन को गति देती है तो उपन्यास उसे चिन्तन की चेतना से बनाता है। कहानी जीवन के एक भाव की अनुभावना है तो उपन्यास उसकी भाव-समष्टि की व्याख्या। दोनों का लक्ष्य एक है केवल रूप भेद है क्योंकि दोनों जीवन ही के पथ का पथिक हैं किन्तु कहानी जीवन की एक मनोरम झांकी है और उपन्यास जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति—उपन्यास में जीवन की समस्त भावनाएं, विचार धाराएं और अवस्थाएं अपने स्वच्छन्द रूप में चित्रित होती हैं।

उपन्यास और इतिहास

गल्प कहने और सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है और इस

---

१ डा० गुलाबराय : काव्य के रूप पृ० ११९

२ डा० गुलाबराय काव्य के रूप पृ० ११०

सर्वदेश-साधारण गल्प में ही उपन्यास का बीज निहित था। कथा की इस उत्सुकता से ही इतिहास का जन्म होता है अतएव पाठक की दृष्टि से उपन्यास और इतिहास एक दूसरे के बहुत समीप हैं—दोनों ही उत्सुकता को शान्त करते हैं। इतना ही नहीं पूर्णतः कल्पित उपन्यास की अपेक्षा इतिहास-मिश्रित उपन्यास अधिक आकर्षक होता है। कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में 'उपन्यास में इतिहास के मिल जाने से एक विशेष रस का संचार होता जाता है'। परन्तु इतिहास उपन्यास का पराधीन ही नहीं उसका अनन्य सहायक भी है। रोमानी उपन्यास में इतिहास का बहुत मिश्रण रहा करता था आज भी इतिहास की कान्ति उपन्यास को अधिक सजीव बना देती है और उपन्यासकला से इतिहास अधिक ग्राह्य बन जाता है।

उपन्यास और इतिहास में पर्याप्त भेद भी है। इसका मुख्य आधार है उपन्यास की कला—इतिहास में इस सौन्दर्य-सृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। कलाकार की दृष्टि वैज्ञानिक की दृष्टि से भिन्न है वैज्ञानिक (इतिहासकार) मानो कैमरा[1] के द्वारा अपनी उत्सुकता को शान्त करने के लिए समाज पर दृष्टि-निक्षेप करता है उस दृष्टि में अपना रंग नहीं होता परन्तु कलाकार अपनी भावना का आरोप करके वस्तुओं को अपने रंग से प्रस्तुत करता है—इस सौन्दर्य-सृष्टि के हेतु उसे सभी प्रकार की काट-छांट का अधिकार है। इतिहासकार का सत्य उपन्यासकार के सत्य से भिन्न है। इतिहास का शुष्क सत्य उपन्यास का सरस सत्य बन जाता है—कलाकार भूत या वर्तमान की नीरस घटनाओं में से सरस स्थलों को चुनकर उन पर अपनी कथावस्तु को आश्रित करता है। आचार्यों ने इसीलिए यह सम्मति दी है कि इतिहास में जो वस्तु अनुचित हो उसे या तो छोड़ देना चाहिए या बदल देना चाहिए[2]। स्टीवेन्सन के मत में उपन्यास जीवन की ठीक-ठीक प्रतिलिपि नहीं है प्रस्तुत जीवन के किसी पक्ष का सहज चित्र है जिसकी सफलता इस सहजता पर निर्भर है[3]। वास्तव में उपन्यास इतिहास के समान निरपेक्ष और वस्तुपरक नहीं रह सकता उसमें लेखक का व्यक्तित्व न केवल सौन्दर्य चयन में विशेष सक्रिय रहता है प्रत्युत उस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर भी लेखक के

---

१ As art creations are emotional representations of facts and ideas, they can never be like the product of a photographic camera. Our scientific mind is unbiased like the camera eye it accepts facts with a cold blooded curiosity that has no preference the artistic mind is strongly biased (The Meaning of Art.)

२ "यत्तत्रानुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥

३ The novel is not a transcript of life, to be judged by its exactitude but a simplification of some side or point of life, to stand or fall by its significant simplicity

(Memoirs and Portraits page 297)

व्यक्तित्व की छाप रहती है। इस दृष्टि से उपन्यास इतिहास और काव्य के बीच की वस्तु है।

इतिहास व्यक्तियों के स्थान में सम्पूर्ण समाज की कथा कहता चलता है उसमें व्यक्तित्व के चित्रण का कोई अवकाश नहीं आता परन्तु उपन्यासकार के लिए व्यक्ति मुख्य है और समाज गौण। उपन्यास में अतीत की घटनाओं का चित्रण व्यक्तित्व के विकास के अध्ययन के निमित्त ही होता है इसलिए उपन्यास में उस काल की बहुत सी राजनीतिक घटनाएं छोड़ी भी जा सकती हैं। दूसरी ओर इतिहास क्योंकि समाज की स्थूल परिस्थितियों का चित्रण है इसलिए व्यक्तियों के मन पर प्रभाव डालने वाली बहुत सूक्ष्म रेखाएं उसके चित्रपट पर अंकित नहीं भी हो सकतीं। इतिहास समष्टि का चित्र है तो उपन्यास सूक्ष्म भावनाओं का मन्थन। इतिहास अव्यवस्थित संकलन है तो उपन्यास एक क्रमबद्ध योजना।

उपन्यास अपनी सामग्री इतिहास से लेता है परन्तु लिखित इतिहास की मर्यादा उसे स्वीकार नहीं। अतीत के उपकरणों से वह केवल उन कथाओं को चुन लेता है जो प्रस्तुत कड़ियों के संयोजन तथा उपलब्ध तथ्यों की व्यवस्था में सहायक होते हैं। अतः इतिहास से उपेक्षित बहुत से सत्य उपन्यास में प्रकाशित हो जाते हैं साथ ही इतिहास के कुछ सघन रूपों का उपन्यास में परित्याग हो जाता है। इसीलिए आलोचकों का मत है कि इतिहासकार घटनाओं का वर्णन करता है उपन्यासकार उनका निर्माण करता है। वह संसार के रहस्य और उसके संगीत में रुचि रखकर जन्म मरण और विवाह जैसी सामान्य घटनाओं का लेखाजोखा करने वालों से बहुत ऊपर उठ जाता है[1]।

इतिहास और उपन्यास के पात्रों में भी भेद है। इतिहास में पात्र प्रायः विच्छिन्न रूप में पाठक के समक्ष आते हैं इसके विपरीत उपन्यास में सभी प्रमुख पात्र विकासोन्मुख रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। फलतः उपन्यास के पात्र अधिक पूर्ण अधिक निश्चित अधिक वास्तविक और अधिक समीप दिखाई पड़ते हैं[2]। इसीलिए उपन्यास में सजीवता होती है और इतिहास में शुष्कता। उपन्यास जीवन का चित्र है और इतिहास तथ्यों का। उपन्यास के पात्र सजीव होने के कारण पाठक की प्रेरणा के सम्बल बनते हैं इतिहास के पात्र केवल भय और विस्मय के ही आधार बने रहते हैं।

---

१ The novelist is more and of a nobler heredity than the mere recorder of birth deaths and marriages that he is concerned with the mystery of worlds and their music and with events as representing something larger than one social comprehension can envisage (Church p 2)

२ People in a novel can be understood completely by the reader if the novelist wishes their inner as well as the outer life can be exposed And this is why they often seem more definite than characters in History (Forster p. 62)

उपन्यास और इतिहास में पति का भी भेद है। घटनाओं और पात्रों के उत्थान पतन में बाह्य कारण ही शक्तिशाली बनकर अपना चमत्कार दिखाते हैं[१] भाग्य का खेल और अप्रत्याशित आकस्मिकता इतिहास के विषमय का मार्ग[२] है। उपन्यास में कल्पना के आश्रय द्वारा पात्रों की स्वाभाविक गति अभिव्यंजित होती है उनकी गति पर पाठक को सन्तोष और विश्वास होता चलता है। इसीलिए उपन्यास जितना स्वाभाविक है उतना इतिहास नहीं।

उपन्यास के तत्व

उपन्यास का सब से महत्वपूर्ण अंग 'कथा' है जिसके अन्तराल में स्थित 'पात्र' अपने क्रियाकलाप द्वारा घटनाओं की सृष्टि करते हैं और कलाकार स्वकीय दृष्टि कोण से उनका 'शैली' विशेष द्वारा चित्रण करता है। इस प्रकार उपन्यास के मुख्य तत्व कथा' और 'शैली' ही है। परन्तु आलोचकों ने 'ओविस' के ये तत्व माने हैं कथावस्तु' चरित्रचित्रण' 'कथोपकथन' 'देशकाल' (वातावरण) 'शैली' तथा उद्देश्य'। भारतीय परम्परा के अनुसार रस काव्य-मात्र की आत्मा है हिन्दी के कुछ[३] आलोचक उसको अधिक व्यापक क्षेत्र से सम्बद्ध कर साहित्य-मात्र (उपन्यास सहित) का प्राण मान लेते हैं उनके अनुसार उपन्यास के तत्व 'सात' है —छह ओविस वाले और सातवां रस।

कथावस्तु

यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि कथावस्तु उपन्यास का प्रधान तत्व है। कथा को हम उपन्यास का प्राण कह सकते हैं। हडसन एक हडसन[४] ने इसीलिए कहा है कि उपन्यास और कुछ भी हो या न हो एक कथा अवश्य है। परन्तु स्मरण रहे कि कथा-मात्र उपन्यास नहीं है। उपन्यास का अंग कथा' है उसका मुख्य तत्व कथा वस्तु' है।

'कथा' और 'कथावस्तु' में अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। 'कथावस्तु' कलाकल्पित 'कथा' को कहते हैं। जीवन के व्यापक क्षेत्र सृष्टि के समग्र विस्तार, और भाव जगत् के अखिल सौन्दर्य में से आवश्यक का संग्रह और अनावश्यक का त्याग करता

---

१ History with its emphasis on external causes, is dominated by the notion of fatality whereas there is no fatality in the novel there every thing is founded on human nature (Forster p. 66)

२ What is fictitious in a novel is not so much the story as the method by which thought develops into action, a method which never occurs in daily life (Ibid p. 67)

३ डॉ गुलाबराय काव्य के रूप

४ दि स्टडी आफ ग्रांट लिटरेचर (एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ लिट्रेचर)

हुआ उपन्यासकार जिस कथानक का निर्माण करता है वही उपन्यास की 'कथावस्तु' है। कथावस्तु से अभिप्राय घटनाओं के उस कथात्मक अनुक्रम से है जिसमें एक विशेष प्रकार का नियोजन अभिलक्षित हो। एडविन म्यूर[1] के अनुसार कथा के अन्तर्गत घटनाओं की शृङ्खला और उनके नियोजन-सिद्धान्त का नाम कथावस्तु है। ई॰ एम॰ फोर्स्टर[2] के मत में संयोगाश्रित घटनावली का शृङ्खलाबद्ध नियोजन कथावस्तु कहलाता है।

कथा का प्राण उत्सुकता है और कथावस्तु का जिज्ञासा। कथा में तल्लीन पाठक 'तदनन्तरम्' पर अपना मन केन्द्रित करता है परन्तु कथावस्तु में उसका ध्यान 'कथमिति' पर[3] रहता है। ऐसी कथा कला की दृष्टि से सफल न मानी जाएगी जो पाठक की उत्सुकता-मात्र को शान्त करती रहे, उसमें पाठक के मन में यह प्रश्न उठना चाहिए कि 'ऐसा क्यों हुआ' और 'क्या ऐसा ही होना है, इससे भिन्न नहीं हो सकता'। मध्ययुगीन कहानी में कथा-तत्त्व मुख्य था जिससे पाठक का कुतूहल शान्त होता था परन्तु आज का उपन्यास बुद्धि-समन्वित कथावस्तु की सुगठित नियोजना द्वारा जिज्ञासा की तृप्ति करता है।

उत्सुकता और जिज्ञासा दोनों कथा को रोचक बनाते हैं। उत्सुकता-प्रधान मध्ययुगीन कहानियाँ और जिज्ञासापरक आधुनिक उपन्यास दोनों की कसौटी रोचकता ही है। एक आलोचक[4] ने रोचकता को उपन्यास-कला की प्रमुख विशेषता माना है। स्वभाव से ही मानव का हृदय अपने समान ही दूसरे स्त्री-पुरुषों, उनकी भावना-आकांक्षाओं, उनके सुख-दुःख अर्थात् उनके सांसारिक जीवन के प्रति सदाशय होता है उनके उत्थान-पतन में अपने उत्थान-पतन और उनके क्रियाकलाप में अपने क्रियाकलाप की छाया देखने के लिए ही तो पाठक कथा-साहित्य का आश्रय लेता है।

काव्य और उपन्यास का भेद करते हुए काव्य को कल्पना का और उपन्यास को वास्तविक जीवन का चित्रण माना जाता है। परन्तु यह मत एकपक्षीय है। अन्य कला-कृतियों के समान कल्पना-प्रसूत चित्रण या सौन्दर्य उपन्यास का भी अनिवार्य उपकरण है। उपन्यास 'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा'[5] है उपन्यास

---

१ The chain of events in a story and the principle which knits it together

२ A plot is narrative of events the emphasis falling on causality (110) (Aspects of the Novel)

३ In a story we say "and then" and in a plot we ask "why" (८८)

४ The only condition James was prepared to attach to the composition of the novel was that it should be interesting (A Short History of English Novel)

५ डा॰ श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन।

जीवन नहीं है प्रत्युत जीवन का सारस्वत प्रकाश है।" 'वास्तविक जीवन की कोई भी मनोरम घटना इसीलिए रोचक लगती है कि हम उसके घटित होने से अवगत रहते हैं कथा की घटना के विषय में हम जानते हैं कि वह घटित नहीं हुई फिर भी वह विश्वासोत्पादक चित्रण के कारण हमको रोचक लगती है'। यदि उपन्यास की कथावस्तु पाठक के मन में जीवन की स्वाभाविक प्रतिबिम्ब और विकास के प्रति विश्वास जमा सकी तो वह कला की दृष्टि से सफल मानी जाएगी।

कथावस्तु में जीवन की अनुरूपता का प्रयत्न हमको यथार्थवाद के निकट ले जाता है। कला में यथार्थ चित्रण भी होता है और अनुकरणीय आदर्श भी। नाना-रूपात्मक जीवन में से कला सुन्दर का चयन करती है असुन्दर उपेक्षित हो जाता है। जीवन और सुरुचि साथ-साथ चलते हैं उपन्यास में जितनी रक्षा सुरुचि की होगी उतना ही वह जीवन का पोषक होगा। अतः वास्तविकता के नाम पर अतियथार्थ कुत्सित का चित्रण कथावस्तु को क्षति पहुँचाता है उपन्यास की यथार्थता घटनाओं के यथार्थ में नहीं प्रत्युत शैली की यथार्थता पर निर्भर है। पाठक के मन में यह धारणा दृढ़ करना कि वे गल्प नहीं सुन रहे[२] वास्तविक जीवन का अनुभव कर रहे हैं उपन्यास का ध्येय है। कोई भी उपन्यास उस समय तक महान् नहीं हो सकता जब तक उसका लक्ष्य महान् न हो।[३]

वास्तविक या यथार्थ से अनुप्राणित होते हुए भी उपन्यास और इतिहास में अन्तर है। ऐतिहासिक उपन्यास इसी कारण इतिहास नहीं है दोनों का अन्तर बहुत मात्रा में कथावस्तुगत है। इतिहास घटनाओं का यथारूप वर्णन करता है उपन्यास घटना के घटाटोप में छिपे हुए सत्य के शुभकण को पहिचान कर उसके आलोक में कथावस्तु की सृष्टि करता है। कला सत्य का नाम नहीं सत्य के सुन्दर अनुकरण का नाम है। उपन्यास में सत्य अभिप्रेत नहीं अन्वेष्य है। इतिहास सत्य को जान कर उसका वर्णन करता है उपन्यास सत्य को जानने के लिए घटनाओं की योजना करता है। इतिहास घटना-जाल पर 'इत्यम्' की छाप लगा देता है उपन्यास घटनाओं को 'इत्यम्' से अलंकृत करता हुआ 'कथावस्तु' का निर्माण करता है। सत्य के चार रूप संभूत सम्भव असम्भव तथा संभाव्य है। 'सम्भूत' सत्य इतिहास का और 'सम्भाव्य'

---

१. टेर्ई मिसेल : द ईस्थेटिक ऑफ़ दि नॉविल

A marvellous event is interesting in real life simply because we know that it happened. In a fiction we know that it did not happen and therefore it is interesting only as far as it is explained (108)

२. कथा-सर्जने रवीन्द्रनाथ, १९००

३ In the long run the quality of a work of fiction depends on the quality of thought of the times in which it is written. (40)

P. H. Newby The Novel

सत्य काव्य का विषय है, प्रथम घटित सत्य और द्वितीय में काल्पनिक रमणीय सत्य समाविष्ट है। उपन्यास सम्भव और असम्भव सत्य को अपना अंग बनाता है 'सम्भव सत्य' घटित सत्य के अनुरूप होता है। उपर्युक्त सीमा सत्यों के अतिरिक्त जिस सत्य का कथन हो वह असम्भव सत्य' है। आजकल का उपन्यास 'सम्भव सत्य' को स्थान देता है, तिलिस्मी उपन्यास रोमान्स आदि असम्भव सत्य के उदाहरण हैं।

उपन्यास की कथावस्तु स्वाभाविक होनी चाहिए अर्थात् उसका विकास स्वयं सिद्ध हो प्रयत्नसाध्य नहीं। घटनाओं का नियोजन ऐसा हो कि उत्तरोत्तर घटनाएँ पूर्व घटनाओं का स्वाभाविक परिणाम दिखाई पड़ें। यदि भावी घटनाएँ भूत और वर्तमान घटनाओं से स्वतः आविर्भूत न[1] न होंगी तो वे ऊपर से थोपी हुई लगेंगी और पाठक उन पर विश्वास न कर सकेगा। कथावस्तु में स्वाभाविकता का निर्वाह उपन्यासकार की जीवन के प्रति यथार्थ का द्योतक है।

सफल कथावस्तु में जीवन का सम्यक् निर्दशन होता है। यह कहा जा चुका है कि स्वकीय दृष्टिकोण का व्यक्त करने के लिए उपन्यासकार अनन्त जगत् में से सामग्री का चयन करता हुआ उसके वर्णन द्वारा पाठक के मन में सौन्दर्य और सुरुचि का स्थिर करता है। साहित्य के दूसरे रूपों की अपेक्षा उपन्यास में इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उपन्यास में अप्रासंगिक के लिए पर्याप्त अवकाश है। सफल उपन्यासकार कथावस्तु में महत्व के अनुसार घटनाओं का विस्तार और स्वाभाविकता का ध्यान रख कर उनका क्रम-नियोजन करते हैं। व्यवस्था एवं प्रगति कथा वस्तु के मुख्य गुण हैं। घटनाओं का उपयोगी चयन, सहज विकास, स्वाभाविक गति, प्रकृतिम क्रम-बन्धन और निश्चष्ट परिणति कथावस्तु को सफल बनाते हैं। अपनी विशेष प्रवृत्ति के अनुसार उपन्यासकार एक ही घटनाक्रमों में से विशेष कथावस्तु का निर्माण कर सकता है और पाठक के मन पर विशेष प्रभाव अंकित कर पाता है।

कथावस्तु के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त के कारण उपन्यास ऐतिहासिक, सामाजिक काल्पनिक (घटनात्मक) आदि वर्गों में विभक्त किये जाते हैं। आजकल शास्त्रविशेष के ज्ञान को सरसुलभ बनाने के लिए वैज्ञानिक, सामरिक, राजनीतिक आदि प्रकार के उपन्यास भी लिखे जाते हैं। कथावस्तु का तीन चौथाई जीवन है, इसकी सफलता उपन्यास की सफलता है। स्वाभाविकता और रोचकता उपन्यास-शरीर की रक्तवाहिनी शिराएँ हैं, जीवन की सार्थकता इन्हीं से होती है। कथावस्तु पाठक के मन में जितना विश्वास उत्पन्न कर सकेगी उतनी ही वह सफल मानी जायेगी।

चरित्र चित्रण

पाश्चात्य दृष्टिकोण से चरित्रचित्रण ही उपन्यास का प्राण है। समाज में व्यक्ति चेतना का उन्मेष होने से साहित्य में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्व मिलने लगा और

---

१ दि आर्ट ऑफ फिक्शन [illegible] —(ले०) [illegible]
दि नवेल।

—

पश्चिम के आलोचक व्यक्ति वैचित्र्य को ही काव्य का प्रधान अंग मानने लगे। भारतीय आलोचक काव्य में जो स्थान रस को देता है उपन्यास में वही स्थान पाश्चात्य आलोचक चरित्र-चित्रण को देता है क्योंकि उपन्यास व्यक्ति-चेतना-प्रधान समाज का साहित्य रूप है। अस्तु, यदि उपन्यासकार अपनी दृष्टि मानव-चरित्र के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर केन्द्रित करता है तो वह इस कर्म के लिए पाठक के समक्ष उत्तरदायी है यदि उसकी रचना में रोचकता के कार्य काल्पनिक साहसिक कार्य मात्र हैं तो हम उसके औपन्यासिक कर्तव्य-कर्म को सन्देह की दृष्टि से देखने के लिए स्वतन्त्र हैं।[1] उपन्यास 'मानव चरित्र का चित्र मात्र' है 'मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है'।[2]

चरित्रचित्रण की प्रथम विशेषता सजीव पात्रोंकी सृष्टि है। जो कलाकार विचित्र एवं अद्भुत नर-नारियों का निर्माण करता है उसकी कथावस्तु बोझिल बन जाती है। परन्तु जिस उपन्यास में सर्वसामान्य के अनुभव में आने वाले सजीव प्राणी स्वच्छन्द विचरे रहते हैं उसका शेष विवरण तो काल के करों से पोंछ दिया जाता है केवल वे अमर पात्र पाठक के हृदय-पटल पर अंकित रह जाते हैं। अस्तु पात्र अमर तभी हो सकते हैं जब उनकी शिराओं में वही रक्त हो जिससे हमारी हृत्पति संचालित होती है। चरित्र चित्रण की कुशलता इस व्यापार में निहित है कि पाठक पात्रों को कलाकार का निर्माण न समझ कर अपनी जानी-पहचानी सृष्टि समझे उनके प्रत्येक क्रियाकलाप में पाठक का मन सम्पृक्त होता चले।

उपन्यासकार अपने पात्रों का भावन करता है कथावस्तु के विकास के साथ साथ पात्र अपना स्वरूप धर्म यमें अनावृत करते हैं—मानो कलाकार ने पात्रों को कथा की सरिता के बीच स्वतन्त्र छोड़ दिया हो और वे अपने क्रिया कलाप द्वारा घटनावली की सृष्टि स्वयं कर रहे हों। थैकरे ने इसीलिए कहा है कि मैं पात्रों के शासक नहीं प्रत्युत उनसे शासित[3] हूँ। पात्रों की सजीवता इसी गुण में निहित है क्योंकि ऐसे पात्र बाह्य बन्धनों से शासित न हो कर आभ्यन्तर गुणों से परिचालित होते हैं। आलोचकों का मत है कि लेखक को अपने नियमन में रखने वाला पात्र स्वयं पाठक का आज्ञाकारी

---

१ पर्सी लुबक : दि क्रैफ्ट आफ फिक्शन

If a novel throws emphasis upon anything except human character in action it is summoned before the bar If the centre of interest is in external adventure ...the author is suspected of mistaking the real business of the novelist. (121)

२. प्रेमचंद : कुछ विचार

३ "I do not control my characters, I am in their hands and they take me where they please."

...¹ यदि उसने पाठक के इच्छानुकूल आचरण न किया हो तो उसके प्रति पाठक की सहानुभूति नहीं हो सकती —भय या विस्मय से भले ही पाठक उसे देखता रहे। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।

पात्रों का स्वरूप प्रायः पाठकों के समक्ष उपन्यासकार दो प्रकार से उपस्थित कर सकता है। पाठक के समक्ष उपस्थित होकर पात्रों के गुण-दोष का बाहर से सतर्क या निष्पक्ष विवेचन करता हुआ यह कहता चले कि अमुक व्यक्ति का स्वभाव अमुक प्रकार का है इसमें अमुक गुण हैं या अमुक दोष हैं। अथवा उपन्यासकार उदासीन भाव से पात्र सृष्टि का एक अंग बन जाए और पाठक को उस विषय में स्वयं निर्णय निकालने दे²। सामान्य पात्रों के विषय में प्रथम विधि अधिक उपयुक्त है क्योंकि इन पात्रों का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं होता इसलिए पाठक इनके विषय में अपना निर्णय स्वयं नहीं निकाल सकता। इसके विपरीत विशेष या मुख्य पात्रों के लिए चित्रण की दूसरी प्रणाली अधिक समीचीन है। इन्हीं पात्रों का वर्णन उपन्यास का विषय है। यदि उपन्यासकार कुशल है तो पाठक के मन पर पात्रों का वही चित्र अंकित होगा जो उसकी अपनी भावना में अंकित है। प्रायः कलाकार दोनों प्रणालियों को मिश्रित कर लिया करते हैं। मुख्य पात्रों के विषय में सामान्य और इतर मुख्य पात्रों की धारणा का वर्णन करता हुआ उपन्यासकार ऐसी परिस्थिति निर्मित कर देता है जो एक या अधिक पात्रों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाल सकती है। पुराने उपन्यासकार पाठक के मार्ग-निर्देश के लिए स्थान स्थान संकेत छोड़ दिया करते थे परन्तु आजकल तटस्थ रह कर चित्रण कर देने में ही उपन्यास कला की सफलता मानी जाती है।

जब उपन्यासकार मुख्य पात्रों में से किसी एक के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि अपने व्यक्तित्व का किसी विशेष पात्र पर आरोप करके उसके माध्यम से स्वयं उपस्थित होता है तो वह कलाकार के उच्च पद से गिर जाता है। उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य ने कल्पना को पराजित कर उपन्यास को उन घटनाओं और परिस्थितियों में बांध लिया है जो उपन्यासकार की

---

१ A character is the creation of the reader not of the writer" Apparently all a novelist needs do is to provide bold outlines and the reader will cooperate to persuade himself that he is in contact with a real people

२ क्रॉस बुक : The novelist can either prescribe the character from outside as an impartial or partial onlooker as he can assume omniscience and describe them from within or he can place himself in the position of one of them and affect to be in the dark as to the motives of the rest ..

अपनी प्रवृत्तियों से मिलती-जुलती है'। ऐसी परिस्थिति प्रतिमा का कुण्ठन और कला का ह्रास सूचित करती है। स्वकीय व्यक्तित्व के प्रकाशन की यह प्रवृत्ति आजकल के कतिपय अन्तर्मुखी कलाकारों में दिखाई पड़ती है। कुछ लेखक प्रचार को दृष्टि में रख कर ऐसे उपन्यास लिखते हैं। कदाचित् वे सोचते होंगे कि जितनी रुचि अपनी कहानी में हो सकती है उतनी काल्पनिक कथा में नहीं। परन्तु ऐसी रचनाएं अपने पात्रों के प्रति नित्य सहानुभूति उत्पन्न न कर सकने के कारण अमर नहीं बन पातीं।

पात्र-सृष्टि के प्रसंग में उपन्यासकार का मुख्य कर्तव्य "अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व"[२] का चित्रण है। जिस प्रकार समान प्रतीत होने वाले मानवों में कोई न कोई ऐसी विशेषता अवश्य होती है जिसके कारण देखते ही हम उन को अलग-अलग पहिचान लेते हैं उसी प्रकार उनके चरित्रों में भी उनके स्वकीय व्यक्तित्व की एक विशेष छाप होती है। एक ही परिस्थिति में सब व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं एक नहीं होतीं। उपन्यासकार इसी व्यक्ति वैचित्र्य को अपनी रचना में अंकित करता है। परन्तु वैचित्र्य-मात्र पर्याप्त नहीं। वैचित्र्य के मूल में रहने वाला साम्य वैचित्र्य के समान ही या उस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज का उपन्यास साम्ययोगी वैचित्र्य का चित्रण करता है। और वह साम्य है पात्रों का मानवत्व जिस के कारण पाठक की इन पात्रों के प्रति सहानुभूति होती है और उपन्यास उस को रोचक प्रतीत होता है। केवल वैचित्र्यनिष्ठ कल्पनामयी सृष्टि करने वाला घटनात्मक उपन्यास आज कला की दृष्टि से विगत युग की वस्तु समझा जाता है।

प्राचीन साहित्य में पात्र दो प्रकार के थे—देव और दानव : एक पुण्यनिधि था और दूसरा दोषागार। परन्तु आज मनोविज्ञान अधिक व्यापकता से मानव-मन का विश्लेषण करता है। उसके अनुसार व्यक्तित्व में इतना अविकार नहीं होता। मानव दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियों से बना है, परिस्थितियाँ एक समय उसका दैवी रूप व्यक्त करा सकती हैं तो दूसरे समय आसुरी रूप। 'मानव चरित्र न नितान्त उज्ज्वल है और न एकान्त श्यामल : इन दोनों रंगों के तानों-बानों से ही जीवन पट का विस्तार हुआ है। विरोधी गुणों का यह समन्वय अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देता है। विपरीत चित्तवृत्तियाँ अन्तःसंघर्ष को जन्म देती हैं। जिस चरित्र में विपरीत चित्तवृत्तियों से समुत्पन्न अन्तःसंघर्ष नहीं है उसको हम पूर्ण और स्वाभाविक नहीं कह सकते'[३]। जिस जीवन में दुर्बलताएं नहीं हैं वह इस लोक का नहीं है, काल्पनिक है—उपन्यास का विषय न हो कर काव्य के लिए उपयोगी है। अतः, उपन्यासकार विपरीत-वृत्ति या परिस्थिति-विशेष में चित्रण करता हुआ चरित्र को अधिक सजीव बना देता है।

---

१ सीताराम चतुर्वेदी : साहित्य-समीक्षा

२. प्रेमचन्द : कुछ विचार पृ० ६८

३ ये सकल चरित्र नहीं, एक प्रकार के भाव, विशेष चित्तवृत्ति या संकल्प मात्र, जिनके बारे सिर्फ एक वाक्य में हम पीछे अनुभव करते मनन करने वाले थे।

उपन्यास की कथावस्तु आकस्मिक परिवर्तनों में रमणीय लगती है परन्तु पात्रों की स्वाभाविकता मन्थर गति में है[1]। पात्र जिस रूप में पाठक के सामने पहिली बार आवें वही रूप उसके व्यक्तित्व का आधार बने और फिर अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में उसका धीरे धीरे विकास होता रहे। व्यक्तित्व का अनावरण न तो एक साथ हो और न अकस्मात् ही। उपन्यास की समस्या पात्रों के मन्द विकास में है[2]। स्वर्गीय शरच्चन्द्र लिखते हैं कि चरित्र-चित्रण ही उपन्यास का प्रधान अंग माना जाता है, चरित्रों के क्रमिक विकास के लिए मैं बहुत अधिक सावधान रहता हूँ।

चरित्रचित्रण में स्वाभाविकता से अभिप्राय जीवनानुरूपता से है। यद्यपि अनेक उपन्यासकार (अंग्रेजी में डेफो तथा हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी आदि) यह लिख कर कि उपन्यास का आधार एक सच्ची घटना है उसको अधिक रोचक बना दिया करते थे परन्तु जीवन से जैसे-के-तैसे गृहीत पात्र एकरूपता (मानाटनी) का ही सृजन करते हैं। अतः उपन्यासकार कथा के समान पात्रों में भी जीवन का अनुकरण करता है आवृत्ति नहीं। पात्रों में जीवन का रंग भरता है उनको जीवन से खींच कर उपन्यास में नहीं प्रतिष्ठित करता। डुमस ने स्वीकार किया है कि उसने जीवन से कभी कोई पात्र लिया ही नहीं[3] प्राकृत पात्र मनोरंजन के बिना आकर्षक नहीं लगता। हिन्दी के कुछ आधुनिक उपन्यासकार भी अपनी रचना पर लिख देते हैं कि इसके सभी पात्र कल्पित हैं।[4] पात्रों की स्वाभाविकता उनकी विश्वासोत्पन्न शक्ति में है इतिवृत्तात्मकता में नहीं क्योंकि कला की रेखा उपन्यासगत पात्रों को सामान्य प्राणियों से अलग कर देती है[5] आलोचक सजीव चित्रण के लिए जीवन का यथार्थ प्रतिरूपण अनिवार्य नहीं मानते।[6]

ई० एम० फोर्स्टर ने उपन्यासगत पात्रों के दो भेद बताये हैं—फ्लैट तथा राउण्ड।

---

१ ई० एम० फोर्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑफ नावेल

Characters to be real ought to run smoothly but a plot ought to cause surprise (122)

२ The slow shaping of character is the problem of the novel.

३ I have never tried to draw a figure from life My creed is that a human character however engrossing however convincing and true to itself must be modelled anew before it can become material for fiction

४ दे० श्री [illegible]।

५ ई० एम० फोर्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑफ नावेल

The barrier of art divides them from us. They are real not because they are like ourselves (though they may be like us) but because they are convincing (87)

६ ई० एम० फोर्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑफ नावेल

A living character is not necessarily true to life (106)

व्यक्ति आ जाते हैं वे सभी इस कथा के 'पात्र' हैं परन्तु 'चरित्र' केवल वे ही व्यक्ति हैं जिनके सहारे 'कथावस्तु' का निर्माण होता है। उपन्यासकार को जिन पात्रों का चरित्र-चित्रण अभीष्ट है वे ही उसके 'चरित्र' हैं। अंग्रेजी का 'करैक्टर शब्द' एक ओर पात्रों की अभिव्यक्ति करता है, दूसरी ओर यह भी बताता है कि व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण ही पात्रों को "करैक्टर" संज्ञा प्राप्त हुई है। व्यक्ति ने जो कुछ कुत्सित काम किया वह उसका 'कंडक्ट' या 'कर्म' है, परन्तु जो कुछ वह स्वभावतः इच्छापूर्वक करता है वह उसका 'करैक्टर' या 'चरित्र' है। उपन्यासकार अपनी कथा में इसी 'चरित्र' का चित्रण कर पात्र का व्यक्तित्व अंकित किया करता है। जिन व्यक्तियों का चित्रण वह नहीं करता ऐसे अनेक सामान्य या अतिसामान्य पात्र कला की दृष्टि में 'चरित्र' नाम के अधिकारी नहीं है।

स्थूल रूप से उपन्यास का आधार उसकी कथावस्तु है परन्तु कथावस्तु का आभ्यन्तरिक अंग तो चरित्र-चित्रण है। कथावस्तु में चरित्रों का विकास होता है और चरित्र-विकास से कथावस्तु परिणति की ओर जाती है। अतः कथावस्तु और चरित्र-चित्रण—उपन्यास के दो प्रधान तत्त्व—उद्गम विकास तथा परिणति की दृष्टि से अन्योन्याश्रित हैं। उपन्यास का अध्ययन मुख्यतः इन्हीं दो सम्बद्ध अंगों का अध्ययन है।

कथोपकथन

उपन्यास के उपर्युक्त दो तत्त्वों में से एक (चरित्रचित्रण) का निकट-सम्बन्धी तत्त्व कथोपकथन है। यदि कथाकार अपने उपन्यास में समयोचित समुचित तर्क युक्त कथोपकथनों की योजना कर सके तो उसकी कृति में सजीवता एवं सरसता के साथ साथ स्पष्टता एवं स्वाभाविकता की भी वृद्धि होती है। नाटक का यह अनिवार्य उपकरण उपन्यास में प्रयुज्यमान होकर पाठक के हृदय को अधिक अभिभूत कर सकता है। अतएव अधुनातम उपन्यास में कथोपकथन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। 'इस तत्त्व के द्वारा हम उनके पात्रों से विशेष परिचित होते और कथा-काण्ड की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ अनुभव करते हैं'[1]। उपन्यास की वास्तविकता चरित्रावली के कथोपकथन की स्वाभाविकता पर बहुत कुछ निर्भर है। केवल इतना ही नहीं कथोपकथन की भाषा और भावों की विभिन्नता के भीतर उपन्यास-वर्णित चरित्रावली के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता प्रस्फुटित होती है और वे 'टाइप' न रहकर व्यक्तिविशिष्ट हो जाते हैं'[2]।

कथोपकथन का मूल उपयोग पात्रों के मनोवेग उनकी प्रवृत्तियाँ उनकी इच्छा अभिलाषा तथा राग द्वेष का पात्रों की स्वगत अभिव्यक्ति द्वारा प्रस्फुटन है। पात्रों के अन्तःकरण की मौलिक प्रवृत्तियाँ अन्य पात्रों की प्रतिक्रिया-स्वरूप अथवा अन्य पात्रों के परिणामस्वरूप प्रकट होने के लिए वाद का माध्यम ग्रहण कर लेती हैं और परस्पर वार्तालाप में पात्रों के आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व का अनायास ही निदर्शन हो जाता

1. डॉ॰ श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन पृ॰ १७४
2. वही ... पृ॰ १...

है। इस प्रकार कथोपकथन विश्लेषण एवं व्याख्या की संयुक्त प्रक्रिया का विकल्प है। परन्तु कथोपकथन विश्लेषण एवं व्याख्या का तिरस्कार नहीं करता प्रत्युत उसकी शक्ति *को अधिक समर्थ बनाता है*[1]—*इस प्रकार यह पात्रों के विश्लेषण का साधन भी है।*

कथोपकथन का दूसरा उपयोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भाव से कथावस्तु का विकास करना है। उपन्यास के शिथिल कलेवर में भी सभी घटनाएं समाविष्ट नहीं हो सकतीं कुछ का वर्णन होता है कुछ का परिचय दिया जाता है तथा कुछ घटनाओं का संकेत पात्रों के परस्पर वार्तालाप से ही जान लिया जाता है। कथोपकथन का यह कथोपयोगी रूप इतने महत्त्व का है कि कुछ आलोचकों ने उस कथोपकथन को निरर्थक एवं भार *स्वरूप माना है जो कथा के रूप या गुण में उत्कर्ष की सिद्धि न करे, भले ही वह आकर्षक* तथा मनोहर हो।[2] अनावश्यक एवं अनुपयुक्त कथोपकथन की योजना रचना के आकार में वृद्धि करती है पात्रों के व्यक्तित्व का अनावरण नहीं करती। उपन्यास में यह तत्त्व जितना आवश्यक है उतना ही अपने अतिवाद में विकर्षक भी क्योंकि पाठक का ध्येय कथा है संवाद नहीं। जो कथोपकथन न तो कथा को गति प्रदान करे और न पात्रों के रूप को ही अधिक स्पष्ट करे वह निष्प्रयोजन होने के कारण त्याज्य है।

कथोपकथन में स्वाभाविकता से अभिप्राय उसमें व्यक्तित्व की छाप से है। शब्दावली स्वरसन्धान एवं वाक्य-विन्यास व्यक्तिभेद पर निर्भर है इसका व्यवहार कथोपकथन में होता है। सफल कथोपकथन का मुख्य गुण तद्नुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक है। इसी गुण को दृष्टि में रखकर कुछ उपन्यास एक ही कृति में भाषा के अनेक रूप प्रयोग में लाते हैं और कुछ पात्रों को तकिया कलाम का आदी बना देते हैं वाक्यों का विस्तार एवं संकोच भाषा में सम्बद्धता तथा शिथिलता आदि कथोपकथन में प्रयुक्त व्यक्तित्व-स्पष्टीकरण के साधन हैं। पात्रों के सामाजिक स्तर, शिक्षा संस्कृति प्रकृति एवं संस्कार का सर्वोत्तम परिचायक कथोपकथन ही है। कथोपकथन के द्वारा पात्रों की विचारधारा का परिचय प्राप्त होता है कलाकार का जीवन-दर्शन भी बोध-गम्य बन जाता है। जो उपन्यासकार स्वकीय विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही उपन्यास लिखते हैं वे मुख्य पात्रों में से किसी एक के रूप में उपस्थित हो जाते हैं और कथोपकथन द्वारा अपने मत की प्रतिष्ठा करते हुए दृष्टिगत होते हैं।

कथोपकथन को उपन्यस्त करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि संभाषण या *वार्तालाप का ही एक परिवर्तित रूप है। जिस प्रकार संभाषण और सजीव भाषण में बड़ा* अन्तर है उसी प्रकार कथोपकथन और विचार दर्शन में भी होता है। एक ही पात्र अपने

---

१ श्री हडसन Even where the analytical method is freely used, dialogue will prove of constant service as a vivifying supplement to it. (154)

२ श्री हडसन Conversation extended beyond the actual needs of the plot is to be justified only when it has a distinct significance in the exposition of character

वक्तव्य या विचार के प्रतिपादन के लिए यदि संभाषण से हटकर भाषण के स्तर पर पहुँच जाय तो निश्चय ही वह कथोपकथन की सीमा-मर्यादा का अतिक्रमण समझा जायगा। तीन चार पृष्ठों के लम्बे भाषण को कथोपकथन की श्रेणी में कदापि नहीं रखा जा सकता। कथोपकथन दो या तीन पात्रों के समागम (वार्तालाप की शैली में अभिव्यक्ति) शैली-विशेष का नाम है जिसका प्रयोजन व्यक्तित्व का प्रस्फुटन एवं कथा-क्रम का सरलता पूर्वक बोध कराना है।

देशकाल (वातावरण)

वातावरण से अभिप्राय देश और काल की उन उपाधियों से है जिनके अन्तर्गत से उपन्यासकार अपनी कथा और उसके अन्तर्भूत पात्रों का निर्दिष्ट रूप चित्रित करता है। इसके अन्तर्गत उस युग और उस देश की वेशभूषा रीति-रिवाज आदि के साथ साथ घटनाओं और व्यक्तियों की स्थूल परिस्थितियाँ भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार वातावरण के दो रूप हुए—सामाजिक जीवन तथा भौतिक परिस्थितियाँ[1]। उपन्यास में सामाजिक वातावरण का उपयोग कथावस्तु का रंग गहरा करने के लिए होता है और भौतिक वातावरण पात्रों के मानसिक परिवर्तन के लिए उपयोगी है। एक दृष्टि से सामाजिक वातावरण अधिक सामान्य अत कम प्रभाव वाला है और भौतिक परिस्थितियाँ विशिष्ट अत अधिक प्रभावोत्पादक।

वातावरण की दृष्टि से सामाजिक उपन्यास के दो भेद हो सकते हैं—ऐतिहासिक और सामयिक। ऐतिहासिक उपन्यास न इतिहास है और न काव्य प्रत्युत इन दोनों का विचित्र अतएव मनोरम मिश्रण है यद्यपि इसमें घटनाएँ कल्पना-प्रसूत हो सकती हैं तथापि सम्पूर्ण परिवेश अपरिचित एवं विस्मयनीय होता है। ऐतिहासिक उपन्यास की रचना अपेक्षाकृत कष्टसाध्य है क्योंकि जब तक कलाकार तद्युगीन वातावरण से संश्लिष्ट नहीं होता तब तक उसकी लेखनी न उस युग का अंकन उतना सहज सजीव एवं मनोरम नहीं बन सकता। इतिहासकार जिन तथ्यों का आकलन करता है ऐतिहासिक उपन्यासकार उन्हीं का अंकन करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के मन में अतीत और वर्तमान का संघर्ष चलता रहता है और यह असम्भव नहीं कि वर्तमान के प्रबल आकर्षण से खिंच कर वह ऐतिहासिक वातावरण की उपेक्षा कर बैठे। कलाकार के समक्ष देश काल का जो परिवेश रहता है सामयिक उपन्यासकार उसी का चित्रण करता है अत उसको ऐतिहासिक उपन्यासकार के समान संघर्ष में उलझना नहीं पड़ता। परन्तु उसको परिस्थितियों के अपार सागर में से केवल उपयोगी रत्नों का ही संचय करना होता है। कुछ कलाकार मध्य वर्ग के ऊपर बहुमूल्य या मनोरमता कर बैठे हैं और ऐसा प्राय अनिवार्य व प्रलोभन के कारण होता है। कलाकार पर्यटन की विशेष रुचि लेकर अभीष्ट प्रान्त में विचरण करे तभी उसे आस-पास का सूक्ष्म अध्ययन किंचित होगा और

---

१ We may therefore distinguish two kinds of setting—the social and the material (Hudson P 154)

तदनुसार आचरण करके ही वह अपनी कला से पाठक को मोह सकेगा। प्रेमचन्द के उपन्यास इसी कला से परिपूर्ण हैं उनमें ग्रामीण जीवन का ऐसा मार्मिक रूप है कि अपरिचित पाठक भी स्निग्ध भाव से उस प्रवाह में निमज्जित हो जाता है और सुरम्य वातावरण की सृष्टि में आत्मविभोर हो अपने को भूल जाता है।

वातावरण की सफलता जितनी कला पर निर्भर है उससे अधिक कलाकार के व्यक्तित्व पर। उपन्यासकार देश-काल की जिन परिस्थितियों समस्याओं आन्दोलनों से प्रभावित होता है उन्हीं का चित्रण अपनी रचना में करता है। जिस तन्मयता से वह परिस्थितियों का चित्रण करता है, यदि वही रुचि बनकर पाठक के मन में जम गई तो उसकी कला सफल मानी जायगी अन्यथा नहीं। प्रेमचन्द ग्रामीण किसान जीवन से प्रभावित थे उनकी सूक्ष्म विचारधारा सामान्य से सामान्य समस्या द्वन्द्वसंघर्षमयी परिस्थितियां प्रेमचन्द के मन पर अंकित थीं। उनके उपन्यासों को पढ़कर पाठक भी उनका सहचिन्तक बन जाता है और किसानों के प्रति सहानुभूति ही नहीं श्रद्धा-सी रखने लगता है। यही उपन्यासकार का कौशल है। वातावरण का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द ने जो भविष्य का मापन किया है (जैसे 'प्रेमाश्रम' में जमींदारी का उन्मूलन) वह इसीलिए ऐतिहासिक दृष्टि से भी सत्य घटित हो गया है। जयशंकरप्रसाद की हिन्दू-काल के प्रति ह्रास में विशेष रुचि थी उनका चित्रण भी पाठक पर उतना ही गहरा प्रभाव डालता है। वातावरण का सफल चित्रण उपन्यासकार की प्रतिभा का द्योतक है। वह किस किसको छोड़े अभित व्याप्त जीवन में से किस-किस का चयन करे, यह प्रातिभ ज्ञान का विषय है। चयन के उपरान्त सफल चित्रण तो और भी कठिन कर्म है। अस्तु, देश-काल का अध्ययन उपन्यासकार और उसके उपन्यास दोनों को समझने के लिए अनिवार्य है।

शैली

साहित्य के अन्य रूपों के समान उपन्यास का एक तत्व शैली है। एक दृष्टि से साहित्य के विभिन्न रूप भी भिन्न-भिन्न शैलियां के प्रकार-मात्र ही हैं। एक कलाकार जब नाटक न लिख कर उपन्यास की रचना में प्रवृत्त होता है तब इस बात का अनुभव कर के ही होता है कि उपन्यास में उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकती है। वस्तुतः शैली व्यक्तित्व की ही अभिराम छाया है—व्यक्तित्व की कलात्मक अभिव्यक्ति है। एक आलोचक का मत है कि पाठक शैली में ही रस का अनुभव करता है विचार भी शैली ही है[1]। शैली कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ पाठक को मुग्ध करने का साधन भी है[2] इसीलिए आलोचना करते समय शैली के लिए रोचक आकर्षक आदि विशेषणों का प्रयोग प्राय किया जाता है।

---

१ What does the mind enjoy in books ? Either the style or nothing But, someone says what about the thought ? The thought that is the style too (An Essay on Criticism)

२ All styles are only means of subduing the reader (T E. Hulme)

'शैली का सामान्य अर्थ विचार-क्रम एवं गति है'[1] अर्थात् लेखक जिस गति से विवेच्य वस्तु का परिचय देता है और जिस क्रम से योजना करता है उसे शैली कहते हैं। यह सारी व्यवस्था अथवा प्रवृत्ति की द्योतक है। साहित्यशास्त्र में इसको शाब्दिक अभिव्यक्ति या शैली कहते हैं। इसके अन्तर्गत शब्द-आकार, वाक्य रचना, वर्णन, भाव-योजना, वस्तु-विभाजन, भाषा का परिष्कार इत्यादि सन्निविष्ट हैं। शैली का यह रूप साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध है। उपन्यास के सन्दर्भ में शैली से कथा कहने का प्रकार ही प्रायः समझा जाता है।

उपन्यास की कथा उत्तम, मध्यम और अन्य तीन पुरुषों में कही जा सकती है। इन विभिन्न पुरुषों में कथा कहने का तात्पर्य है एक विशेष दृष्टिकोण की[2] स्थापना जिसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। प्राचीन उपन्यासों में पात्रों को अन्य पुरुष में रख कर लेखक उनके क्रियाकलाप, संयोग तथा परिस्थितियों का चित्रण करता जाता था और कभी तो यह भी कल्पना करता था कि पाठक इस प्रकार साथ रहे होंगे जो कि उपयुक्त है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास इसी शैली पर लिखे गए थे। उपन्यास लेखक, पाठक तथा पात्र तीनों के बीच व्यक्तित्व क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुष में रहा करते थे और लेखक पाठक के सामीप्य का इतना अधिक अनुभव करता था कि बीच-बीच में उनसे वार्तालाप करता जाता था और इस वार्तालाप में सामयिक प्रश्नों की आलोचना भी होती चलती थी।

कथा कहने की दूसरी शैली उत्तम पुरुष की है। कथाकार एक पात्र का स्वरूप धारण करके कथा को अग्रसर करता है। यह शैली आत्मकथात्मक है। चार्ल्स डिरम्स का 'पेट एस्मेरेल्डास' अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' और अश्क का 'गिरती दीवारें' इस शैली के उदाहरण हैं। इस शैली की सबसे मुख्य विशेषता है उत्तम पुरुष में होने के कारण पाठकों के मन को अभिभूत कर लेना और सम्मिलित रूपों के समान अविश्वसनीय घटनाओं में भी पाठक का विश्वास जम जाना। डायरी-शैली के उपन्यास इसी शैली में आते हैं। इन उपन्यासों में सबसे बड़ा दोष यह है कि लेखक और पाठक के मध्य कोई भी अपने विषय में स्पष्ट नहीं है और जो पात्र कथा कह रहा है उसका चित्र मात्र-सा बन जाता है। यदि कथा सामान्य पात्र के मुख से कहलाई जाय तो वह और भी कम ग्राह्य है क्योंकि ऐसा पात्र लेखक का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। अतः मुख्य पात्र के माध्यम से ही ऐसा उपन्यास लिखा जाना चाहिए। अनेक पात्र यदि अपनी-अपनी कथा कहने लगें तो कृति अधिक रोचक हो सकती है और पाठक के समक्ष अनेक दृष्टिकोण आ सकते हैं। किन्तु इसका निर्वाह कठिन है क्योंकि परस्पर दृष्टिकोणों का अनुपात स्थिर करना दुःसाध्य है।

---

१ Style consists in the order and the movement which we introduce in our thoughts. (Buffon)

२ [illegible], पृ० १०१

कथा कहने की तीसरी शैली मध्यम पुरुष की है। समस्त उपन्यास तो मध्यम पुरुष में लिखा भी नहीं जा सकता, अतः इस शैली से अभिप्राय यह है कि उपन्यास में पाठक का भी सक्रिय सहयोग हो। परन्तु जब उपन्यास का कोई पात्र कथा को इस प्रकार बढ़ावे कि दूसरे पात्र (या पात्रा) से प्रत्यक्ष या परोक्ष बात कर रहा हो तो उपन्यास मध्यम पुरुष में लिखा जायगा। पत्र शैली पर लिखी गई कथाएं इसी वर्ग में आती हैं।

शैली का दूसरा तत्व जो काव्य, नाटक, उपन्यास सभी में समान रूप से व्याप्त रहता है, अभिव्यंजना-कौशल है। अभिव्यंजना के समस्त उपादान—शब्द, वाक्य, अप्रस्तुत-विधान, प्रतीक-विधान आदि उपन्यास में भी ग्राह्य होते हैं और उनकी विवेचना उपन्यास के रस और वस्तु के आधार पर की जानी चाहिए। वीररस के उपन्यास की शैली शृङ्गार रस के उपन्यास की शैली से भिन्न होगी ही। भाषा के परुष और मृदु होने के अतिरिक्त प्रतीकों, उपमाओं और अलंकारों के प्रयोग में भी सापेक्षिक भेद होगा। वातावरण और देश-काल का भी शैली-विन्यास पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। नागरिक वातावरण के उपन्यास के पात्रों की अभिव्यक्ति सामान्यतः ग्रामीण वातावरण के अपढ़ किसानों की अभिव्यक्ति की अपेक्षा किसी मात्रा में प्राञ्जल होगी। प्रान्त-विशेष की किसी आंचलिक पृष्ठभूमि पर विकसित उपन्यास की शैली में भी दूसरे उपन्यासों से शैली-वार्षम्य होना स्वाभाविक है। शैली केवल परिधान मात्र नहीं है वरन् अभिव्यंजना को रूप और आकार देने का मनोरम साधन भी है।

उद्देश्य

भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार साहित्य का एकमात्र फल रस या आनन्द है इससे पृथक उद्देश्य की कल्पना गौण रूप से यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान आदि के रूप में की गई है। रस या आनन्द सूक्ष्म उद्देश्य है और यश, अर्थादि स्थूल एवं भौतिक। रस या आनन्द कलाकार तथा श्रोता (या पाठक) के लिए है परन्तु स्थूल उद्देश्य दोनों के के लिये पृथक्-पृथक् है। आज के बुद्धिवादी साहित्यिक के समक्ष भी प्रायः ये ही उद्देश्य हैं, रस या आनन्द को अवश्यम्भावी एवं सर्वगत मान कर वह विचार के लिए आवश्यक नहीं समझता, इसलिए आजकल स्थूल उद्देश्य अर्थात् व्यवहार ज्ञान और उपदेश तक ही उपन्यास का उद्देश्य सीमित समझा जाता है। आलोचक के लिए विचारणीय यह है कि उपन्यासकार अपनी कृति द्वारा पाठक के सामने कौन-सा सन्देश भेजना चाहता है, उपन्यास की मुख्य समस्याएँ कौन कौन सी हैं और लेखक ने उनका विवेचन एवं समाधान किस ढंग से किया है। संक्षेप में उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य रचयिता का कृतिगत जीवन-दर्शन ही है, यही उपन्यास का उद्देश्य माना जाता है।

उपन्यास का प्रथम उद्देश्य जगत् और जीवन का चित्रण है। लेखक अपनी अनुभूतियों को पात्रों के माध्यम से कथा में अंकित करता है। इस कार्य में वह जितना सच्चा होगा उतना ही अपने उद्देश्य में सफल कहलाएगा। प्रत्येक कृति में कोई न कोई दृष्टिकोण अनिवार्यतः स्थित रहता है, यह आवश्यक नहीं कि कलाकार कृति में इसके लिए प्रयत्नशील हो। जीवन-चित्रण-मात्र जीवन-दर्शन है क्योंकि निरीक्षण और चित्रण

दोनों ही वैयक्तिक संस्कारों से संश्लिष्ट रहते हैं अतएव जो कलाकार प्रयत्नतः अपने दृष्टिकोण को प्रक्षिप्त नहीं कर उसके उपन्यासों में भी एक-न-एक विचार दृष्टि रहती है।

आधुनातन उपन्यास में जीवनाभिव्यक्ति के स्थान पर जीवन-दर्शन की स्थापना होने लगी है। कलाकार उपयुक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं और ऐसे पात्रों का सृजन करते हैं जो उस दर्शन के मूर्त रूप मात्र हैं। यह एक दोष है। जीवन-दर्शन इतना प्रत्यक्ष न हो कि वह पग-पग पर अवरोधक बन जाय और कला में विकृति आने लगे[1]। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि महत्त्व की अभिलाषा रखने वाला उपन्यासकार अपने ध्येय में तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने युग की ऊँची-ऊँची विचारधारा का चित्रण न करे। कोई भी उपन्यास उस समय तक महान् नहीं हो सकता जब तक कि उसका उद्देश्य महान् न हो[2]।

आलोचकों का मत है कि नैतिक उद्देश्य का आग्रह सन्निवेश उपन्यास एवं उपन्यासकार दोनों को ही गिरा देता है।[3] परन्तु यह कथन अंशतः ही सत्य है क्योंकि नैतिकता और कला में अन्योन्याश्रयिता भी है।[4] अतः उपन्यासकार नैतिकता के प्रतिकूल न चले। प्राचीन साहित्य में सत् की जय और असत् की पराजय होती थी। आज के युग में जीवन का संघर्ष और मूल्य का महत्त्व कलाकार के पूर्वाग्रह को चुनौती दे रहा है। वह किसी एक निश्चित धारणा पर अडिग नहीं रह सकता। फिर भी कलाकार नैतिक चित्रण द्वारा पाठकों की अन्तश्चेतना में नैतिकता को प्रोत्साहित तो कर ही सकता है। यदि कलाकार प्रचार का विरोधी है तो भी उसका अपना निजी दृष्टिकोण तो होगा ही जिसमें प्रचार की भावना छिपी रहेगी।[5] कलाकार को अपने अनुभव में जितना विश्वास होगा उतनी ही उस की स्थापना दृढ़ होगी। वह पग-पग पर पाठक से

---

१ It should be implicit not palpable any attempt to preach in fiction must inevitably destroy the integrity of a work of art. (Neill p. 230)

२ In the long run the quality of a work of fiction depends on the quality of thought of the times in which it is written. (P H Newby The Novel p. 40)

३ the studied presence of a moral intention spoils the novel as well as the novelist (p. 390-391 History of English Literature Vol. VII)

४ The moral sense and the artistic sense lie very near together... (Neill)

५ It is probably near the truth to say that art cannot exist without propaganda that the lack of formulated belief will lead to sterility or at the best a literature of mindless sensation. (The Novel p. 11)

वह कहता है कि मेरे निष्कर्षों को मत स्वीकार करो अपनी आँखों से देखो और पहचानो[1]। कलाकार दो प्रकार से अपना दृष्टिकोण पाठक से स्वीकृत करा सकता है। एक तो यह कि वह पाठक को जहाँ ले जाना चाहे उसी प्रकार का साम्य जुटावे और दूसरा यह कि अपनी मोहक कला के आलोक में उसकी दृष्टि को सम्मिलित करके उस को मन्त्रमुग्ध कर ले। अस्तु नैतिकता उपदेश या प्रचार या दृष्टिकोण के बिना कला का प्रसार सम्भव नहीं।

जीवन में सत् और असत् दोनों ही पक्ष हैं और कदाचित् असत् सत् से भी अधिक है परन्तु इसीलिए तो उपन्यासकार को असत् से दूर रह कर सत् का प्रतिपादन करना चाहिए—यथार्थ जीवन में दुःख और वेदना का अस्तित्व वैसे ही क्या कम है जो काल्पनिक दुःख चित्रित किया जाए[2] और जीवन को असद्रूप घोषित किया जाए अनेक दृश्य ऐसे हैं जो जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने पर भी उपन्यास में वर्ज्य रहे[3]। जो कुरूपता से बचकर नहीं निकल सकता उसे इन सब विशेषताओं को पचा लेना चाहिए, परन्तु इस कथन में केवल इतना ही सार है कि जीवन का समग्र चित्र ही उपन्यास का विषय है, केवल माया और इन्द्रजाल में उलझा कर पाठक को वह वास्तविक का विस्मरण न कराए[4]।

केवल न्याय की भावना या सत्-असत् का ही प्रश्न नहीं उपन्यास के द्वारा राजनीतिक और सामाजिक मतवादों का भी प्रचार किया जाता है। सिद्धान्तवादियों और व्यंग्यकारों ने उपन्यास को प्रचार का साधन एवं सामाजिक आलोचना के लिए उत्तम माध्यम जानकर इसको अपना लिया है और वे कथावस्तु में यथार्थ चित्रों का संयोजन करके समसामयिक समाज पर कटु प्रहार करने लगे हैं।[5] परन्तु आलोचकों में कला अपने उच्च उद्देश्य से पतित हो जाती है राजनीतिक प्रभाव साहित्य को विकृत कर

---

१ 'Don t take my valuation he seems to say 'See for yourself.' (Ibid)

२ Why write imaginary unhappiness when there is so much real unhappiness in the world (Robert Liddell, p. 60)

३ There are scenes in life that cannot be written even if they can be proved to have happened" —George Moore (Quoted by Liddell)

४ the truely comic novel does not succeed by making us forget the ugliness of reality but by assimilating it (Newby p. 7)

५ Theory-mongers and Satirists siezed upon the novel as a means of propagating ideas, and realising the almost limitless possibilities of using it as a vehicle for social criticism combined story and realistic characterisation with attacks on the foundations of contemporary society (Neill p. 206)

देता है और उसको पतन के गर्त में डुबो देता है'[1]। इसलिए प्रभरत्व के अभिलाषी उपन्यास को प्रचार के सिद्धांत दलदल में नहीं फँसना चाहिए। वह केवल जीवन के अथाह सागर में बार-बार डुबकी लगाकर कुछ अमूल्य रत्न निकाले जो अपनी आभा में मनोमोहक तथा अपने मूल्य में अतुलनीय हों।

नैतिक उपदेश तथा राजनीतिक प्रचार के अतिरिक्त दार्शनिक व्याख्या, मनोवैज्ञानिक सत्य एवं वैज्ञानिक और भौगोलिक अनुसन्धान भी उपन्यास के वर्ण्य हो सकते हैं। ऐसे उपन्यास दुविधा से इतने आक्रान्त हो जाते हैं कि उन का मुख्य तत्त्व कथा-तत्त्व उपेक्षित रह जाता है। फलतः ऐसा उपन्यास पाठ्य-पुस्तक का रूप धारण कर बैठता है।

जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण उपन्यासकार दो प्रकार से अभिव्यक्त कर सकता है—व्यापक जीवन से रुचि के अनुकूल चित्रों का अंकन करके और नैतिक मूल्यों का प्रत्यक्ष प्रतिपादन करके। जीवन अनन्त तथा अपार है और यह दृश्यमान जगत् भी उसी के सदृश अथाह है। सभी लोग उसी में से अपनी रुचि और क्षमता के अनुकूल कुछ चित्र और व्यक्तियों को छाँट लेते हैं। उपन्यासकार भी जीवन के जिस अंग और अंश को लेता है उसका कारण उसकी अपनी प्रकृति या स्वभाव ही है। कथा-वस्तु की व्यवस्था से ही उपन्यासकार की अभिरुचि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। दृष्टिकोण का दूसरा रूप कथावस्तु के संचालन में नैतिक मूल्यों का प्रत्यक्षन है। वह उत्थान-पतन, विकास ह्रास तथा विस्तार-संकोच में जिन विशेषताओं को महत्त्व देता है वे उद्देश्य की प्रतिपादिका हैं।

जीवन का चित्र होने के कारण उपन्यास में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ भी अवश्य म्भावी हैं। उपन्यासकार प्रतिपादन से सावधान रह सकता है परन्तु प्रतिक्रियाओं से उदासीन नहीं, क्योंकि परिस्थिति-विशेष की प्रतिक्रिया को छिपाने का प्रयत्न प्रवाह में बाधा तथा गति में अस्वाभाविकता का सृजन कर सकता है। जीवन-दृष्टि को आग्रह पूर्वक प्रच्छन्न करने की प्रथा स्वयमेव एक प्रचार है। उपन्यास जीवन-दृष्टि से बच नहीं सकता परन्तु साम्प्रदायिक मतवादों की दल-दल में फँसकर वह अपना कलेवर कलुषित न करे, उपन्यासकार की सफलता इसी में है।

फलतः यह कहा जा सकता है कि उपन्यास उद्देश्य-विहीन रचना नहीं हो सकती। किसी उदात्त एवं शाश्वत उद्देश्य की पृष्ठभूमि में ही उपन्यास की कला सार्थक बनती है। सफल लेखक वही है जो उद्देश्य का चयन जगत् और जीवन के शाश्वत मूल्यों के आधार पर करता है। चिरस्थायी मूल्यों का प्रदर्शन और प्रतिपादन उपन्यास में स्वस्थ एवं ग्राह्य जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा करने वाला होता है। अतः संसार की परिस्थिति से परिचित और मानव मन के गुह्य को समझने वाले कलाकार अपने उद्देश्य का

---

1 "Politics is a stone tied to the neck of literature which sinks it in less than six months. (Liddell p. 103)

वह कहता है कि मेरे निष्कर्षों को मत स्वीकार करो, अपनी आँखों से देखो और पहचानो[1]। कलाकार दो प्रकार से अपना दृष्टिकोण पाठक से स्वीकृत करा सकता है। एक तो यह कि वह पाठक को जहाँ ले जाना चाहे उसी प्रकार का साक्ष्य जुटावे और दूसरा यह कि अपनी मोहक कला के आलोक में उसकी बुद्धि को स्तम्भित करके उस को मन्त्रमुग्ध कर ले। अस्तु नैतिकता, उपदेश या प्रचार या दृष्टिकोण के बिना कला का प्रसार सम्भव नहीं।

जीवन में सत् और असत् दोनों ही पक्ष हैं और कदाचित् असत् सत् से भी अधिक है परन्तु इसीलिए तो उपन्यासकार को असत् से दूर रह कर सत् का प्रतिपादन करना चाहिए—यथार्थ जीवन में दुःख और वेदना का अस्तित्व वैसे ही क्या कम है जो काल्पनिक दुःख चित्रित किया जाए[2] और जीवन को असुन्दर घोषित किया जाए। अनेक दृश्य ऐसे हैं जो जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने पर भी उपन्यास में वर्ज्य रहें[3]। जो कुत्सा से बचकर नहीं निकल सकता उसे उन सब विशेषताओं को पचा लेना चाहिए, परन्तु इस कथन में केवल इतना ही सार है कि जीवन का समग्र चित्र ही उपन्यास का विषय है, केवल माया और इन्द्रजाल में उलझा कर पाठक को वह वास्तविक का विस्मरण न करा दे[4]।

केवल न्याय की भावना या सत्-असत् का ही प्रश्न नहीं, उपन्यास के द्वारा राजनीतिक और सामाजिक मतवादों का भी प्रचार किया जाता है। सिद्धान्तवादियों और व्यंग्यकारों ने उपन्यास को प्रचार का साधन एवं सामाजिक आलोचना के लिए उत्तम माध्यम जानकर इसको अपना लिया है और वे कथावस्तु में यथार्थ चित्रण का संयोजन करके समसामयिक समाज पर कटु प्रहार करने लगे हैं।[5] परन्तु आन्दोलनों से कला अपने उच्च उद्देश्य से पतित हो जाती है, राजनीतिक प्रभाव साहित्य को विकृत कर

---

१ 'Don't take my valuation,' he seems to say, 'See for yourself.' (Ibid)

२ Why write imaginary unhappiness when there is so much real unhappiness in the world. (Robert Liddell p. 60)

३ There are scenes in life that cannot be written even if they can be proved to have happened." —George Moore (Quoted by Liddell)

४ ...the truely comic novel does not succeed by making us forget the ugliness of reality but by assimilating it. (Newby p. 7)

५ Theory mongers and Satirists siezed upon the novel as a means *of propagating ideas, and realising the almost limitless possibilities of using it as a vehicle for social criticism* combined story and realistic characterisation with attacks on the foundations of contemporary society. (Neill p. 205)

देता है और उसको पतन के गर्त में डुबो देता है[1]। इसलिए अमरत्व के अभिलाषी उपन्यास को प्रचार के छिछले दलदल में नहीं फंसना चाहिए वह केवल जीवन के अथाह सागर में बार-बार डुबकी लगाकर कुछ अमूल्य रत्न निकाले जो अपनी आभा में मनोमोहक तथा अपने मूल्य में अतुलनीय हों।

नैतिक उपदेश तथा *राजनीतिक प्रचार* के अतिरिक्त दार्शनिक व्याख्या मनोवैज्ञानिक सत्य एवं वैज्ञानिक और भौगोलिक अनुसन्धान भी उपन्यास के वर्ण्य हो सकते हैं। ऐसे उपन्यास बुद्धिवाद से इतने आक्रान्त हो जाते हैं कि उन का मुख्य तत्व कथा-तत्व उपेक्षित रह जाता है। फलत ऐसा उपन्यास पाठ्य-पुस्तक का रूप धारण कर बैठता है।

जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण उपन्यासकार दो प्रकार से अभिव्यक्त कर सकता है—व्यापक जीवन से रुचि के अनुकूल चित्रों का अंकन करके और नैतिक मूल्यों का प्रत्यक्ष प्रतिपादन करके। जीवन अनन्त तथा अपार है और यह दृश्यमान जगत् भी उसी के सदृश अथाह है। सभी लोग उसी में से अपनी रुचि और क्षमता के अनुकूल दृश्य चित्र और व्यक्तियों को छांट लेते हैं। उपन्यासकार भी जीवन के जिस अंश और अंग को लेता है उसका कारण उसकी अपनी प्रकृति या स्वभाव ही है। कथावस्तु की रूपरेखा से ही उपन्यासकार की अभिरुचि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। दृष्टिकोण का दूसरा रूप कथावस्तु के संचालन में नैतिक मूल्यों का प्रदर्शन है वह उत्थान-पतन विकास ह्रास तथा विस्तार-संकोच में जिन विशेषताओं को महत्व देता है वे उद्देश्य की प्रतिपादिका हैं।

जीवन का चित्र होने के कारण उपन्यास में विभिन्न प्रतिक्रियाएं भी अवश्य होती हैं। उपन्यासकार प्रतिपादन से सावधान रह सकता है परन्तु प्रतिक्रियाओं से स्वाधीन नहीं क्योंकि परिस्थिति-विशेष की प्रतिक्रिया को छिपाने का प्रयत्न प्रवाह में बाधा तथा गति में अस्वाभाविकता का वपन कर सकता है। जीवन-दृष्टि को आग्रह पूर्वक प्रच्छन्न करने को प्रथा स्वयमेव एक प्रचार है। उपन्यास जीवन-दृष्टि से बच नहीं सकता परन्तु साम्प्रदायिक मतवादों की दल-दल में फंसकर वह अपना कलेवर कलुषित न करे, उपन्यासकार की सफलता इसी में है।

फलत यह कहा जा सकता है कि उपन्यास उद्देश्य-विहीन रचना नहीं हो सकती। किसी उदात्त एवं महान उद्देश्य की पृष्ठभूमि में ही उपन्यास की कला सार्थक बनती है। सफल लेखक वही है जो उद्देश्य का चयन जगत् और जीवन के शाश्वत मूल्यों के आधार पर करता है। चिरस्थायी मूल्यों का प्रदर्शन और प्रतिपादन उपन्यास में स्वस्थ एवं ग्राह्य जीवन-दर्शन *की प्रतिष्ठा* करने वाला होता है। अतः संसार की गति विधि से अभिज्ञ और मानव मन के गुह्य को समझने वाले कलाकार अपने उद्देश्य को

---

१ "Politics is a stone tied to the neck of literature which sinks it in less than six months. (Liddell p. 108)

ध्येय रखते हुए भी उपन्यास को महत् उद्देश्य की ओर उसी प्रकार ले जाते हैं जैसे महाकाव्यकार युग द्रष्टा कवि ले जाते हैं। उद्देश्य के इस चरमबिन्दु पर महाकाव्य और उपन्यास में बहुत अधिक साम्य लक्षित होने का यही कारण है।

रस

भारतीय काव्य-शास्त्र रस को काव्य का प्रमुख अंग स्वीकार करता है। उपन्यास काव्य नहीं है परन्तु काव्य के सहवर्गी साहित्य का ही एक रूप है। अतः काव्य के समान उपन्यास में भी रस का विशेष महत्व है—उपन्यास की सार्थकता रस की पूर्णता में ही है।[1] पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में रस-शब्दवाच्य किसी काव्यतत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया अतः किसी भी कलाकृति में भारतीय काव्य-शास्त्रियों की भाँति रस का संधान वहाँ नहीं किया जाता। उपन्यास का तो उद्भव एवं विकास पश्चिम में ही हुआ था इसलिए उपन्यास की आलोचना में रस की चर्चा नहीं की गई। भारतीय आलोचक अवश्य ही उपन्यास की आलोचना करते हुए रस को एक अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करने लगे हैं।

यदि रस शब्द का सामान्य अर्थ स्वीकार किया जाए तो साहित्य में ही नहीं जीवन के प्रत्येक अंग में रस ही मुख्य है परन्तु उपन्यास में रस से अभिप्राय उस लोकोत्तर आनन्द का है जो काव्य की आत्मा माना जाता है। उपन्यास में लोकोत्तर आनन्द के स्थान पर विचार-विमर्श ही मुख्य उद्देश्य मान लिया गया है। यदि यही सत्य है तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विचारों के आधार भी तो भाव ही हैं—'हमारे विचार भी हमारे जीवन के प्रति रागात्मक या विरागात्मक दृष्टिकोण से ही फल-फूल होते हैं विचारों के मूल में भी भाव ही रहते हैं अर्थात् वे प्रायः भाव-प्रेरित होते हैं।'[2] अतः यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो प्रत्येक घटना के मूल में मानव-मन का राग-द्वेष ही आधार बना रहता है इसलिए बुद्धिवादी युग के प्रमुख साहित्य-रूप उपन्यास में भी भाव और रस को अनिवार्य उपकरण के रूप में स्वीकार करना चाहिए। प्रवृत्ति में शृंगार, उत्साह में वीर, करुणा में शोक, भय में भयानक और घृणा में वीभत्स रस का सञ्चरण मानना चाहिए। अधुनातन उपन्यासों में करुणा, घृणा और उत्साह आधार-शिला के समान सर्वत्र ही उपलब्ध हैं ऐसी दुनिया में सचार ही क्यों पारिपाक तक सम्भव है। 'गोदान' में समाज शोषकों के प्रति सत्य और अहिंसा के बल पर आत्मन्य युद्ध का उत्साह दिखाई पड़ता है इसलिए उस उपन्यास में वीर रस स्थायी है मुल्कराज आनन्द के 'कुली' उपन्यास में मुन्नू अनिवार ठोकरें खाता है और अन्त में पश्चात्ताप में शरीर छोड़ता है उसका

1 उपन्यास काव्येर मत रस-रचना। तार उपन्यासेर सार्थकता रस पूर्ण परिपूर्ण मूर्ति प्रकाश करिवाई।

—उपन्यासे रवीन्द्रनाथ पृ० २६
श्री नरेशचन्द्र सेनगुप्त (बंगश्री ज्येष्ठ)

2. काव्य के रूप पृ० ११

सारा जीवन करुणा की कहानी है। तितली उपन्यास अद्भुत रस के उदाहरण हैं। अतः संस्कृत के आलंकारिक जिस रस को काव्य की आत्मा कहते हैं जो अंगी है वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है।[1]

यह निश्चय हो जाने पर कि उपन्यास में रस दृष्टि अनुपयुक्त नहीं है यह विचारणीय है कि साहित्य के इस रूप में रस को कितना महत्त्व देना चाहिए। यह पाठक-मात्र का अनुभव है कि उपन्यास का समवेत प्रभाव सहृदय-संवेद्य नहीं होता बुद्धिग्राही होता है—अधुनातन उपन्यासों में यह सत्य विशेष रूप से परिलक्षित होने लगा है, रस-विभोर करने वाले मार्मिक उपन्यास को अद्भुत समझा जाता है। संस्कृत आख्यायिकाओं में रस-विभोर करने की शक्ति की पश्चात् तदनुगामी हिन्दी आख्यायिकाओं में भी वही मन-बल कार्य करता रहा। आज उपन्यासकार स्वकीय दृष्टिकोण के सम्य से ही उपन्यास की रचना करता है दृष्टिकोण ही मुख्य है भाव नहीं। यदि आधुनिक उपन्यास में भावों का यत्र-तत्र संचरण भी मिलता रहे तो भी स्थायी भाव जैसी वस्तु तो होती ही नहीं। अतः रस आधुनिक उपन्यास का अलंकार है प्राण नहीं।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यासों का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है। तत्वों के सापेक्षिक महत्त्व को ध्यान में रख कर उपन्यास 'घटना प्रधान' 'चरित्र प्रधान' तथा 'उद्देश्य प्रधान' हैं। कथावस्तु में तथ्यों की सत्यता को दृष्टि में रख कर उपन्यास 'कल्पना प्रधान' तथा 'वास्तविकता-प्रधान' कहे जा सकते हैं। काल की दृष्टि से वे 'ऐतिहासिक' तथा 'सामाजिक' हैं। कथावस्तु के विशेष गुण को ध्यान में रख कर 'सामाजिक' 'मनोवैज्ञानिक' 'नैतिक' तथा 'तिलस्मी' 'जासूसी' आदि उपन्यासों के भेद हैं। शैली की दृष्टि से उपन्यास 'नाटकीय' और 'विवरणात्मक' हो सकते हैं। अन्तर्जगत के सम्बन्ध से 'भाव प्रधान' और केवल बहिर्जगत के सम्बन्ध से उनको 'देशकाल-सापेक्ष' वर्ग में रखा जाता है। उपन्यास के इतने अधिक प्रकार हैं कि एक सामान्य आधार को लेकर सभी उपन्यासों का वर्गीकरण नहीं हो सकता अनेक ऐसे उपन्यास हैं जिनको किसी एक ही वर्ग में रखना सम्भव नहीं।[2] वस्तुतः जितने प्रसिद्ध उपन्यास हैं उतने ही उपन्यास के प्रकार भी माने जा सकते हैं।

उपन्यास-कला के विकास को दृष्टि में रख कर कुछ आलोचकों ने उपन्यास के

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार पृ ४१

२ There are so many varities of novel that it is hard to find for them all a common critical denominator And there are other kinds of narrative which shade into the novel so artfully that it is difficult to know where to draw the line (The Craft of the Critic p 120)

तीन मुख्य भेद किए हैं—चरित्र-प्रधान नाटकीय तथा घटना-प्रधान।[1] हम इन भेदों पर विचार करते हैं।

घटना प्रधान तथा चरित्र प्रधान

सामान्यतः उपन्यासों के दो भेद किए जा सकते हैं। एक तो वह जिस में कथा-वस्तु का व्यवस्थित विकास हो और पात्र उसी विकास की दृष्टि से गढ़ दिए गये हों। दूसरा वह जिस में पात्रों का सुनिश्चित विकास दिखाया गया हो और घटनायें उसी उद्देश्य की पूर्ति करती हों—प्रथम को घटना-प्रधान और द्वितीय को चरित्र-प्रधान कह सकते हैं। प्रायः चरित्र प्रधान उपन्यास की कथावस्तु शिथिल एवं सरल होती है और घटना प्रधान उपन्यास की सुगठित[2]। ये दोनों भेद सिद्धान्त रूप से जितने स्पष्ट हैं व्यवहार में उतने नहीं क्योंकि सामान्यतः उपन्यासों में ये दोनों ही प्रवृत्तियां मिलती हैं। घटना-प्रधान उपन्यासों में भाग्य या संयोग का बड़ा महत्त्व है और पाठक उस में आँख मूंद कर विश्वास कर लेता है।

चरित्र-प्रधान तथा नाटकीय

चरित्र-प्रधान उपन्यास की एक मुख्य विशेषता है यथार्थ और आदर्श में विरोध —जैसे लोग दिखाई पड़ते हैं और जैसे वे वस्तुतः हैं उनके इन दोनों रूपों का अन्तर[3]। इसके विपरीत नाटकीय उपन्यास भासमान (appearance) तथा वास्तविक (Reality) की एकता दिखलाता है और इस बात पर बल देता है कि पात्र और उनकी क्रियाएं अभिन्न हैं। चरित्र प्रधान उपन्यास का कार्य पहले एक पात्र से प्रारम्भ होता है और फिर धीरे-धीरे विस्तृत होता चला जाता है। इसके विपरीत नाटकीय उपन्यास का कार्य कम से कम दो या अधिक पात्रों से प्रारम्भ होता है और सघन होता रहता है। चरित्र प्रधान उपन्यास में जो पात्र लिए जाते हैं उन पर परिवर्तित दृश्या का प्रभाव विशेष परिवर्तन नहीं लाता परन्तु नाटकीय उपन्यास में विभिन्नता की प्रवृत्ति पाई जाती है क्योंकि नाटकीय उपन्यास भिन्न-भिन्न अनुभवों का चित्र है और चरित्र प्रधान उपन्यास जीवन के भिन्न भिन्न रूपों का[4]।

---

१ prose fiction into three main divisions—the character novel, the dramatic no el and the chronicle (Edw n Muir p 146)

२ It has been a convention that the plot of a novel of character should be loose and easy As in the novel of action the characters are designed to fit the plot (Edwin Mu r p ⁎)

३ The novel of c aracter brings out the contrast between appearance and reality bet een people as th y present themselves to the society and as t ey are (Ibid p. 47)

४ The dramatic no el is an image of modes of experience the character novel is a picture of modes of existence (Ibid p. 50)

नाटकीय उपन्यास में न तो पात्र कथावस्तु के साधन होते हैं और न कथावस्तु पात्रों के चारों ओर बुना हुआ ढाँचा। प्रत्युत दोनों एक दूसरे से अपृथक भाव से मिले होते हैं। इस तरह नाटकीय उपन्यास दुःखात्मकी (Tragedy) के अधिक उपयुक्त है और चरित्र-प्रधान उपन्यास सुखात्मकी के। कथावस्तु और पात्रों का यह विशिष्ट सम्बन्ध नाटकीय उपन्यास को घटनाप्रधान और चरित्र प्रधान उपन्यासों से पृथक करता है। नाटकीय उपन्यास में आकस्मिकता अधिक रहती है इसीलिए उसमें जीवन का एक ही खण्ड दिखाया जा सकता है[1]। नाटकीय उपन्यास का अन्त उस समस्या का सुलझाव होता है जो कार्य में गति लाती है[2] या मृत्यु होती है। प्राय यही दो सम्भव अन्त नाटकीय उपन्यास के हुआ करते हैं।

घटना-प्रधान उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति है पाठक के मन पर ऐसा प्रभाव डालना कि वह अपने कथा के पात्रों से एकीकरण करके उनके साहसिक कार्यों में स्वयं आनन्द लेने लगे। ऐसे उपन्यास प्राय जासूसी हुआ करते हैं, इनका प्राण कुतूहल एवं विचित्रता है। पश्चिम में ऐलन पो ने सर्वप्रथम सन् १८४१ में जासूसी उपन्यास लिखा था।

ऐतिहासिक उपन्यास

उपन्यास में इतिहास के योग से एक विशेष सौन्दर्य की सृष्टि हो जाती है। कथा-वस्तु की परीक्षा के दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यास तीन प्रकार के हो सकते हैं एक युग-प्रतिनिधि दो व्यक्ति-प्रतिनिधि और तीन अतिरंजनकारी। युग प्रतिनिधि उपन्यास इतिहास के विस्मृत युग का चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। उस में लेखक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही मुख्य है क्योंकि अधिकांश सामग्री कल्पित हुआ करती है हिन्दी में राहुल जी के उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। व्यक्ति-प्रतिनिधि ऐतिहासिक उपन्यास विस्मृत ऐतिहासिक व्यक्तियों का कल्पनात्मक वर्णन करता है हिन्दी में 'इरावती' इसी वर्ग का है। अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास अतिरंजनकारी या शुद्ध ऐतिहासिक होते हैं इनमें विस्मृत युग या व्यक्ति आधार नहीं बनाये जाते परन्तु इतिहास में उल्लिखित चित्रों को ही साहित्यिक अतिरंजना से चित्रित किया जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास इसी कोटि के हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में आलोचकों का दूसरा मत भी है वे इन को निरादर की दृष्टि से देखते हैं और उपन्यास के इस वर्ग को असफल इतिहास और असफल उपन्यास दोनों का कृत्रिम मिश्रण कह देते हैं।[3] वस्तुत ऐतिहासिक उपन्यास

---

१ सीताराम चतुर्वेदी—पृ०

२ The end of any dramatic novel will be a solution of the problem which sets the events moving (Edwing Muir p 38)

३ ..the historical novel is bad history and worse fiction that it falls between the two modes, and succeeds in being neither one nor the other (Craft of the Critic p. 121)

की रचना मननसाध्य है विस्तृत अध्ययन के उपरान्त उस युग की चिरकालीन भावना करके ही लेखक उस युग का प्रभावपूर्ण चित्र उपस्थित कर सकता है। यदि लेखक में उतनी सामर्थ्य नहीं है तो वह ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का दुस्साहस क्यों करे— ऐसे असफल लेखक अपने ही युग की बात लिखें तो अच्छा है[1]। परन्तु आलोचकों का यह घोषणा अधिक सारगर्भित नहीं जो समकालीन परिस्थितियों का सफल भावन कर सकता है वह पूर्वकालीन का भी। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट अपनी कल्पना के द्वारा दूसरे स्थानों का इतना यथातथ्य एवं आकर्षक वर्णन करता था कि प्रत्यक्ष द्रष्टा को भी अपने निरीक्षण के कच्चेपन का अनुभव होने लगता था। जो बात विगत इतिहास के विषय में कही गई है वही भावी इतिहास पर भी लागू होती है। 'राहुल' जी का 'बाईसवीं सदी' इसी श्रेणी का उपन्यास है जिसमें व्यक्तिगत भावनाओं के आधार पर भविष्य की मनोरम कल्पना की गई है। भावी इतिहास के उपन्यास निरीक्षण पर निर्भर नहीं प्रत्युत अभिव्यक्ति और वर्णन की अनुभव सचाई पर निर्भर करते हैं।

मनोवैज्ञानिक

बहिर्जगत के उपन्यास घटना-प्रधान चरित्र प्रधान आदि वर्गों में विभक्त किये जा चुके हैं अन्तर्जगत के उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहा जाता है क्योंकि इसमें मन और हृदय के रहस्यों का ही उद्घाटन होता है। इस वर्ग के उपन्यास बाह्य घटनाओं और कथोपकथन आदि को मनोजगत् के प्रत्यक्षीकरण का साधन बनाते हैं। कृतिकार स्त्री और पुरुष के अन्तस्तल में झांक कर अनेक निगूढ़ तथ्यों का विश्लेषण कर सकता है और उत्पत्ति में कारण-स्वरूप बने हुए तथ्यों को चित्रित कर देता है। सामान्यतः मनोवैज्ञानिक कलाकार उपन्यास की अपेक्षा मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व मानकर समस्याओं के मूलभूत मानसिक कारणों का कथन और समस्याओं के फल-स्वरूप होने वाले मानसिक परिवर्तनों के चित्रण में रुचि रखता है।

पश्चिम के प्रभाव से हिन्दी में भी मनोविज्ञान के प्रति एक विशेष आकर्षण बढ़ रहा है और साहित्य के दूसरे रूपों की अपेक्षा कथा-साहित्य में इसका अधिक प्रयास है। या तो असामान्य मन की गति-विधि और उसका व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव उपन्यास का विषय है या विशेष परिस्थितियों की मनोवैज्ञानिक छाया में व्याख्या कलाकार का अभीष्ट है।

यहाँ तक ध्यान रखना आवश्यक-सा है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास अत्यन्त संकीर्ण बन जाता है क्योंकि उसमें मनोजगत् के अगणित रहस्यों का नहीं प्रत्युत कुछ थोड़े सिद्धान्तों का ही सारस्वत वर्णन होता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हीनता-ग्रन्थि को किसी न किसी रूप में आधार माना गया है या सेक्स को। बालमनोविज्ञान समाज मनोविज्ञान शिक्षा-मनोविज्ञान आदि शाखाएँ तो नितान्त ही अछूती रही हुई हैं। 'सेक्स'

१ Why can't these men write about their own time about something they have seen and felt ...(Ibid)

और 'मंहू' इन दो मूल प्रवृत्तियों को मानवीय मस्त करण का संचालक मानकर कथाकारों ने उपन्यासों की रचना की है और समाज के निरीक्षण की अपेक्षा मनवारो, की व्याख्या इन उपन्यासकारों की विशेषता रही है।

वैज्ञानिक उपन्यास

आजकल भावना के स्थान पर बुद्धि और ज्ञान के स्थान पर विज्ञान का प्रचार साहित्य के क्षेत्र में बढ़ रहा है और उपन्यास ने इस परिवर्तन में सबसे अधिक सहयोग दिया है। कल्पना चरित्र इतिहास मनोविज्ञान आदि मानवीय जगत् से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के स्थान पर ज्ञान-विज्ञानात्मक रहस्य उपन्यास का विषय बनने लगे हैं और वैज्ञानिकों की अनुसन्धानपूर्ण कल्पना का साहित्यिक विस्तार करके कलाकार उपन्यासों की रचना करता है। ये उपन्यास जासूसी उपन्यासों के समान घटना-वैचित्र्य से आक्रान्त तो नहीं होते परन्तु वर्णन-वैचित्र्य इनकी मुख्य विशेषता है और इनको विज्ञान का ऐसा सबल अवलम्बन मिल जाता है कि वे किसी भी सीमा तक बढ़ सकते हैं। हिन्दी में 'चन्द्रलोक की यात्रा' 'मंगल ग्रह का मानव' 'वन्य मानव' आदि, उपन्यास इसी वर्ग के हैं। वैज्ञानिक उपन्यास का उद्देश्य विज्ञान के ज्ञान को साहित्यिक माध्यम से पाठक तक पहुँचाना है ज्ञान और साहित्य इन दोनों का संतुलन ही वैज्ञानिक उपन्यास का चरम लक्ष्य है।

कलात्मक उपन्यास

पश्चिम में फ्लाबर्ट तुर्गनेव जेम्स और कानरेड आदि उपन्यासकारों ने जो उपन्यास लिखे हैं उनका विषय निश्चित और सीमित होता है। इन लेखकों के विचार में उपन्यास में कला की ही विशेषता होती है और उसकी कथावस्तु कलात्मक रीति से निर्मित की जाती है एकमात्र प्रभाव को चित्रित करने के लिए ऐसे उपन्यासों की रचना होती है। इन उपन्यासों को आर्ट नावल (Sago) कहते हैं। प्रश्न यह है कि क्या उपन्यासकार व्यापक जीवन में से किस अंश को चुनता है उसके भी केवल एक पक्ष का अंकन करे और जीवन की सम्पन्नता को छिन्न-भिन्न कर दे अथवा अखिल जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत करे? कथावस्तु की व्यवस्था पर ही इस प्रश्न का उत्तर निर्भर है। कलात्मक उपन्यास जीवन से उतनी घनिष्ठता नहीं मानता जितनी कि कला से। इसलिए यह विशेषज्ञों का ही विषय बन गया है।



१ What a psychologist would call a case study is to the novelist a final end in itself. (S. Stephen Smith p 166)

२ सीताराम चतुर्वेदी पृ० १८०

२

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी उपन्यास—उपक्रम

'उपन्यास' या 'नॉविल' के स्वरूप का अध्ययन करने के उपरान्त यह आवश्यक है कि भारतीय कथा-साहित्य से उसकी संगति पर विचार किया जाय। हिन्दी-उपन्यास को भारतीय कथा-परम्परा का विकास-मात्र स्वीकार करना एक भ्रान्त धारणा का समर्थन करना है क्योंकि यह निश्चय ही यूरोप से आगत होकर हिन्दी-क्षेत्र में आया है। फिर भी हिन्दी-उपन्यास के अध्ययन में उस कथा-साहित्य का महत्त्व निर्विवाद है जिससे उन प्रवृत्तियों का रक्षण और पोषण किया जो १९वीं सदी में उपन्यास के लेखक को सुलभ हो सकीं। यदि हिन्दी उपन्यास के सभी तत्कालीन लेखक अंग्रेजी और बंगला के अच्छे विद्वान् होते तो उनके विषय में यह सम्भावना की जा सकती थी कि उन्होंने उन भाषाओं की समृद्धि से प्रभावित होकर हिन्दी में भी उसी प्रकार की रचना एकाएक करनी प्रारम्भ कर दी। परन्तु स्थिति वैसी नहीं है। इसलिए ऐसा लगता है कि लेखकों की प्रेरणा का उत्स जिस मात्रा में नवीनता है उससे अधिक मात्रा में पाठकों की रुचि है। लेखकगण देश की साहित्यिक प्रगति से अपरिचित नहीं थे। परन्तु उस परिचय का प्रभाव कथा-रूप (उपन्यास नाम) पर ही है यथार्थ में तो जनता की कथा-विषयक-वासना इस दिशा इतनी प्रबुद्ध थी कि जो तनिक भी सहयोग दे सकता था वह उपन्यास के क्षेत्र में आ गया और उसका स्वागत किया गया। राजनीतिक प्रगति से उदासीन हिन्दी प्रदेश के कस्बों व नगरों में प्रकाशन केन्द्र खुल गये उपन्यास पत्रिकाएँ निकलने लगीं और बाँकेलाल चतुर्वेदी[1] तथा विट्ठलदास नागर[2] जैसे व्यक्ति उपन्यासकार बन गये। परन्तु आधुनिक युग तक का संक्षिप्त अध्ययन करने के लिए कथा-साहित्य के आधुनिक युग से पूर्व तीन काल हो सकते हैं —

(क) प्राचीन कथा-साहित्य
(ख) मध्ययुगीन कथा-साहित्य
(ग) खड़ी बोली की उपन्यास पूर्व कहानियाँ

---

१ दे सप्तम अध्याय
२. दे वही

प्राचीन कथा-साहित्य

मनुष्य का विकास उसकी सामाजिकता में निहित है। इसलिए वह स्वभाव से ही दूसरे की सुनने और अपनी सुनाने को प्रस्तुत रहता है। यही कथा का बीज है जिसका प्रथम निदर्शन संस्कृत के प्राचीन धार्मिक-साहित्य में उपलब्ध होता है। वेद ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषद् और पुराण सबमें संवाद और आख्यान भरे पड़े हैं। 'रामायण और 'महाभारत' भी कथा-काव्य ही हैं। परन्तु उक्त साहित्य कथा-तत्व के लिए महत्वपूर्ण है कथा-साहित्य नाम के लिए नहीं।

संस्कृत-साहित्य

कथा-साहित्य के संस्कृत में दो रूप हैं—नीतिकथा एवं रंजनकथा। पाठकों को सामान्य नीति का उपदेश देने के लिए बीच-बीच में श्लोकों से युक्त गद्य-कथा नीति कथा थी इसके उदाहरण 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' हैं। इनमें पद्य-भाग प्राय उद्धृत है गद्य भाग रचित मूल-कथा के भीतर अनेक उपकथाएं प्राय किसी पद्य के टांके से जुड़ी हुई हैं पशु-पक्षियों में भी मानव-गुणों और मानव-व्यवहार की कल्पना कर मानव को उनके माध्यम से उपदेश दिया गया है। रंजन-कथाओं के दो रूप हैं—साहित्यिक और लौकिक। साहित्यिक रंजनकथाओं की 'आख्यायिका' और 'कथा' दो संज्ञाएं हैं (जिन पर अन्यत्र विचार किया जाएगा) इनके उदाहरण हैं 'दशकुमारचरित' 'अवन्तिसुन्दरी कथा' 'वासवदत्ता' 'हर्ष चरित' 'कादम्बरी' आदि। ये रचनाएं कला पूर्ण हैं, इनमें कथा-तत्व और सौन्दर्य-तत्व का समान संयोग है। लोक-रंजन-कथाओं में 'बृहत्कथामंजरी' 'कथा-सरित्सागर' 'शुक सप्तति' 'वेतालपंचविंशति' और सिंहासन द्वात्रिंशिका' आदि हैं। इनकी मूल प्रेरणा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' है। इनका उद्देश्य कौतूहल और मनोरंजन है। इनका न साहित्यिक स्तर बहुत अच्छा है न सामाजिक स्तर उच्च न इस लोक के हैं और न विश्वसनीय हैं समस्त कथानक अतिरंजित अयार्थता से भरा हुआ है। इस साहित्य का विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ और विदेश में 'अलिफलैला' जैसी अमरकथाओं को इसने जन्म दिया।

प्राकृत साहित्य

वास्तव में लोक-रंजन-साहित्य का उद्गम संस्कृत में न मिलकर पैशाची भाषा में पाया जाता है। किम्वदन्ती है कि राजा सातवाहन के शासन-काल में गुणाढ्य पंडित ने 'बृहत्कथा' को पैशाची भाषा में सूखे चर्म पर रक्त की स्याही से लिखा था इसके सात भागों में ७ लाख श्लोक थे जब पुस्तक का उचित स्वागत[1] न हुआ तो कवि

---

१ समानस्मपूर्वा वा कृत्वा मौनी हातवमप्।
ख्यातस्य विन्ध्यरितो गुणाढ्यो वाग्मिन् जगत् १८११।

(बृहत्कथामञ्जरी, प्रथम लम्बक, कथापीठ)

कथा वर्गों के अनुरूप है (जिस पर आगे विचार किया जाएगा[1])। केवल 'कहानी' मौलिक है जिसकी परम्परा मध्ययुग में दृष्टिगत होती है परन्तु जिसका सम्बन्ध आधुनिक युग से नहीं जोड़ा जा सकता।

शास्त्रीय अभिमत

प्राचीन आचार्यों के इस कथा-साहित्य पर काव्यशास्त्रियों ने भी विचार किया है और इनको 'कथा', 'आख्यायिका' तथा 'आख्यान' (या आख्यानक) नाम दिये हैं। शैली की दृष्टि से आचार्य भामह के मत में काव्य के ५ भेद हैं—'सर्गबन्ध', अभिनेयार्थ, 'आख्यायिका', 'कथा' एवं 'अनिबद्ध'। 'आख्यायिका' की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) गद्य के उच्छ्वासों[2] में विभक्त
(ख) नायक द्वारा स्वचेष्टित का वर्णन
(ग) वृत्तान्त भावी समृद्धि का सूचक

इसके विपरीत 'कथा' की विशेषताएं हैं—

(क) कवि-कल्पित कथानक[3]
(ख) संस्कृत प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा
(ग) उच्छ्वासों में विभाजन नहीं
(घ) नायक अपना वर्णन स्वयं नहीं करता

'आख्यायिका' का माध्यम गद्य होता है, 'कथा' के लिए यह आवश्यक नहीं[4]। 'आख्यायिका' का विभाजन 'उच्छ्वासों' में होता है, 'कथा' का नहीं। 'आख्यायिका' में नायक स्वयं स्वचेष्टित का वर्णन करता है, 'कथा' का कथानक कवि कल्पित होता है।

---

१ दे० पृ० २१

२ गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ।२५।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ॥२६॥
(काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद)

३ कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता ।२७
[illegible]
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा ॥२८॥
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते । (वही, वही)

४ भामह ने स्पष्ट रूप से 'कथा' के माध्यम का निर्देश नहीं किया, परन्तु 'आख्यायिका' के लिए गद्य का आग्रह करने से 'कथा' का माध्यम पद्य/गद्येतर हो सकता है—यह संकेत है। आगे चल कर विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में 'कथा' के लिए भी गद्य पर भार दिया है—'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्'। विश्वनाथ की दृष्टि में कदाचित् संस्कृत की कथाएं (कादम्बरी, वासवदत्ता) ही थीं। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के अष्टम अध्याय में 'गद्य-युक्ताख्यायिका' और 'गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा' लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि कथा गद्य और पद्य दोनों में हो सकती है—गद्यमयी कथा का उदाहरण कादम्बरी और पद्यमयी का लीलावती है—अतः उनके समय संस्कृतेतर भाषाओं की कथाएं भी थीं।

'आख्यायिका' संस्कृत में लिखी जाती है 'कथा' सभी भाषाओं में। हेमचन्द्र ने इन सभी विशेषताओं का सूत्ररूप[1] में संकलन करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है (जो भामह में संकेतित था) कि 'आख्यायिका' का नायक धीरोदात्त और 'कथा' का धीरप्रशान्त होता है। 'आख्यायिका' का सर्वमान्य उदाहरण 'हर्षचरित' है।

आचार्य दण्डी ने भामह के मत का खण्डन किया और इस मत की स्थापना की कि 'कथा' और 'आख्यायिका' एक ही जाति के दो अलग-अलग नाम हैं —

'एक को स्वयं नायक कहता है दूसरी (कथा) को कहीं नायक और कहीं कोई और। जब नायक भूतार्थ का कथन करेगा तो उसमें अपने गुणों का कथन भी करेगा। कहीं-कहीं आख्यायिका को भी नायकेतर कहते हैं। इससे अन्तर क्या आता है कि वक्ता नायक है या अन्य कोई। इसलिए 'कथा' और 'आख्यायिका' इनकी संज्ञाएं दो हैं जाति एक ही है[2]।

दण्डी का यह खण्डन चल न सका और इनके बाद भी संस्कृत में 'कथा' एवं 'आख्यायिका' नाम दो भिन्न जातियों के बोधक बने रहे। इतना ही नहीं शेष 'आख्यान'[3] जातियां भी कम से कम साहित्य-शास्त्रियों के लिए विवेच्य बनी रहीं। द्वादश शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने 'आख्यान' (प्रबन्ध के मध्य में पर प्रबोधनार्थ रचित) 'निदर्शन' (पशु-पक्षी या इतर की चेष्टाओं से जहां कार्य और अकार्य का निदर्शन हो) 'प्रवाह्लिका' (अर्धप्राकृत में रचित दो के विवाद का वर्णन) 'मतल्लिका' (प्रेत महाराष्ट्रभाषाओं में रचित क्षुद्रकथा) 'मणिकुल्या' (पूर्व-वस्तु का जहां पश्चात् प्रकाशन हो) 'परिकथा' (बहुत से प्रतियोगियों की बारी-बारी से कथा) 'खण्डकथा' (ग्रन्थान्तर प्रसिद्ध इतिवृत्त) 'सकलकथा' (चरित) 'उपकथा' (एक चरित के माध्यम से प्रसिद्ध कथा का कथन)[4] भेदों का कथन किया है। सम्भवत इनमें से अधिकतर भेद संस्कृतेतर भाषाओं में देखे जाते थे। अस्तु, संस्कृत-कोषकार की दृष्टि में 'आख्यायिका' और 'कथा' दो मोटे भेद ही थे इनका स्थूल अन्तर यह है कि आख्यायिका' सत्यार्थविषयिणी[5] कथा को कहते हैं

---

१ नायक-ख्यात-स्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादि सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ता ख्यायिका।
धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।
(काव्यानुशासनम् अष्टम अध्याय)

२. नायकेनैव वाच्या, नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिन: ॥२४॥
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम् ॥२५॥
तत्कथाख्यायिकेत्येका जाति: संज्ञाद्वयाङ्किता ॥२८॥
(काव्यादर्श प्रथम परिच्छेद)

३ [illegible] ।८। (वही, वही)

४ काव्यानुशासनम् अष्टम अध्याय।

५. आख्यायिकोपलब्धार्था। (अमरकोश)

और कल्पित प्रबन्धवाली[1] का नाम 'कथा' है।

संस्कृत में साहित्यिक गद्य के सब से श्रेष्ठ रचयिता बाणभट्ट हैं। उन्होंने 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' दो गद्य काव्य लिखे हैं प्रथम को 'आख्यायिका'[2] और द्वितीय को 'कथा'[3] संज्ञा दी है—जो सभी आचार्यों ने स्वीकार भी की है। 'हर्षचरित' संस्कृत-गद्य में है इसका विभाजन उच्छ्वासों में है नायक ने स्वयं अपने जीवन की उन्ही घटना का वर्णन किया है या भावी समृद्धि का संकेत भी देती है। 'कादम्बरी' भी संस्कृत गद्य में है परन्तु उसका विभाजन उच्छ्वासों में नहीं है कथानक कवि-कल्पित है। 'कादम्बरी' में जहां काव्य-नाटक की चर्चा आती है वहां साथ में 'आख्यायिकाख्यानक'[4] का कथन है 'कथा' का नहीं। 'कथा' का प्रयोग दो बार प्रारम्भिक श्लोकों में अपनी कृति की जाति बताने के लिए है और आगे पुराणेतिहास[5] की घटनाओं के लिए या सामान्य घटनात्मक[6] बातचीत के लिए आया है। इन उल्लेखों से ऐसा संकेत मिलता है कि बाणभट्ट के समय में 'आख्यायिका' नामक साहित्य अधिक साहित्यिक और कलात्मक[7] समझा जाता था उसकी गणना 'काव्य' और 'नाटक' के बाद होती थी परन्तु कथा साहित्य की अपेक्षा लोक और जन से अधिक घनिष्ठ थी घटनाओं के कौतुक[8] और रमणीयता में कला का उत्कर्ष उतना समझ न था।

संस्कृत प्राकृत पाली और अपभ्रंश के कथा-साहित्य पर दृष्टिपात करके हम ने देखा कि किसी भी ग्रन्थ या कृति में नाम के उपन्यास का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। इन स्रोतस्विनी में रचनात्मक साहित्य के लिए तीन नाम अधिक प्रसिद्ध है—'कथा' 'आख्यायिका' और 'कहानी'। 'कथा' नाम इतना शिथिल है कि प्रत्येक कथनात्मक रचना को 'कथा' कहा जा सकता है। "पुराने साहित्य में कथा शब्द का व्यवहार स्पष्ट रूप से दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरा अलंकृत काव्य रूप के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में तो एकतम की कथाएं

---

१ प्रबन्धकल्पना कथा। (वही)
२ करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्।१।९।
३ अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा।२०।
४ काव्य-नाटका-ख्यानका-ख्यायिका-लेख्य-व्याख्यानादि-क्रिया-निपुणैः।
कर्णिकारमञ्जरी-कर्णिक-निकाम-पुराणसमाकर्णनेन।
काव्य-नाटक-कथानिक-नगरक-मानीतामवतिमिनामी।
५ पुराणेतिहासाख्यानाभिज्ञः।
६ मिथश्च सह ताभिः कथा कुर्वन् कुतूहलितमना ...।
७ ... ...
हर्षोत्कर्षित्र जाति शब्द कविनिबद्धे ... (हर्षचरित)
८ करोति कस्य हि कौतुकविचारं ...।
हरि कौतुकमर्पयति।
सुतरां हरि कौतुकम्। (कादम्बरी)

भी कथा है, महाभारत और पुराण के आख्यान भी कथा हैं और सुबाहु (सुबन्धु) की वासवदत्ता, बाण की कादम्बरी, गुणाढ्य की बृहत्कथा आदि भी कथा हैं। परन्तु विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्यकाव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।"[1] उन दो नामों में से 'आख्यायिका' अत्यन्त कष्टसाध्य होने के कारण बहुत आगे तक न चल सका, क्वचित् इस के स्थान पर 'चरित' शब्द का भी प्रयोग हुआ। केवल 'कहानी' शब्द ही मध्ययुग और आधुनिक युग तक चल रहा है यद्यपि उसका रूप बदल गया है। उपन्यास नाम से पूर्व कथा और कहानी नाम चलते थे परन्तु दोनों के अभीप्सितार्थ में अधिक अन्तर न था। 'आख्यायिका' नाम आजकल कई बार छोटी कहानी के लिए आया है परन्तु यह न तो शास्त्र के अनुकूल है और न आख्यायिका की परम्परा में ही ठीक बैठता है।

'कहानी' और 'उपन्यास' आधुनिक युग की उपज हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में ही क्यों विश्व के किसी भी प्राचीन साहित्य में उपन्यास जैसी कोई वस्तु नहीं मिलती।[2] अतः यह कहना उचित नहीं कि इन्हीं के क्रमिक विकास तथा अन्य-देशीय प्रभाव को लेते हुए वर्तमानकाल के उपन्यास-साहित्य ने उत्कर्ष प्राप्त किया है[3] 'यह धारणा गलत है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा और आख्यायिका की सीधी सन्तान हैं'[4]। इतना अवश्य है कि इस नवीन रूप के आ जाने पर जब नामकरण की समस्या आई तो हमारे साहित्यिक सर्वप्रथम संस्कृत के पास पहुँचे और उसके आधार पर 'कथा' 'उपाख्यान' 'उपकथा' 'कादम्बरी' 'आख्यायिका' आदि नामों का व्यवहार करने का प्रयत्न किया गया। अस्तु 'आख्यायिका' और 'कथा' दोनों की कुछ विशेषताएँ 'उपन्यास' में अवश्य मिलती हैं। 'आख्यायिका' के समान 'उपन्यास' गद्य में लिखा जाता है और इसका विभाजन अध्यायों में होता है परन्तु न तो नायक स्वयं वर्णन करता है और न भावी समृद्धि की सूचना ही मिलती है। 'उपन्यास' में 'कथा' के समान कथानक तो कवि-कल्पित होता है, परन्तु 'कथा' के विपरीत पद्य को स्थान नहीं मिलता। आज के उपन्यास की प्रथम विशेषता मध्ययुगीन सामाजिक शृंखला से मुक्ति दिलाकर व्यक्ति स्वातन्त्र्य का उद्बोधन है[5] यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य नव-युग की विशेष देन है। इसका एक प्रभाव चरित्र-चित्रण में व्यक्ति के वैचित्र्य[6] का चित्रण है। दूसरी विशेषता निम्नतम श्रेणी के मनुष्य के मन में भी एक प्रकार की आत्ममर्यादा[7] का भाव जागना है जिस के फलस्वरूप एक ओर तो जीवन में असन्तोष और संघर्ष उत्पन्न हो गया है, दूसरी ओर विद्यमान मूल्यों के प्रति अश्रद्धा की भावना जाग गई है। यथार्थवाद, वास्तववाद,

---

१ डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ॰ २१

२ श्री श्रीकुमार बन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा, पृ॰ १

३ श्री ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ॰ ७१

४ डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी : आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर विचार, पृ॰ १०१

५ श्री श्रीकुमार बन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा, पृ॰ १

६ श्री मोहितलाल मजुमदार : बंगला साहित्ये उपन्यास (साहित्य-विचार, पृ॰ १ ?)

७ श्री श्रीकुमार बन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा, पृ॰ २

आदि के सिद्धान्त इसी लिए उपन्यास के क्षेत्र में आ गये हैं जो प्राचीन लोक-साहित्य की पशु-पक्षीमयी कथाओं में इस रूप में प्राप्य नहीं होते। आज का उपन्यास भावना और कल्पना के क्षेत्र को पीछे छोड़कर चिन्तन के क्षेत्र में आ गया है जहां जीवन का वास्तविक चित्र ही अंकित किया जाता है समस्याओं और चरित्रों का विश्लेषण सत् असत् के रूप में न करके उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपन्यास-कला की विशेषता है। कथा-साहित्य के इस रूप में आज कथा गौण है और व्यक्तित्व का चित्रण मुख्य। संक्षेपतः आधुनिक उपन्यास नये युग के ज्ञान-विज्ञान से सुसज्जित होकर जीवन की गहराइयों में जीवन के लिए ही प्रवेश करता है। प्राचीन साहित्य में कम से कम 'कथा' के लिए इतने बन्धन न थे।

मध्ययुगीन कथा-साहित्य

अपभ्रंश के अस्त होते होते आधुनिक भाषाओं का युग प्रारम्भ हो गया। अपभ्रंश और खड़ी बोली के बीच के युग को साहित्य का मध्ययुग कहा जा सकता है। इस काल में जनता की चित्तवृत्ति वीररस भक्तिरस और शृंगाररस की ओर कालक्रम से झुकी रही। इस काल में अपार साहित्य का सृजन हुआ इसमें से एक बड़ा अनुपात कथनात्मक साहित्य का था। इस साहित्य के सम्बन्ध में पहली समस्या तो यह है कि 'काव्य' और 'कथा' का अन्तर किस प्रकार किया जाए। यदि 'मुक्तक' को अलग कर लें तो बचे हुए 'प्रबन्ध'-ग्रन्थों और 'कथा'-काव्यों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं है 'पद्मावत' को श्रेष्ठ 'काव्य' भी कह सकते हैं और उत्तम 'कथा' भी। दूसरी समस्या काव्य रूप की है 'चरित' 'कथा' 'कहानी' 'उपन्यास' 'मंगल' आदि साहित्य रूपों का इतना शिथिल प्रयोग है कि प्रयोग के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालना कठिन है। अस्तु, मध्ययुग में हमको सामान्यतः निम्नलिखित मुख्य-मुख्य साहित्य-रूप मिलते हैं—

(क) रासा
(ख) बात
(ग) चरित (चरित्रा)
(घ) मंगल
(ङ) उपाख्यान
(च) कथा
(छ) कहानी

इनके अतिरिक्त सूफी कवियों की कहानियों के नाम केवल नायिका के नाम पर हैं काव्य-रूप नाम का अंग नहीं है जैसे 'पद्मावत' इन्द्रावत आदि। उक्त काव्य रूपों में 'रासो' और 'बात' (जैसे नासा-आदम की बात चन्द्रकुंवर की बात आदि) तो राजस्थानी हिन्दी के हैं 'मंगल' का सम्बन्ध किसी देवी के विवाह से है शेष रह गये 'चरित' 'उपाख्यान' 'कथा' और 'कहानी'।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'चरित' 'उपाख्यान' 'कथा' और 'कहानी' ये चारों रूप परम्परा से चले आ रहे थे। इनमें से 'कथा' का शिथिल प्रयोग वाल्मीकि के समय से ही 'धार्मिक कहानियां' या सामान्य घटनाएं अर्थ में होने लगा था मध्ययुग में 'कथा' शब्द का प्रयोग पुराण आदि की कथाओं के लिए प्रायः होता था साथ ही कहीं-

कहीं धार्मिकेतर साहित्य के लिए भी इसका प्रयोग है देखिए 'चतुर्मुकुट या चित्रमुकुट की कथा' 'मृगावती की कथा' 'सत्यवती की कथा' 'छबीली भटियारी की कथा' 'मकरध्वज की कथा' 'सिंहासनबत्तीसी की कथा' आदि। 'चरित' काव्य-रूप संस्कृत की 'आख्यायिका' और अपभ्रंश के 'चरिउ' का ही रूप है यह नायक-नायिका के आश्रय से लिखा प्रबन्ध था मध्ययुग में इसके कथानक के रूप में इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति या कल्पनाप्रसूत महापुरुष का जीवन ही आ सकता था जैसे रामचरित' 'सुदामा चरित' 'ध्रुवचरित' 'पद्मिनी चरित' 'ऊषा चरित' आदि। 'उपाख्यान' धार्मिक कहानियाँ थी जो प्रबन्धकाव्य के रूप में लिखी जाती रही हैं जैसे 'माधवानलोपाख्यानम्' 'नासिकेतोपाख्यान' (सदलमिश्र कृत) 'मदालसोपाख्यान' (भारतेन्दु कृत) आदि। 'कहानी' उस युग का लौकिक कथा-रूप प्रतीत होता है।

तत्कालीन साहित्यिकों के प्रमाण पर भी उस समय 'चरित' 'कहानी' और 'उपाख्यान' ही मुख्य कथा रूप थे। सूफी कवियों ने अपनी कथाओं को 'लोक कहानी' और 'प्रेम कहानी' कहा है —

कोई न रहा जग रही कहानी। (पद्मावत)

बालहि बालक कहै कहानी। (चित्रावली)

प्रेम की कहनि लाइ चित गहेऊ। (पद्मावत)

कहौं कहानी प्रेम की जेहि लिखि जाय बिहाय। (चित्रावली)

जो यह पढ़ै कहानी हरहु संवरै दुइ बोल। (पद्मावत)

किस्सा बोलत लोक-कहानी। (माधवानल कामकन्दला)

हम-जवाहिर प्रेम-कहानी। (यूसुफ जुलेखा)

इनका काव्यरूप तो 'मसनवी' है परन्तु इसकी परम्परा 'प्रेम' तथा 'लोक' से सम्बन्ध रखती है। इसके सम्बन्ध में इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि विदेशी प्रभाव के कारण पूर्वी हिन्दी में जो लौकिक प्रेम-कहानियाँ लिखी गईं उन्होंने जनता के मन पर बहुत काल तक शासन किया और कथा-साहित्य के प्रति रुचि को जागृत बनाये रखा। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक मानते हैं कि 'ध्यान दे कर देखने से आजकल के उपन्यासों की परम्परा इन प्रेमाख्यानक कवियों के पद्यों से ही आरम्भ होती दिखाई देती है। इन्हीं को इनका प्राचीनतम रूप समझना चाहिए। इन कथाओं की रूप-रेखा अधिकतया उपन्यासों जैसी है। यदि आध्यात्मिकता का पुट न होता तो इन्हें हम साफ-साफ 'रोमांस काव्य' कह सकते'[१]। हिन्दी-उपन्यास की परम्परा प्राचीन-कथा-साहित्य या मध्ययुगीन-कथा-साहित्य से उस समय आरम्भ होती मानी जा सकती थी जब उपन्यास उसका सीधा विकास होता या कम से कम उपन्यास का अधिकांश उसी सामग्री से निर्मित हुआ। मध्ययुगीन परम्परा लोकजीवन का प्रतिबिम्ब होने के कारण वास्त

१ डा० हरिकान्त श्रीवास्तव : भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ४३१

२. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास पृ० ६८

चित्र-चित्र के समीप मानी जा सकती है परन्तु इसमें प्रथम तो कामशास्त्र का प्रतिपादन है, दूसरे इस जगत् से बाहर की प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है, तीसरे, योजनापूर्वक रहस्यवादी बनते हैं, चौथे इसमें जिस वर्ग का चित्र है वह उस समय का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता पाँचवें इसमें प्रबन्ध-शैथिल्य है। अधिकतर विद्वान् इस परम्परा को फारसी-साहित्य (अलिफ लैला) की सन्तान[1] मानते हैं, शुद्ध भारतीय नहीं। 'मधुमालती' की कहानी को लेकर मुसलमान मंझन और कायस्थ चतुर्भुजदास ने जो कथानक बनाये हैं उनके अन्तर को भी ब्रजरत्नदास ने दो संस्कारों का प्रभाव माना है 'एक ने अलिफ लैला आदि की परम्परा के अनुसार परियों जिन्नों द्वारा पलंग सहित प्रेमियों को उठा कर प्रेमिका के गृह पहुँचाना और फिर लौटा ले जाना समुद्र में जहाज टूटना टापू पर देव जिन्न से किसी सुन्दरी की रक्षा करना आदि लिया है—दूसरे ने स्वदेश की देवी देवता आदि को ही लेकर घटनाएं सजाई हैं'। यदि उपन्यास की परम्परा मध्ययुगीन प्रेमकहानियों से मानी जा सकती है तो 'अलिफ लैला' के किस्सों से भी मानी जा सकती है और 'बृहत्कथा' से क्यों नहीं मानी जा सकती। निष्कर्ष इतना ही उचित है कि जो उपयोग 'बृहत्कथा' और 'जातक'—कथाओं का था या जो मध्ययुग में 'प्रेमकहानियों' का था वही आरम्भिक दिनों में उपन्यास का था अर्थात् कथा-साहित्य अपने मूल रूप में पाठक की कौतूहल-वृत्ति को तृप्त करना है।

'उपन्यास' और प्रेम कहानी' की तुलना करने पर उनका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाता है। एक का माध्यम गद्य है, दूसरे का पद्य। एक की कथा सामाजिक होती है दूसरे की काव्यात्म-मिश्रित। एक में कथावस्तु का वैज्ञानिक विभाजन होता है दूसरे में विभाजन नहीं होता नये शीर्षक दे कर नया वर्णन प्रारम्भ कर दिया जाता है। एक में जीवन का वास्तविक चित्र होता है दूसरे में प्रतिबिंबित। उपन्यास की कथा में अन्त तक जिज्ञासा का निर्वाह होता है प्रेम कहानी का अन्त पहिले ही निश्चित होता है। उपन्यास की घटनाओं पर परिस्थितियों का शासन रहता है प्रेमकहानी में घटनाएं संयोग के अधीन हैं। उपन्यास का लक्ष्य चरित्र-चित्रण है, प्रेमकहानी में पात्र तो चरित्र या प्रतिनिधि हैं न उनका स्पष्ट रूप है न विकास। उपन्यास में वर्णन को उतना स्थान नहीं मिलता जितना कि प्रेमकहानी में। प्रेम कहानी काव्य-कला से भी रमणीय होनी चाहिए, उपन्यास अलंकार-योजना और छन्द योजना में विश्वास नहीं रखता। देश-काल या वातावरण उपन्यास का महत्वपूर्ण अंग है, परन्तु प्रेमकहानी में सब कुछ मतानुवर्तिक होता है। वस्तुतः मसनवी की समस्त रूपरेखा निश्चित है, नवीन कवि उसमें नख-शिख आदि रूपात्मक परिवर्तन कर सकता है इसके विपरीत उपन्यास वैचित्र्य के बिना बासी पड़ जायेगा। प्रेम-कहानी की शैली परम्परायुक्त है—खुदा का बयान, फिर रसूल का वर्णन फिर शाहेवक्त का जिक्र आदि—परन्तु उपन्यास में इस

१ श्री [illegible] : [illegible] पृ० १६८
[illegible] पृ० ६१, ६४

प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रेम-कहानी की जो-जो विशेषताएं हैं उपन्यास-कथा की दृष्टि से वे दोष हैं। समानता केवल इतनी है कि दोनों में तत्कालीन जीवन का यथार्थ चित्र झलकता रहता है परन्तु उपन्यास में यह अभीप्ट है प्रेम-कहानी में संयोग-जन्य। अतः मध्ययुगीन प्रेम-कहानी आधुनिक उपन्यास की जननी नहीं मानी जा सकती।

गोस्वामी तुलसीदास से मध्ययुगीन कथा-साहित्य के हमको कुछ और संकेत मिलते हैं —

(क) कीन्हे प्राकृत-जन गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥
(ख) रामचरित जे सुनत अघाहीं।
रस-विशेष जाना तिन्ह नाहीं॥
(ग) कलप-कलप हरिचरित सुहाये।
भाँति अनेक मुनीसन गाये॥
(घ) साखी सबदी दोहरा कहि कहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं वेद-पुरान॥

उनके सामने सगुण भक्ति से भिन्न धर्म का प्रचार करने वाले दो सम्प्रदाय थे एक जो 'साखी-सबदी-दोहरा' की रचना करते थे कबीर आदि निर्गुण भक्त दूसरे, जो 'कहिनी-उपखान' लिखते थे जायसी आदि सूफी कवि। निर्गुण भक्तों का सम्बन्ध किसी कथा-रूप से नहीं है। प्रसंगानुकूल 'कहिनी-उपखान' लिखने वाले प्रेम-कहानीकारों पर यहाँ कुछ और विचार करलें। तुलसी के मत में 'कहिनी उपखान' भी चरित-काव्य है। सामान्य कथा-रूप 'चरित' ही था उसके दो भेद थे—'हरिचरित' ('रामचरित') एवं प्राकृत-जन-गुन-गान', पहिले को 'सगुण भक्ति के प्रबन्ध-काव्य' कह सकते हैं, और दूसरे को 'लौकिक प्रेम की कहानियाँ'। यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि प्रेम-कहानियों को 'कथा' 'चरित' तथा 'आख्यान' भी कहा गया है। परम्परा की रक्षा करते हुए या तुलसी आदि के प्रयत्न से 'चरित' का स्तर कुछ ऊंचा ही बना रहा और एक को छोड़ कर शेष प्रेम-कहानियाँ चरित नाम न पा सकीं। 'कहिनी-उपखान' में से 'कहिनी' तो प्रेम-कहानी है, 'उपखान' के विषय में कल्पना से काम लिया जाए तो ऐसा लगता है कि 'कहिनी' काल्पनिक-लौकिक थी 'उपखान' प्रामाणिक-पौराणिक 'पद्मावती' की कथा 'कहिनी' है 'ऊषा'[1] 'दमयन्ती'[2] 'उर्वशी'[3] आदि की 'उपखान'। तुलसी इन दोनों को लोक-साहित्य और लौकिक रस से पूर्ण मान कर हेय बतलाते हैं।

मध्ययुगीन 'चरित'-काव्य और 'उपन्यास' की तुलना पर यदि 'चरित' को

---

१ कथा ऊषा अनिरुद्ध कर गाथा। (नन्ददास)
२ कवि सूरदास लिखित 'नलदमन'।
३ विक्रम ऐसा प्रेम के बारा। (नन्ददास)

तुलसी के व्यापक अर्थ में न लेकर उस युग में प्रसिद्ध संकीर्ण अर्थ में लें तो मुख्य अन्तर यह है कि 'चरित' का माध्यम पद्य है गद्य नहीं 'चरित' में प्रबन्धकाव्य के गुण हैं कथा-साहित्य के नहीं और 'चरित' का उद्देश्य अनुकरणीय चरित्र का चित्रण है सामान्य जीवन का प्रतिफलन नहीं। समकालीन यथार्थ जीवन की दृष्टि से तो 'चरित' की अपेक्षा कहानी 'उपन्यास' के अधिक समीप है। 'रामचरितमानस' तो महाकाव्य या पुराणकाव्य है, 'सुदामा चरित' खण्डकाव्य और 'वीरसिंह देवचरित' 'हरिचरित' आदि भी प्रबन्ध काव्य हैं। इसी प्रकार 'प्रकाश' 'विलास' अन्त वाले काव्य भी प्रबन्ध काव्य हैं। जो अन्तर 'काव्य' और 'उपन्यास' के विषय में सामान्यतः स्वीकृत किया जाता है वह इस प्रसंग में ज्यों का त्यों लागू होता है।

अस्तु, अपभ्रंश के अन्तिम दिनों से खड़ी बोली के प्रथम व्यवहार तक के काल में जिन कथात्मक काव्यों की रचना हुई है उनके भिन्न भिन्न रूप हैं और कतिपय रूप 'उपन्यास' से अत्यल्प साम्य भी रखते हैं फिर भी उनका वैषम्य अधिक है। अतः आधुनिक गद्य के उपन्यास की उनमें से किसी भी रूप के साथ परम्परा नहीं जोड़ी जा सकती।

खड़ी बोली की उपन्यास-पूर्व कहानियाँ

खड़ी बोली गद्य का साहित्य में प्रयोग तो मुगल बादशाह अकबर के शासन काल से ही प्रारम्भ हो गया था परन्तु इसका सिलसिलेवार साहित्य सन् १८०० के आसपास से मिलता है, जब फोर्ट विलियम कालेज (सन् १८०० से १८५४ ई० तक) में हिन्दी और उर्दू की व्यवस्था हो गई। लगभग साठ वर्षों तक भाषा-विषयक संघर्ष चलता रहा। अन्त में हिन्दी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०[1]। खड़ी बोली के इस ७० वर्ष के इतिहास में कथा-साहित्य का महत्त्व[2] कम नहीं रहा परन्तु ये कथाएँ या कहानियाँ 'हिन्दुस्तानी' में लिखी गई हैं इनमें से अधिकतर का उद्देश्य अंग्रेजों को देसी भाषा का परिचय कराना था इनमें भाषा के अतिरिक्त कोई नूतनता नहीं मिलती। इंशाअल्लाखाँ कृत 'उदैभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (सन् १८०० के लगभग) लल्लूलालकृत 'सिंहासनबत्तीसी' (१८०१) 'बैतालपचीसी' 'माधोनल' सदलमिश्रकृत 'चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) के अतिरिक्त लालाहजारी (१८२८) 'किस्सा साढ़े तीन यार' 'चार दरवेश' 'हातिमताई' 'गुलबकावली'[3] आदि

---

१. रामचन्द्र शुक्ल द्वारा भारतेन्दु-कृत 'कालचक्र' से उद्धृत।
(हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ. ४५८)

२. डा. विलियम प्राइस के विषय में डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह मत उल्लेखनीय है —"गुजराती के साथ साथ उन्होंने (गिलक्राइस्ट) ने (कालिज में) एक विभाग भी खोला। जिसमें प्रत्येक विद्यार्थी के घर जाकर हिन्दुस्तानी में किस्से सुनाया करता था। इसमें (अंग्रेज) विद्यार्थियों का भाषा-सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता था।" फोर्ट विलियम कालेज पृ. [illegible]

३. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यास पृ. [illegible]

उस युग की रचनाएं हैं। इन रचनाओं के सम्बन्ध में पहिली बात तो यह है कि ये जिस खड़ी बोली में हैं उसको 'साहित्यिक' तो कह ही नहीं सकते हिन्दी कहना भी निर्वि वाद नहीं है—शुक्ल जी ने लल्लूलाल तक की इन कहानियों की भाषा को 'बिल्कुल उर्दू माना'[1] है यद्यपि ब्रजरत्नदास इनसे सहमत नहीं[2]। दूसरी बात यह है कि इनका सामान्य नाम 'कहानी' या 'किस्सा' था। तीसरी बात यह है कि न तो ये मौलिक हैं और न प्रथम बार रचित लल्लूलाल ने ब्रजभाषा से अनुवाद किया है सदलमिश्र ने संस्कृत की कथा ली है, 'किस्से' उर्दू से आये हैं। इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' को मौलिक माना जाता है परन्तु वह मध्ययुगीन प्रेमकहानी मसनवी परम्परा में है जिसमें नाम-धाम के अतिरिक्त कोई नवीनता नहीं होती। अस्तु, भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में जो कथाएं लिखी गईं उनसे नवीन युग की सूचना नहीं मिलती उनका स्तर सन्तोष जनक नहीं भाषा मिश्रित है प्रथम हिन्दी-साहित्य के अनभिज्ञ लोगों का मनोरंजन और भाषा-ज्ञान है महत्व सामयिक है। 'रानी केतकी की कहानी' के समकक्ष ही राजा शिवप्रसादकृत 'राजा भोज का सपना' को समझना चाहिए छाँट करनी हो तो इन्हीं दो कहानियों में साहित्यिकता मिल सकेगी परन्तु ये भी भविष्य की ओर न झुकती हुई निकट भूत का ही संकेत देती हैं।

भारतेन्दु के उदय से हिन्दी-साहित्य ने एक निश्चित मार्ग और स्तर ग्रहण कर लिया। भारतेन्दु का जन्म काशी में हुआ था परन्तु उनके पूर्वज सेठ अमीचन्द बंगाल के नवाब के उच्च पदाधिकारी थे। उस संस्कार से या जगन्नाथ जी की यात्रा के फल-स्वरूप १५ वर्ष की आयु से भारतेन्दु का बंगीय साहित्य विशेषतः नाटक और उपन्यास से घनिष्ठ परिचय हो गया सन् १८६८ में उन्होंने बंगला के नाटक 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद किया और 'कवि-वचन-सुधा' नामक पत्रिका निकाली। वस्तुतः भारतेन्दु को संस्कारों से साहित्यिक रुचि और नेतृत्व की प्रतिभा प्राप्त हुई थी उन्होंने देश और काल की परिस्थिति को अल्पायु में ही समझ लिया और भाषा-द्वारा राष्ट्र एवं समाज की सेवा का व्रत ले लिया। इन की विशेष छाप खड़ी बोली गद्य पर है गद्य के भिन्न-भिन्न अंगों में से नाटक और निबन्ध के लिए उन्होंने अभिनय का वातावरण जुगाया और पत्रिकाएं निकालीं। आलोचना और कथा के क्षेत्र में भी उनका प्रयास स्तुत्य है। भारतेन्दु ने बंगला और मराठी से उपन्यासों के अनुवाद कराये। संस्कृत से 'कादम्बरी' बंगला से 'दुर्गेशनन्दिनी' और मराठी से 'चन्द्रप्रभा-पूर्णप्रकाश' हिन्दी में उपन्यास के प्रथम अनुवाद हैं। 'चन्द्रप्रभा-पूर्ण-प्रकाश' का अनुवाद श्रीमती मल्लिका देवी 'चन्द्रिका' ने किया था और भारतेन्दु ने स्वयं उसे शुद्ध किया था। इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समान किस्से कहानी का अनुवाद न करा के भारतेन्दु जी ने सामाजिक और साहि-त्यिक उपन्यासों को हिन्दी में लाने का सफल प्रयत्न किया।

भारतेन्दु जी ने अनुवाद ही नहीं कराये स्वयं भी कथा-साहित्य की रचना की।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४२१

२ हिन्दी-उपन्यास-साहित्य पृ० १११

उनका 'मदालसोपाख्यान' सन् १८७१ ई० के आसपास लिखा गया था यह पौराणिक परम्परा पर है परन्तु इसमें किस्से-कहानी के संक्षेपण की जगह भावी सामाजिक उपन्यास के लिए उच्च स्तर तैयार हो गया है। कथा-साहित्य की उनकी अमर रचना तो एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' है जिसका 'कवि-वचनसुधा' में वे केवल एक 'खेल' लिख पाये थे यदि यह रचना पूर्ण हो गई होती तो आत्मकथात्मक उपन्यास के क्षेत्र में अपूर्व एवं अनुकरणीय बन जाती। यह आत्मकथा शैली पर लिखित उपन्यास है। इस कहानी के 'प्रथम खेल' में एक पद्य और ४ गद्य के परिच्छेद हैं। इसको आत्म कथा नहीं कह सकते भले ही इसके कुछ संकेत (जन्म-तिथि आदि) लेखक के जीवन पर उतरते हों। उपन्यास-कला की दृष्टि से इस कहानी की कई विशेषताएं हैं। प्रथम तो यह कथनात्मक शैली में न होकर आत्मकथात्मक[1] शैली पर है आगे चल कर किशोरीलाल गोस्वामी ने इसी शैली पर कतिपय उपन्यास (उदाहरणार्थ 'खूनी औरत का सात खून') लिखे हैं। दूसरे इसमें चरित्र-चित्रण का हिन्दी में प्रथम प्रयास है और बड़ा ही सफल। तीसरे इसमें सामयिक जीवन का सबसे महत्वपूर्ण चित्र (रईस युवक का खुशामदी वातावरण) प्रस्तुत किया गया है श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' भी इसी आधार-भित्ति पर निर्मित हुआ है। चौथे इसमें पात्रानुकूल भाषा है जो प्रेमचन्द की कला का एक विशेष गुण है। पांचवें इसमें अलौकिक-अतिरंजित को कोई स्थान नहीं मिलता मानवीय-स्वाभाविक ही वर्ण्य है। छठे इसमें मध्ययुगीन कौतुक को प्राप्त नहीं किया गया जिज्ञासा जगाई गई है। सातवें उस युग की प्रथा के समान इसके 'खेल' का प्रारम्भ शुभ-छन्द से होता है। इन गुणों के कारण हम इस 'कहानी' में आधुनिक उपन्यास की सभी विशेषताएं पाते हैं। यदि जीवन के प्रति उत्साह जगा कर पाठक को वास्तविक जीवन के निकटतर लाना आज के उपन्यास का लक्ष्य है तो वह भारतेन्दु की इस 'कहानी' में पूरी तरह दिखाई पड़ता है। इस समय तक समाज-चित्रों की परम्परा बंगभाषा में प्रारम्भ हो गई थी टेकचन्द ठाकुर के 'आलालेर घरेर दुलाल' का दूसरा संस्करण (सन् १८७०) निकल चुका था टेकचन्द ठाकुर जूनियर का 'कलिकातार नुकोचुरि' (सन् १८६८) प्रकाशित हो गया था। लगभग इन्हीं दिनों 'आलालेर घरेर दुलाल' का अंग्रेजी अनुवाद (सन् १८८२-८३) गौरीनाथ मित्र ने किया और श्रीनिवास दास ने 'परीक्षा-गुरु' (सन् १८८२) नामक मौलिक उपन्यास

---

१ बंगभाषा में आत्मकथात्मक शैली पर लिखा हुआ प्रथम उपन्यास मधुसूदन चक्रवर्ती का 'मधुयामिनी विलास' (सन् १८८१) है जिसमें आधुनिक उपन्यास की दृष्टि से दो मुख्य कमियां हैं—एक तो नायक और प्रेम की कथा। एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' इन बातों से युक्त है इसे मध्ययुगीन कथा के साथ नहीं जोड़ सकते, इसमें कथावस्तु कथानक-परम्परा के बीच है। (बंगला उपन्यास के लिए देखिए डा० सुकुमार सेन कृत 'बंगला साहित्येर इतिहास' द्वितीय खण्ड पृ० १९)।

लिखा। सामाजिक जीवन को चित्रित करने की परम्परा तत्कालीन नाटकों में भी दिखाई देती है।

बंगभाषा के प्रारम्भिक उपन्यास

हिन्दी के समान बंगला में भी आधुनिक कथा-साहित्य का प्रारम्भ मनोरंजनार्थ अनूदित कहानियों से ही होता है। अध्यापक श्री त्रिपुराशंकर सेन के अनुसार सन् १८०१ से १८ ५ तक जो ७ पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनमें ३ कथा-सम्बन्धी हैं—मृत्युञ्जय विद्यालंकार की 'बत्तीस सिंहासन' (सन् १८०२) गोलोकनाथ शर्मा की 'हितोपदेश' (सन् १८०२) और चण्डीचरण मुंशी की 'तोता इतिहास' (सन् १८ ५)[1]। जिस प्रकार के 'किस्सागो' का उल्लेख[2] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया है उस प्रकार के 'कथक'[3] पूर्वी भारत में समाज के विशेष अंग थे—उस्मान ने कथा-प्रिय चार जातियों[4] में 'कथक' का भी नाम गिनाया है। इसी कथा-रुचि ने आधुनिक साहित्य का प्रारम्भ 'कथा' से किया। अस्तु पाश्चात्य संस्कृति का बंगाली समाज पर प्रभाव बहुत दिनों तक कथा का विषय बना इस वर्ग की श्रेष्ठ मौलिक रचना प्रमथनाथ शर्मा (भवानी चरण बन्द्योपाध्याय) का 'नवबाबुविलास' (सन् १८२५)[5] है। भवानी चरण (१७८७-१८४८ ई०) बड़े प्रतिभाशाली और प्रभावशाली व्यक्ति थे वे 'समाचार चन्द्रिका' और 'संवाद कौमुदी' के सम्पादक तथा धर्म-सभा के मंत्री थे। भवानी चरण ने 'नवबाबु विलास' में १९वीं शती के प्रथम चरण के बाबुओं का बड़ा व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है। इस रचना को बड़ी लोकप्रियता मिली और इसका अनुकरण भी किया गया। वास्तविक जीवन के चित्रण का बंगभाषा में यह प्रथम प्रयत्न है, कुमार्गों से धनसंचय करने वाले धनपतियों के पुत्रों का इसमें विलासी जीवन अंकित किया गया है। इसी परम्परा का विकास 'आलालेर घरेर दुलाल' में हुआ है।

'समाचार-दर्पण' (फरवरी १८२१) में प्रकाशित 'बाबूर उपाख्यान' नामक हास्य रस-पूर्ण सामाजिक चित्र 'नवबाबुविलास' का पूर्वगामी है और कुछ लोग इसे भी भवानीचरण की ही रचना मानते हैं।[6] इन दोनों रचनाओं की कला का विकास 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५७) में हुआ इसके लेखक टेकचन्द ठाकुर (प्यारीचांद

---

१ बनिता रायरेर बांग्ला साहित्य पृ० १०

२ फोर्ट विलियम कालेज पृ० ५

३ डा० जयन्त कुमार दास गुप्त ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि लाइफ एण्ड नावेल्स ऑफ बंकिमचन्द्र पृ० १

४ मागध भाटि कथक सुनावा। गुनिगन कहँ गीत पुनि गावा।
कथक देखावहिं कथा अकासी। घर घर नाचक करहिं बिलासी॥
(चित्रावली उस्मान कृत)

५ इस ग्रन्थ में प्रकाशन तिथि श्री त्रिपुराशंकर सेन के अनुसार दी गई है।

६ आलालेर घरेर दुलाल भूमिका पृ० ५

मिश्र) थे। 'आलालेर घरेर दुलाल' ही बंगभाषा का प्रथम उपन्यास माना जाता है। लेखक ने अंग्रेजी भूमिका में अपनी रचना को 'प्रथम मौलिक उपन्यास' कहा है। इस का कथाविषय दुलार के दुर्गुण शिक्षा के दोष हिन्दू-समाज की दशा और धनपतियों का खुशामदी वातावरण[1] है। नववाबुविलास में कई स्थानों पर अश्लीलता आ गई है और वातावरण साहित्यिक नहीं रहा। इसके विपरीत 'आलालेर घरेर दुलाल' में सर्वत्र शिष्टता का ध्यान रखा गया है। पुस्तक में [illegible] अध्याय हैं जिनमें नायक मतिलाल की शिक्षा से वाराणसी-गमन तक की कथा दी गई है। बाबूराम बाबू के एक पुत्र और दो कन्याएं थीं। पुत्र मतिलाल बहुत लाड़ला था। उसे बंगला संस्कृत फारसी और अंग्रेजी की शिक्षा दी गई परन्तु वह धन प्यार और कुसंग से बिगड़ता ही चला गया। इस उपन्यास में कलकत्ता के समाज का वर्णन है सभी चरित्र एवं समस्त वातावरण यथार्थ जीवन का है। लेखक का उद्देश्य कुप्रथाओं को दूर करके समाज को सुधारना है।

'नववाबुविलास' और 'आलालेर घरेर दुलाल' के बीच में उल्लेखनीय पुस्तकें 'दूतीविलास' (१८२५ ई०) 'आरब्य उपन्यास' (१८५० ई०) 'नवबीबीविलास' (सन् १८५३) और मनोहर उपाख्यान (१८५५ ई०) आदि हैं। 'आलालेर घरेर दुलाल' (१८५८ ई०) और 'दुर्गेशनन्दिनी' (सन् १८६५) के बीच में लिखित इसी प्रकार की कोई दर्जन कथा-कृतियाँ[2] प्राप्त हैं इनमें से अधिकतर तो मध्ययुगीन पर्याची या संस्कृत उर्दू आदि से अनूदित हैं। क्षेत्र में ध्यान देने योग्य भूदेव मुखोपाध्याय की 'ऐतिहासिक उपन्यास' (प्रथम जिल्द १८५७ दूसरी जिल्द १८६२ ई०) और रामकान्ति रामचरण भट्टाचार्य की 'अद्भुत उपन्यास' (सन् १८६१) हैं। भूदेव मुखोपाध्याय की रचनाओं से बंगला में ऐतिहासिक उपन्यास का शुभपात हुआ और रामकान्ति रामचरण भट्टाचार्य की कृति से घटनात्मक उपन्यास का। ये दोनों लेखक अपने-अपने क्षेत्र में प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। डा० सुकुमार सेन के अनुसार 'अद्भुत उपन्यास' से ही 'रोमान्टिक आख्यायिका'[3] का प्रारम्भ होता है। अस्तु, मध्ययुगीन प्रवृत्ति का प्रचलन रहने पर भी बंकिमचन्द्र के समय तक बंगला में साहित्यिक उपन्यास की तीन मुख्य धाराएं विकसित होने लग गई थीं—'सामाजिक' 'ऐतिहासिक' एवं 'अद्भुत'। हिन्दी में भी इसी प्रकार की धाराएं दृष्टिगत होती हैं किशोरीलाल गोस्वामी ने इनको क्रमश 'सामाजिक' 'ऐतिहासिक' तथा 'घटनात्मक' नाम दिये हैं[4]।

बंगला के प्रथम साहित्यिक उपन्यासकार, जिन्होंने उपन्यास-क्षेत्र को एक-एक करके १४ रत्नों से विभूषित किया बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (सन् १८३८ से १८९४ ई०) थे। प्रारम्भ में वे अंग्रेजी में कहानियाँ लिखा करते थे 'दी ऐडवेंचरस आफ ए

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए दे० पृ० ११३

२ डा० सुकुमार सेन : ए हिस्ट्री ऑफ बंगाली लिटरेचर [illegible] पृ० २०–२१

३ बांग्ला साहित्येर इतिहास द्वितीय खण्ड पृ० १६६

४ [illegible]

यंग हिन्दु' उनकी पहिली और राजमोहन्स् वाइफ उनकी अंतिम रचना है। इसके बाद उन्होंने बंगला में लिखना प्रारम्भ किया और अंग्रेजी के द्वितीय-तृतीय श्रेणी के बंगाली लेखक होने के स्थान पर वे बंगला के सबसे बड़े उपन्यासकार बन गये।[1] सन् १८६५ से १८८७ तक बंकिम के १४ उपन्यास प्रकाशित हुए, इनमें से अंतिम दो को छोड़कर शेष श्रीनिवासदास के समय तक प्रकाशित हो गये थे। प्रकाशन-काल के अनुसार इन उपन्यासों का क्रम इस प्रकार है —

दुर्गेशनन्दिनी	(१८६५ ई)	चन्द्रशेखर	(१८७५ ई)
कपाल कुण्डला	(१८६६ ई)	रजनी	(१८७७ ई०)
मृणालिनी	(१८६९ ई०)	कृष्णकान्तेर विल	(१८७८ ई)
विषवृक्ष	(१८७३ ई०)	राजसिंह	(१८८२ ई०)
इन्दिरा	(१८७३ ई०)	आनन्द मठ	(१८८२ ई)
युगलांगुरीय	(१८७४ ई०)	देवी चौधुरानी	(१८८४ ई)
राधारानी	(१८७५ ई)	सीताराम	(१८८७ ई०)

अंग्रेजी में 'कपालकुण्डला' का अनुवाद सन् १८७६-७७ में 'दुर्गेशनन्दिनी' का १८८० में और विषवृक्ष का १८८४ में हुआ। हिन्दी में १८७१ में 'दुर्गेशनन्दिनी' का और १८८० में 'मृणालिनी' एवं 'युगलांगुरीय' का अनुवाद हुआ[2]। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के लेखन से पूर्व बंकिम की कुछ रचनाएं अवश्य बंगाल से बाहर भी लोकप्रिय हो गई थी। 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद स्वयं भारतेन्दु के अनुरोध तथा उत्साह[3] से ठा० गदाधर सिंह ने और 'राधारानी' का श्रीमती मल्लिका देवी ने सन् १८८३ ई) किया था 'राजसिंह' का अनुवाद पूरा हो गया था प्रथम परिच्छेद स्वयं भारतेन्दु लिखा पाये कुछ शुरू किया था——परन्तु प्रथम परिच्छेद ही लिखकर चल बसे[4]। अस्तु, भारतेन्दु के अन्तिम दिनों में बंगला उपन्यासों के अनुवाद का कार्य प्रारम्भ हो गया था और अंग्रेजी तथा बंगला के अनुकरण पर नवीन ढंग के उपन्यासों की ओर हिन्दी-जगत् की रुचि होने लगी थी।

बंकिम के समकालीन एवं परवर्ती साहित्यिकों में उपन्यास-लेखन का विशेष उत्साह था अधिकतर उपन्यासों के हिन्दी में अनुवाद भी हो जाया करते थे। बंकिम चन्द्र के समकालीन तारकनाथ गंगोपाध्याय (१८४३-९१) ने 'स्वर्णलता' (१८७३) नामक उपन्यास लिखा जिसका अनुवाद भारतेन्दु जी ने[5] राधाकृष्णदास से कराया। इस उपन्यास में समाज का चित्र बंकिम के चित्रों की अपेक्षा अधिक अनुभूत एवं सजीव

---

१ डा० जयन्तकुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि लाइफ एण्ड नावेल्स आफ बंकिमचन्द्र, पृ० ३१

२. वही, पृ० १००

३ ब्रजरत्नदास द्वारा स्व० राधाकृष्णदास से उद्धृत (हिन्दी उपन्यास-साहित्य, पृ १२८)

४ ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य पृ १११

५ ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ १११

है। संजीवचन्द्र चट्टोपाध्याय का 'माधवीलता' पूर्णचन्द्र चट्टोपाध्याय का 'यौवन सहचरी' रमेशचन्द्र दत्त का 'माधवी कंकण' स्वर्णकुमारी का 'दीपनिर्वाण' आदि उपन्यास हिन्दी में अनूदित होकर बड़े लोकप्रिय हो गये थे। भारतेन्दु ने उपन्यास-क्षेत्र में अनुवाद और मौलिक रचनाओं का जो सूत्रपात किया वह उत्तरोत्तर विकसित होता रहा फलस्वरूप हिन्दी में कई अच्छे उपन्यासों की रचना हुई।

अस्तु यह विचारणीय है कि हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास कौनसा है? इस प्रश्न का उत्तर आगे के पृष्ठों में दिया जाएगा।

हिन्दी का प्रथम उपन्यास

पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी का परिचय देते हुए पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी सम्वत् १९३४ में उन्होंने लिखा जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।"[1] पण्डित श्रद्धाराम भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध व्यक्ति थे। वे अच्छे व्याख्यानदाता और प्रतिष्ठित समाज-सुधारक थे। पंजाब में हिन्दी-भाषा और हिन्दू धर्म के लिए उनकी सेवाएं स्मरणीय हैं। परन्तु उनका उपन्यास प्राप्य नहीं था। अतः शुक्ल जी ने आगे चल कर यह स्वीकार किया है कि 'अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' ही निकला था।"[2] 'अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी' लिखकर लेखक ने स्वयं भी 'परीक्षागुरु' की प्रथमता और मौलिकता का दावा किया है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जब गद्य-साहित्य के 'द्वितीय उत्थान' का परिचय देने लगे तो *इस युग के श्रेष्ठ उपन्यासकारों* को प्रथम-प्रथम उपन्यास के उपक्रम का श्रेय उन्होंने दे दिया —

(1) पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं इससे ये साहित्य-कोटि में नहीं आते। (हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ ५१८-५१९)

(II) उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी हैं जिनकी रचनाएं *साहित्य-कोटि में आती हैं। साहित्य की* दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए। और लोग भी मौलिक उपन्यास लिखते पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे, पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिए चुन लिया और उसी में रम गए। (हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ ५१९, ५२०)

शुक्ल जी के इन कथनों को संगतिपूर्वक ग्रहण किया जाए तो निम्नलिखित

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ ४८१

२ वही, पृ ४८१

निष्कर्ष निकल सकते हैं —

(१) हिन्दी-उपन्यास के उदय में चार व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—श्रद्धाराम फुल्लौरी श्रीनिवासदास देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी।

(२) श्रद्धाराम जी ने समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर 'भाग्यवती' नाम का उपन्यास लिखा जिसमें उनका विशेष दृष्टिकोण तो अवश्य है परन्तु कथा आदर्श की लेखनी से अंकित है इसलिए उसे सामयिक जीवन का 'वास्तविक' चित्र नहीं कह सकते अतएव 'भाग्यवती' 'अंग्रेजी ढंग का' (आधुनिक जिसमें लेखक विशेष दृष्टिकोण से सामयिक जीवन का वास्तविक चित्र अंकित करता है) उपन्यास नहीं है।

(३) आधुनिक कला की दृष्टि से 'परीक्षा-गुरु' प्रथम उपन्यास है, परन्तु न तो इसे वह लोकप्रियता प्राप्त हुई जो उपन्यास का जन्मसिद्ध अधिकार है और न इसके लेखक उपन्यासकार-मात्र के रूप में साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं।

(४) देवकीनन्दन खत्री को उपन्यास-क्षेत्र में सबसे पहिले ख्याति प्राप्त हुई, और वे उपन्यासकार-मात्र ही हैं, परन्तु उनके उपन्यासों का स्तर साहित्यिक स्तर से कुछ नीचा है।

(५) किशोरीलाल गोस्वामी तक आते-आते उपर्युक्त कमियाँ दूर हो गई थीं, वे प्रथम नहीं हैं परन्तु उन पर आकर उपन्यास का पूर्ण विकास हो पाया है।

शुक्ल जी के इन कथनों को बाद के विद्वानों ने यत्किञ्चित् हेर-फेर के साथ अपनाया। डा० श्रीकृष्णलाल के मत में 'हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता' है जो १८९१ में प्रकाशित हुआ'[1]। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के अनुसार 'रानी केतकी की कहानी को हम प्रथम उपन्यास कह सकते हैं'।[2] श्री ब्रजरत्नदास ने भी लगभग ऐसा ही मत प्रकट किया है यहाँ केवल ठेठ हिन्दी में लिखे गये इनके एक उपन्यास से काम है जिसका नाम उदैभानचरित वा रानी केतकी की कहानी है'[3]। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार मानते हैं। द्विवेदी जी के शब्दों में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नाम का सर्व प्रथम सामाजिक उपन्यास लिखा था।'[4]

'रानी केतकी की कहानी' न तो उपन्यास है और न आधुनिक कहानी। ऊपर दिखाया जा चुका है इस कहानी में भाषा के अतिरिक्त शेष सारी विशेषताएं मध्ययुग की हैं रानी पद्मावती और रानी केतकी की कहानियों में भाषा और आकार का ही मुख्य अन्तर है। ईशाअल्लाखाँ के जीवन-काल में 'उपन्यास' नाम से तो लोग अपरिचित थे ही, बंगला तक में कथा-साहित्य मध्ययुगीन कहानियों के रूप में था उपन्यास के रूप

---

१ आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास पृ० २७५
२ हिन्दी-उपन्यास पृ० ६१
३ हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १११
४ हिन्दी-साहित्य पृ० ४१२

में नहीं। इसीलिए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'ये सब कहानियाँ उपन्यास नहीं हैं क्योंकि इनमें लेखकों का अपना कोई वैयक्तिक दृष्टिकोण नहीं है और उनकी घटनाओं की योजना में किसी प्रकार वैयक्तिक मत के समर्थन का लक्ष्य नहीं है'।[1] श्रीवास्तव जी ने इस कहानी के विषय में प्रथमता की चर्चा चलती हुई ही की है, उनके निष्कर्ष में बल नहीं है। इसीलिए आगे चलकर उन्होंने अपना मत बदल दिया "हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०)" है[2]। इस नवीन मत के बीच उनकी पूर्वकथित रचना में भी वे कथावस्तु तथा वर्णन-प्रणाली दोनों ही की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' उस युग की प्रथम रचना है।[3]

भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार मानने में भी मतभेद है। द्विवेदी जी ने भारतेन्दु के 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को 'सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास'[4] बतलाया है परन्तु यह मौलिक रचना नहीं मराठी से अनुवाद है[5] शायद अनुवाद भी भारतेन्दु का स्वयं किया हुआ नहीं[6] सन्देहित है। अस्तु 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' के प्रमाण पर भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार नहीं माना जा सकता। फिर भी यह निष्कर्ष सबको मान्य न होगा कि भारतेन्दु ने एक भी मौलिक उपन्यास की रचना नहीं की[7]। क्योंकि 'उन्होंने स्वयं एक उपन्यास लिखना शुरू किया था वह अधूरा उपन्यास' कुछ आप बीती कुछ जगबीती' है जिसमें उन्होंने जैसे 'परीक्षा गुरु' की सांकेतिक भूमिका ही प्रस्तुत कर दी है[8]। इस कहानी का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यह आश्चर्य की बात है कि आधुनिक उपन्यास के सभी गुण विद्यमान रहने पर भी इस अधूरी कहानी को आलोचकों ने प्रथम उपन्यास नहीं माना। कारण दो हो सकते हैं। पहिला तो यह कि इसका केवल एक 'खेल' ही लिखा गया था यदि यह रचना पूर्ण हो गई होती तो आलोचकों का ध्यान इसकी ओर अवश्य जाता। दूसरा यह कि भारतेन्दु ने इसको 'कहानी' संज्ञा दी है 'उपन्यास' या 'नाविल' नहीं इसलिए विद्वान् इसको कहानी समझ कर छोड़ बैठे हैं। जो भी हो कला की दृष्टि से यह कहानी अवश्य ही 'उपन्यास' पद की अधिकारिणी है और इसके आधार पर भारतेन्दु अन्य पद्य-रचना के समान उपन्यास के भी अग्रदाता माने

---

१ हिन्दी-साहित्य, पृ० ४१५
२. हीरक जयन्ती ग्रन्थ पृ० १०५
३ हिन्दी-साहित्य, पृ० ६१
४. हिन्दी साहित्य पृ० ४१५
५ श्री शिवशंकर मिश्र : भारतेन्दु-प्रेमचन्द के माध्यम तक (आलोचना उपन्यास विशेषांक, पृ० ६१
६ हिन्दी उपन्यास-साहित्य, पृ० १११
७ हिन्दी उपन्यास पृ० ६१
८ श्री शिवशंकर मिश्र आलोचना उपन्यास विशेषांक पृ० ६५

जाने योग्य हैं। मतान्तर प्रश्न यह है कि भारतेन्दु ने उक्त 'कहानी' को 'उपन्यास' नाम क्यों नहीं दिया विशेषतः जब कि वे 'उपन्यास' नाम से परिचित थे[१]। उत्तर यही हो सकता है कि 'उपन्यास' नाम का उस समय तक एकच्छत्र राज्य नहीं हो पाया था। विशेषतः हिन्दी का पाठक 'कहानी के समान लघुकाय उपन्यास' में न समझता था—बालमुकुन्द तक ने अपने कुछ बीच के उपन्यासों (रामसिंह रचना काल १८८२ ई०) को 'छोटा कथा'[१] और 'छोटा उपन्यास' दोनों नाम दिये थे।

'परीक्षा गुरु' (रचना काल सन् १८८२ ई०) को सभी आलोचकों ने किसी-न-किसी रूप से हिन्दी का प्रथम अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास माना है। इसमें प्राचीन और मध्ययुगीन परम्परा को त्याग कर नवीन शरणिका उद्घाटन तो है ही बंगला का ऋण भी कम ही है इसका सीधा बंगला के रास्ते हिन्दी में नहीं आया बल्कि कह सकते हैं कि सीधे अंग्रेजी से आया लेखक अंग्रेजी का अच्छा जानकार था और उसने अंग्रेजी के उपन्यासों को ध्यान में रख कर ही यह नई चाल चलाई होगी'।[२] 'परीक्षा गुरु' का विस्तार-पूर्वक विवेचन यथास्थान किया जाएगा। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि श्रीनिवास दास की प्रतिभा बहुमुखी थी इन्होंने साहित्य के एक से अधिक अंगों की पूर्ति की है नाटक तो उनके तीन हैं 'उपन्यास' एक नया रूप था उस ओर प्रथम पग बढ़ा कर उन्होंने मार्ग प्रदर्शन कर दिया। उपन्यासों का ढेर तो पाठक को उपन्यास-रूप से परिचित करा देने के बाद ही लगाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि भारतीय भाषाओं (उदाहरणार्थ बंगला) में उपन्यास-रूप का प्रारम्भ सामाजिक रचना से हुआ है क्योंकि उपन्यास सामयिक जीवन का वैयक्तिक दृष्टिकोण से वास्तविक चित्र है अतः ऐतिहासिक और घटनात्मक उपन्यास अगर प्रथम हैं तो मौलिक नहीं हो हो सकते और अगर मौलिक हैं तो प्रथम नहीं रखे जा सकते। अस्तु हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार भारतेन्दु हैं परन्तु प्रथम मौलिकता पूर्ण उपन्यास 'परीक्षा गुरु' है।

देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी में उपन्यासों की नई परम्परा चलाई, वे प्रेमचन्द पूर्व-युग के सब से लोकप्रिय उपन्यासकार थे उनकी रचनाओं ने हिन्दी का बड़ा प्रचार किया। फिर भी उनकी कृतियों को साहित्यिक हिन्दी की रचना मानने में कुछ संकोच होता है। यह भी विचारणीय है कि उनका दृष्टिकोण किस अनुपात में साहित्यिक था और किस में कुतूहलवर्द्धक। घटनात्मक उपन्यास के क्षेत्र में वे हिन्दी के पितामह

---

१ दे बालमुकुन्द तिवारी के सम्पादित श्री भारतेन्दु का मत—"जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं अब तक उपन्यास नहीं बने हैं—" डा० रामविलास शर्मा द्वारा (भारतेन्दु-युग, पृ० १२४) उद्धृत।

२ डा० लक्ष्मण कुमार दास गुप्त ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि बेंगाली लिटरेचर ऑफ ... प्रिन्सिपल्स, पृ० १९२

३ हिन्दी उपन्यास, पृ० ४५

लेखक हैं परन्तु साहित्यिकों ने कल्पनात्मक उपन्यास लिखे भी तो कम हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि खत्री जी की लेखनी से ही उपन्यासों की सिलसिलेवार रचनाएं प्रारम्भ हो जाती हैं परन्तु इस दृष्टि से भी किशोरीलाल गोस्वामी का प्रथम उपन्यास 'प्रणयिनी परिणय' और भी पहिले का है। अस्तु, देवकीनन्दन खत्री का महत्व तो निश्चय ही निर्विवाद है परन्तु उनसे ८-१० वर्ष पूर्व के इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

किशोरीलाल गोस्वामी प्रथम उपन्यासकार नहीं हैं। शुक्लजी ने उनकी दो विशेषताएं मानी हैं—रचनाओं का साहित्यिक स्तर, और उपन्यास के क्षेत्र को चुनकर उसी में रम जाना। ये दोनों विशेषताएं उदय-काल की नहीं हैं विकास-काल की हैं। अतः गोस्वामी जी हिन्दी के 'प्रथम' उपन्यासकार (साहित्यिक-उपन्यासकार या अंग्रेजी ढंग के उपन्यास लिखने वाले) नहीं हैं परन्तु प्रारम्भिक लेखकों में उनका महत्व विशेष है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि श्रद्धाराम की 'भाग्यवती' के उपरान्त हिन्दी-उपन्यास के उद्भव में चार साहित्यिकों के नाम स्मरणीय हैं—भारतेन्दु, श्रीनिवासदास, देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस उपन्यास का बीज-वपन किया था वह श्रीनिवासदास में अंकुरित हुआ परन्तु उसको पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय क्रमशः देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी को है। श्रद्धाराम ने आदर्श के हल से उस भूमि को गोड़ कर तैयार कर दिया था जो भविष्य में इतनी उर्वरा सिद्ध हुई। उपन्यास के इस इतिहास में ईशाउल्लाखां को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता और न सदानन्द मिश्र एवं शम्भुनाथ मिश्र को जिन्होंने 'मनोहर-उपन्यास'[1] नामक किसी पुस्तक का 'सम्पादन' सं० १९२८ में ('भाग्यवती' से १-७ वर्ष पूर्व) किया था। संभव है यह 'मनोहर-उपन्यास' (?) या 'मनोहर उपाख्यान' हरिमोहन कर्मकार द्वारा रचित बंगला की कथा-पुस्तक 'मनोहर-उपाख्यान' (सन् १८५२)[2] का छायानुवाद मात्र ही हो—'संपादन' शब्द से ऐसा ही संकेत मिलता है।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का काल-विभाजन

भारतीय जनता की कथाप्रिय 'मनोभूमि' में प्राचीन कथा-साहित्य और मध्ययुगीन कथा-साहित्य एक के बाद दूसरी 'फसल' के समान पैदा हुए, तदनन्तर उपन्यास-पूर्व खड़ीबोली-कथा-साहित्य उन मूल्यविहीन 'स्थाणुओं' के समान था जो अवसर पा कर अपने आप हरियाने लगते हैं। श्रद्धाराम ने उस भूमि को पुराने झाड़ झंखाड़ों से साफ करके अपने सामाजिक 'हल' से नवीन उपज के लिए तैयार कर दिया। भारतेन्दु ने 'बीज-वपन' किया जिसको श्रीनिवासदास ने 'अंकुरित' किया और फिर देवकीनन्दन खत्री के प्रयत्न से उपन्यास-शाखा 'पल्लवित' तथा किशोरीलाल गोस्वामी की प्रतिभा से

---

१ हिन्दी पुस्तक साहित्य, पृ० ११

२ डा० जयन्तकुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि लाइफ एण्ड नॉवेल्स ऑफ बंकिम-चन्द्र, पृ० १

'पुष्पित' हुआ। प्रेमचन्द का साहित्य सरस एवं स्वादु 'फल' के समान है। उनके बाद के कलाकार तरह-तरह के अचार और मुरब्बे बनाकर बाजार में बेचते रहे हैं।

इस प्रकार इस नई फसल की तीन अवस्थाएं है—बूम चलाने से पत्तव आने तक फल और फलों का मुरब्बा। अर्थात् श्रद्धाराम से प्रेमचन्द-पूर्व तक प्रेमचन्द, और प्रेमचन्द से अब तक। *श्रद्धाराम का उपन्यास अपवादात्मक है और भारतेन्दु का केवल 'बीज'* मात्र। इसलिए अध्ययन की सुविधा के लिए हिन्दी-उपन्यास का प्रथम काल श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२ ई०) से प्रारम्भ होता माना जाता है, और इस की अवधि प्रेमचन्द के उदय तक है। प्रेमचन्द के दो प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' उनसे पूर्व की प्रवृत्तियों से भरे हुए हैं उनको सन्धिकालीन माना जा सकता है युग-प्रवर्तक नहीं। परन्तु 'सेवासदन' का प्रकाशन हिन्दी-जगत् की एक विशिष्ट घटना है, इस उपन्यास में नवीन युग की स्पष्ट सूचना मिल जाती है। जिस प्रवृत्ति का 'सेवा-सदन' में उपक्रम दिखाई पड़ता है वही प्रेमचन्द के जीवन-पर्यन्त 'मंगल-सूत्र' के प्रकाशन (सन् १९३६) तक उसी प्रकार प्रवहमान है। प्रेमचन्द के जीवन-काल में ही उनसे भिन्न प्रवृत्ति के उपन्यास लिखे जाने लगे थे और उनके बाद तो स्पष्ट ही नवीन प्रवृत्तियों का साम्राज्य छा गया। यह प्रेमचन्दोत्तर युग है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने गद्य-साहित्य के तीन भाग—प्रवर्तन (सं० १९२५ से १९५० तक) प्रसार (सं० १९५० से १९७५ तक) और वर्तमान गति (सं० १९७५ से)—किये हैं। द्वितीय उत्थान की अवधि सं० १९५० (सन् १८९३) से सं० १९७५ (सन् १९१८ ई०) तक है। इस काल विभाजन में कथा-साहित्य को समझ स्थान में रखना सम्भव न था फिर भी संयोगवश एक भाग सन् १९१८ में समाप्त हो जाता है। शुक्लजी के इस विभाजन को प्रयाग विश्वविद्यालय के रिसर्च-स्कॉलरों ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (सन् १८५० से १९०० तक) 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (सं० १९०० से १९२५ तक), और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १९२५ से १९५० तक) के रूप में मक्षिकावत् हेर-फेर के साथ ग्रहण कर लिया है इनके विशेष अध्ययन में भी कथा-साहित्य को स्वतन्त्र रूप से दृष्टि में रखना सम्भव न हो सका।

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने हिन्दी-उपन्यास के दो काल माने हैं—'आदिकाल' (सन् १८०० से १९१८ तक) और 'आधुनिक काल (सन् १९१८ से आगे)। इस विभाजन में पहिली कठिनाई तो यह है कि 'आदिकाल' का प्रारम्भ सन् १८०० से क्यों माना गया है जब कि सन् १८०० में एक भी उपन्यास की रचना नहीं हुई। लेखक का तर्क है—'सन् १८०० ई० के आसपास चार महानुभाव ऐसे हुए जिन्होंने खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ाया। .. इन गद्य प्रवर्तकों के द्वारा ही हिन्दी-गद्य में कथा कहानियों का प्रवर्तन भी हुआ'[1]। विद्वान् लेखक ने 'कथा-कहानियों' को 'उपन्यास' के साथ पर्यायवाचिक ढंग से मिला दिया है, फलस्वरूप 'रानी केतकी की कहानी' ही 'प्रथम उपन्यास' बन गई है ऊपर दिखाया जा चुका है कि यह नियम अनुचित है। दूसरी

---

१ हिन्दी उपन्यास, पृ० ६०

कठिनाई आदिकाल के अन्त की है। लेखक की मान्यता है कि 'प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रेमचन्द चरित्र प्रधान उपन्यास लेकर साहित्य-क्षेत्र में आए। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर आदिकाल सन् १८०० से १९१८ ई० माना गया है'[1]। यहाँ आपत्ति का विषय 'प्रथम महायुद्ध' है। इस युद्ध का प्रभाव उपन्यास-कला पर पड़ा हो—ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। अच्छा होता कि 'महायुद्ध' की अपेक्षा 'सेवासदन' को कालपरिवर्तन का गौरव दिया होता। (आधुनिक काल के विषय में लिखना यहाँ प्रासंगिक नहीं है)।

श्री ब्रजरत्नदास ने उपन्यास-साहित्य के दो उत्थान माने हैं—प्रथम उत्थान (सं० १९४० से १९७० तक) और नवीन उत्थान (सं० १९७० से २००० तक)। उनके अनुसार प्रथम उत्थान सं० १९४० से प्रारम्भ होकर सं० १९७० तक चलता है। लेखक का तर्क है कि सं० १९४० से १९७५ के मध्य में ऐयारी तिलिस्मी जासूसी आदि से भरे हुए बहुत से उपन्यास लिखे गये किन्तु अब इस प्रकार के अन्तर्गत उपन्यासों के लिखने की प्रथा बन्द-सी हो गई[2]। यह तर्क ठीक है परन्तु इस स्थान पर 'प्रथम उत्थान' की अवधि सं० १९७५ लिखी है और 'विषय-सूची' में सं० १९७०। शायद लेखक का अभीष्ट सं० १९७५ ही है, क्योंकि पाँचवें प्रकरण के शीर्षक में भी 'सं० १८४०-७५' लिखा है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'सन् १८८२ से लेकर सन् १९१५ तक हिन्दी-उपन्यास का प्रारम्भिक और संक्रान्ति काल रहा है'[3]। यहाँ १९१५ ई० प्रेमचन्द की उपन्यास रचना की तारीख मानी गई है, इस प्रारम्भिक युग को पार करते ही हम हिन्दी-उपन्यासों के उस नये युग में प्रवेश करते हैं जिसका शिलान्यास प्रेमचन्द जी ने किया'। सामान्यतः १९१८ तक हिन्दी उपन्यास का प्रथम चरण माना जाता है, १९१८ से हिन्दी उपन्यास का द्वितीय चरण प्रारम्भ होता है जिसके प्रवर्तक प्रेमचन्द हैं 'उनका पहला उपन्यास सेवासदन १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ था'[4]। 'उदय काल', 'प्रेमचन्द के आगमन तक', 'प्रेमचन्द-युग', 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' और 'प्रेमचन्दोत्तर काल', 'नये प्रयास'[5] हिन्दी उपन्यास-साहित्य का यह कालविभाजन प्रायः सर्वमान्य-सा बन गया है। इन कालों की तारीखें भी १८८२ से १९१८, १९१८ से १९३६ और १९३६ से उत्तर निर्विवाद ही हैं।

इस सर्वमान्य विभाजन में दो सुधार और हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि 'उदय काल' नाम देने से ऐसा लगता है मानो उस काल तक साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा उपन्यास पिछड़ा हुआ था परन्तु वस्तु स्थिति वैसी है नहीं। उपन्यास सामयिक

---

१ हिन्दी उपन्यास पृ० ८
२ हिन्दी उपन्यास-साहित्य पृ० १११
३ आधुनिक-साहित्य पृ० ११०
४ वही पृ० ११४
५ श्री शिवनारायण लाल श्रीवास्तव : हिन्दी-कथा-साहित्य (तिलक वर्ष ३ अंक) पृ० १०१

जीवन का वास्तविक चित्र है और साहित्य के दूसरे अंगों की अपेक्षा उपन्यास में यह गुण अधिक होता है। समाज की सामान्य स्थिति जैसी होगी वैसा ही उसका उपन्यास साहित्य होगा। अतः प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपन्यास-साहित्य को उदय काल-मात्र का साहित्य नहीं मान सकते। अगर पहिला काल उपन्यास का उदयकाल है तो नाटक आदि उसका भी जन्म-काल है। अस्तु, उदयकाल की अपेक्षा प्रेमचन्द पूर्व-युग अधिक उपयुक्त है। इसके आगे प्रेमचन्द-युग में समाज प्रधान उपन्यासों की रचना हुई और प्रेमचन्दोत्तर-युग में व्यक्ति प्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे।

दूसरा सुधार यह हो सकता है कि काल विभाजन में सन् की अपेक्षा ग्रन्थकारी रचना का महत्त्व अधिक होने से प्रवृत्तियों का क्रम अधिक स्पष्टता से लक्षित हो सकता है। अधिकतर आलोचकों ने प्रेमचन्द से युग-परिवर्तन माना है फिर भी कोई १९११ मानता[1] है, कोई[2] १९१२ और कोई[3] १९१६। इस भ्रान्ति का कारण रचनाविशेष से परिवर्तन न मान कर व्यक्ति-विशेष को महत्त्व देना है। सन् १९१८ के बाद भी पुराने कई उपन्यास-कार (जैसे किशोरीलाल गोस्वामी) लिखते रहे और उनमें परिवर्तन न आया। यदि रचना-विशेष को महत्त्व दिया जाए तो किसी प्रकार की गड़बड़ न हो सकेगी।

अस्तु, हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का काल-विभाजन नीचे लिखे प्रकार से किया जा सकता है —

१ प्रेमचन्द-पूर्व-युग सन् १८८२ से सन् १९१८ तक
'परीक्षा गुरु' से 'सेवासदन' तक।

२ प्रेमचन्द-युग सन् १९१८ से १९३५ तक
'सेवासदन' से 'सुनीता' तक।

३ प्रेमचन्दोत्तर-युग सन् १९३५ से आज तक।

प्रेमचन्द-युग उपन्यास की सामान्य प्रवृत्ति

बंगला के समान हिन्दी में भी उपन्यास का सूत्रपात समाज की आलोचना के रूप में ही हुआ था। परन्तु जैसे-जैसे इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई वैसे-वैसे इसमें मनोरंजन[4] का समावेश अधिक होता गया। कुछ लेखकों ने मनोरंजन को सामाजिक चित्रण

---

१ श्री ब्रजरत्नदास ने सं० १९७० अर्थात् सन् १९११ माना है।

२ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सन् १९१२ मानते हैं ('आधुनिक साहित्य' पृ० १४८ तथा प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० २२)

३ श्री शिवनारायण श्रीवास्तव।

४ ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'सरलमयी या बैली करनी वैसी भरनी' उपन्यास में उन बातों की सम्मान कथा का वर्णन किया है 'जहाँ धरमी-पुण्यात्मी नायिका हो, सुन्दर-सलोना नायक हो, कुटिलों की कुछ पैसों की पैसरी, माता-पिता के जागने हों, फिर भी बेकरार हो, तो उपन्यास की सरस होती है।' (डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' की 'भूमिका' से उद्धृत)

से अधिक महत्व दिया ऐसे उपन्यासकारों के नेता देवकीनन्दन खत्री हैं। कुछ[1] लेखक मनोरंजन की अधिक परवाह न करके सामाजिक—विषयों पर ही ध्यान केन्द्रित करते थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र श्रद्धाराम फुल्लौरी श्रीनिवासदास आदि से ऐसी ही परम्परा चलती है जिसका दूसरा छोर 'रामलाल' उपन्यास के लेखक मन्नन द्विवेदी हैं। अस्तु, इस काल का उपन्यास शुद्ध कला-कृति नहीं है उसमें उपदेश और मनोरंजन[2] का भिन्न भिन्न अनुपातों में मिश्रण हो गया है।

इस काल में जितने लेखक साहित्य-सृष्टि के उद्देश्य से लिखते थे उनसे बहुत अधिक लेखक व्यावसायिक दृष्टिकोण से। फलतः लेखक से अधिक महत्व प्रकाशक का था कुछ उपन्यासों पर लेखक का नाम नहीं है परन्तु प्रकाशक का पूरा पता[3] दिया हुआ है। अधिकतर प्रकाशक स्वयं लिखते तथा दूसरों को प्रोत्साहित कर उनसे लिखाते और स्वयं छापते थे। व्यापारिक और धार्मिक दृष्टि से जिस नगर का जितना अधिक महत्व था (जैसे काशी वृन्दावन आगरा कलकत्ता आदि) उतना ही उसे उपन्यास का बड़ा प्रकाशन-केन्द्र समझना चाहिए।

जिस प्रकार आजकल हिन्दी की अधिकतर पत्रिकाएं परीक्षोपयोगी आलोचना और कहानियों पर जीवित हैं उसी प्रकार हमारे आलोच्य काल में अधिकतर हिन्दी-पत्रिकाएं या तो सामाजिक थीं या औपन्यासिक। सामाजिक पत्रिका स्त्री-शिक्षा समाज सुधार धर्म-प्रचार आदि किसी गम्भीर उद्देश्य को लेकर चलती थी औपन्यासिक पत्रिका में मनोरंजन और उपदेश मिले-जुले रहते थे। 'उपन्यास' मासिकपत्रिका[4] 'उपन्यास-लहरी' 'उपन्यास-बहार'[5] 'उपन्यास कुसुमाञ्जलि' 'उपन्यास-सागर'[6] 'जासूस'[7] 'गुप्त कथा' 'झरोखा'[8] 'कुसुम सरोवर'[9] 'उपन्यास-प्रचार' आदि पत्रिकाएं इसी पिछले

---

१ 'उत्तम चरित्र को उदार और उन्नत बनाने वाले वास्तविक चरित्र का चित्रण करने वाले, और स्थितियों को कर्मण्यता पर लाकर करने वाले उपन्यासों की हिन्दी में बहुत ही कमी है।' (मर्यादा सन् १९११)

२. हिन्दी-साहित्य में उपन्यास के प्रायः दो ही उद्देश्य समझे जाते हैं। एक तो मनोरंजन करना और दूसरे कोई अन्य बात या बातें प्रदर्शित करना। ('लालचीन' की भूमिका)

३ सरस्वती (अप्रैल सन् १९१२) में एक ऐसे ही उपन्यास की आलोचना देखिए:— ऐतिहासिक उपन्यास—पृ. १४८। लेखक का नाम नदारद प्रकाशक—बाबू जयरामदास गुप्त उपन्यास बहार-आफिस काशी। यह उपन्यास है पर इसमें इतिहास का भी पुट है।

४ पहली जनवरी १९ १ से किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सम्पादित।

५ सम्पादक—जयरामदास गुप्त काशी।

६ सम्पादक—रामलाल वर्मा कलकत्ता।

७ मई सन् १९ ई से गोपालराम गहमरी द्वारा सम्पादित।

८. सम्पादक—रामलाल वर्मा कलकत्ता।

९ 'आनन्दसिन्धुओं का सर्वोत्तम मासिक पत्र [illegible] हरदेव [illegible] वृन्दावन।

गर्ग की है। इनमें केवल उपन्यास छपते थे एक-एक उपन्यास को एक या एक से अधिक अंकों में छाप कर पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया जाता था। इस प्रकार 'उपन्यास-ग्रन्थ माला' 'उपन्यास-तरंग-माला' उपन्यास-कुसुम-माला' आदि तैयार होती जाती थी।

उपन्यास की सफलता पाठकों को आकृष्ट करना और प्रतियों के हाथों-हाथ बिक जाने मात्र में मानी जाती थी। यही उन उपन्यासों की आलोचना भी है। पुस्तक का मूल्य पुस्तक के पन्ने छपाई और चित्र तथा अन्त पर पुस्तक का प्रभाव—इन चार गुणों से उसकी सफलता का मूल्य आंका जाता था। कुछ आलोचनामय विज्ञापन देखने योग्य हैं—

(क) इसमें 'राजकुमारी' का रंगीन चित्र तो ऐसा दिया गया है कि वैसा सुन्दर चित्र बाजार में चार आने में भी न मिलेगा। ('राजकुमारी')

(ख) इसके पढ़ने में कभी तो आँखों से आँसू बहने लगते हैं कभी आनन्द की लहरें आती हैं और कभी हँसते-हँसते पेट फटने लगता है। ('कुसुमकुमारी')

(ग) इसमें अकबर के समय की उन गुप्त घटनाओं का वर्णन है जो कि बड़े छिपे छिपे रूप में होती थीं। और क्षत्रियों पर कैसे कैसा अत्याचार हुए हैं? किस-किस प्रकार प्रजा को यहाँ के कर्मचारी-लोग पीड़ा पहुँचाते थे? इत्यादि बातों को पढ़कर आप दंग रहेंगे। ('अस्ता-हो अकबर')

(घ) इसका आकार 'डिमाई आठ पेजी' पाँच फार्म अर्थात् ४० पृष्ठ है। ('उपन्यास'—मासिक)

(ङ) मैंने इस उपन्यास को प्रशंसा प्राप्त करने अथवा रुपया बटोरने की स्पृहा से नहीं लिखा है वरन् देशसेवा की हार्दिक इच्छा मन में रखते हुए इसको प्रत्येक अलंकार से विभूषित कर । ('पतिव्रता विपुला' सन् १९११)

(च) यों तो अब तक सैकड़ों उपन्यास छप चुके हैं जिनसे मनोरंजन या ऐतिहासिक बातें जानने के सिवा और कोई विशेष कुछ लाभ नहीं हुआ, किन्तु हमें आशा है कि इस उपन्यास से मनुष्य जाति मात्र का उपकार होगा। ('भाभी')

(छ) इस समय जब कि लोगों के मनों में धर्मसम्बन्धी ये अरुचि हो रही है यह ट्रैक्ट जिसमें सत्य सनातन वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की महिमा दर्शायी गयी है जनता की भेंट किया जाता है। ('कालीयात्रा')

(ज) जब घटनापूर्ण अश्लीलतामय चरित्रनाशी रद्दीसी कहानियाँ पढ़ते पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जाय तब आप लोग इसे अपने हाथ में लीजिएगा और देखिएगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है या नहीं । (सौन्दर्योपासक)

(झ) आओ आज हम आप लोगों को आप बीती सुना उस मायावी की

माया का विचित्र रंग-रूप दिखाते हैं। ('दीनानाथ')

उपन्यासकारों का पाठक से निकट सम्पर्क रहता था अर्थात् उपन्यास लिखते-लिखते वे पाठक से बात करते जाते थे और अपनी कथा से उसे ऐसी-ऐसी चीजें दिखाते थे जिनसे उसका मन लगा रहे। यह शैली इस युग की नाटक-प्रियता का प्रभाव मानी जा सकती है। वस्तुतः उपन्यासकार उस सूत्रधार के समान था जो पाठकों के परितोष से ही अपने उपन्यास-विधान[1] को सफल मानता है। पाठकों का ध्यान रखकर लिखना यदि लेखक का गुण है तो प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास में यह विशेष रूप से दर्शनीय है।

कतिपय उपन्यासकार कथा को कई भागों में विभाजन करके उपन्यास लिखते थे। किशोरीलाल गोस्वामी का 'लखनऊ की कब्र' यदि सात भागों में है तो धन्नूलाल श्रीवास्तव की 'मदनमंजरी' के नौ भाग हैं, और देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्तासन्तति' के चौबीस। सामाजिक उपन्यास इतने बड़े न होते थे फिर भी मेहता लज्जाराम का 'आदर्श हिन्दू' तीन भागों में है। उपन्यास की आकार-वृद्धि सफल तभी हो सकती है जब पाठक की अनुरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाए, इस बात का घटनात्मक उपन्यासकारों को पूरा विश्वास था। प्रायः पूर्व घटित या भावी कथा की ओर ध्यान देने के लिए फुटनोट में इस प्रकार का संकेत कर दिया जाता था यह गुण किशोरीलाल में अधिक है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग 'रीतिकाल' 'पारसी रंगमंच' 'उर्दू शायरी' और संस्कृत-साहित्य के चार लहलहे उद्यानों से घिरा हुआ था। इसलिए कोई भी लेखक इनकी सुरभि से बच नहीं सकता है प्रभाव की मात्रा में भेद भले ही हो। 'रीतिकाल' से शृंगार रंगमंच से कथोपकथनों में चुस्ती शायरी से रंगीनी और संस्कृत से धर्म-प्रेम इस काल में व्याप्त हो गया था। इस उपन्यास-साहित्य के तीन महान् सहायक काव्य नाटक और अखबार हैं काव्य से रसिकता नाटक से पाठकों का सामीप्य और समाचार-पत्रों से उपन्यास को सत्य घटनाओं का आधार मिला था।

उपन्यासकारों की सबसे बड़ी कमजोरी अपने दृष्टिकोण का अभाव है। प्रणय कथा और रहस्य दोनों में से किसी पर भी लेखक के व्यक्तित्व की छाप नहीं मिलती। किसी भी उपन्यास के विषय में यह दावा नहीं किया जा सकता कि वह अमुक लेखक की ही कृति है इतर की नहीं। लेखकों ने या तो तरह-तरह के प्रयोग किये हैं या पाठकों की रुचि में अपने को बहा दिया है। यही कारण है कि उपन्यास चमक कर उज्ज्वल नहीं बन सके। जिन उपन्यासकारों का व्यक्तित्व प्रखर था और अपनी रचना पर जिनकी छाप है (जैसे लाला श्रीनिवासदास) वे संख्या में बहुत कम हैं। और उन्होंने एक-दो से अधिक उपन्यास नहीं लिखे।

यह युग अनुवाद और अनुकरण का था। इसलिए मौलिकता की कसौटी पर इसे परखना उचित नहीं। दूसरी रचनाओं (इतिहास समाचार पत्र नाटक अथवा उप

---

१ वर्तमान उपन्यासकार सूत्रधार के समान था। प्रयोग-विधान' की सफलता शिष्यों का परितोष मानता है।

न्यास) से संकेत लेकर लेखक उपन्यास लिख डालते थे क्योंकि कल्पना सदा उनकी सेवा को प्रस्तुत रहती थी। कतिपय उपन्यासकारों ने सच्ची घटनाओं के आधार पर कथानक बनाया है कुछ लेखकों ने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर। परन्तु प्रत्येक लेखक यह अवश्य चाहता था कि उसकी कल्पना पर विश्वास किया जाए अंग्रेजी के उपन्यास-लेखक डेफो की विश्वास जमाने वाली कला हिन्दी के इन उपन्यासकारों में भी पाई जाती है। वे भूमिका में यह घोषणा कर देते हैं कि उनकी कृति का आधार एक सच्ची घटना है व्यक्तियों और स्थानों के नामों के अतिरिक्त सारी बातें सच्ची हैं।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जो उपन्यास लिखे गये थे वे आजकल की दृष्टि से अविकसित या असफल भले ही मान लिये जाएं उनका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है। वे हिन्दी-साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी ही नहीं हैं तत्कालीन जनता में जीवन का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब भी है। सामान्य जनता का मनोवैज्ञानिक दर्शन जितना उन उपन्यासों में हो सकता है उतना अन्यत्र नहीं क्योंकि उनका निर्माण ही जनता के मनोरंजन के लिए हुआ था।

प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य का वर्गीकरण

हमारे आलोच्य-काल में जो असंख्य साहित्यिक एवं लोकप्रिय उपन्यास लिखे गये उनकी मुख्य विशेषता पाठक की कुतूहल-वृत्ति को परितृप्त करते हुए उसका मनोरंजन करना है। इसलिए, आधुनिक शब्दावली में वे उपन्यास घटना प्रधान ही हैं। डा० श्रीकृष्णलाल[1] ने उन उपन्यासों के दो भेद माने हैं—कथाप्रधान तथा चरित्रप्रधान परन्तु 'चरित्र प्रधान' वर्ग में नाम मात्र के ही लिए (हरिऔध लज्जाराम मेहता तथा मन्नन द्विवेदी के) कुछ उपन्यासों को स्थान दिया है। इसके विपरीत 'कथाप्रधान' उपन्यासों के छ: उपवर्ग बनाये हैं। 'कथाप्रधान' उपन्यासों का यह उपवर्गीकरण निम्नलिखित है:—

- (क) तिलस्मी।
- (ख) साहसिक—डकैती-सम्बन्धी अन्य व्यक्ति के पाप से सम्बद्ध एवं राजनीतिक क्रान्ति-सम्बन्धी।
- (ग) जासूसी।
- (घ) प्रेमाख्यानक—रीतिकालीन परम्परा पर अथवा फारसी प्रभाव से।
- (ङ) ऐतिहासिक।
- (च) पौराणिक।

यह वर्गीकरण दोषागत है। इस पर एक बार दृष्टिपात करने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि यदि कुछ उपन्यासों को 'चरित्रप्रधान' मान भी लिया जाय तो भी उन्हें अपवाद कहा जायगा उस युग की प्रवृत्ति नहीं उस काल के उपन्यास 'कथाप्रधान' ही हैं यदि कोई अपवाद है तो वह युग-प्रवाह से अलग है उसका स्वतंत्र वर्ग नहीं बन

1 आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास पृ० ३३२

सकता। परन्तु, इन 'कथा प्रधान' उपन्यासों का विषय-वस्तु के अनुसार तत्कालीन साहित्यिकों ने भी वर्गीकरण किया है। 'मदनकुमार या मदनमंजरी' उपन्यास के पीछे मुद्रापत्री के प्रसिद्ध उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' का परिचय देने वाला विज्ञापन बतलाता है कि 'सरस्वतीचन्द्र' में (क) सामाजिक (ख) ऐतिहासिक (ग) राजनीतिक (घ) धार्मिक (ङ) ऐयारी (च) तिलस्म (छ) जासूसी आदि सभी प्रकार के उपन्यासों का आनन्द मिलता है। यद्यपि 'विज्ञापन' को 'समीक्षा' के समकक्ष आधार नहीं माना जा सकता फिर भी इससे इतना तो संकेत मिल ही जाता है कि उस युग में उपन्यास कितने प्रकार के होते थे। डा० श्रीकृष्णलाल ने भी 'कथाप्रधान' उपन्यासों का उपवर्गीकरण लगभग इन्हीं धाराओं में किया है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से लेखकों ने स्वयं भी अपने उपन्यास की जाति बतला दी है और वह उपन्यास उस जाति में सफल हो अथवा असफल उस जाति का अस्तित्व तो सिद्ध हो ही जाता है। कतिपय नाम उन उपन्यासों के हैं जिनके ऊपर उनकी 'जाति' या 'प्रकार' अंकित है—

'वीर जयमल'	—	'ऐतिहासिक उपन्यास'
'किले की रानी'	—	'शिक्षाप्रद अद्भुत उपन्यास'
'कुसुम कुमारी'	—	'सत्य-घटना-मूलक उपन्यास'
'लक्ष्मी देवी'	—	'शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास'
'भाभी'	—	'गार्हस्थ्य उपन्यास'
'नूरजहाँ'	—	'ऐतिहासिक उपन्यास'
'सावित्री'	—	'गार्हस्थ्य उपन्यास'
'राजकुमारी'	—	'सामाजिक उपन्यास'
'अंगूठी का नगीना'	—	'सत्य घटना-मूलक गार्हस्थ्य उपन्यास'

इनके अतिरिक्त 'सामाजिक उपन्यास' 'ऐतिहासिक उपन्यास' तथा 'तिलस्मी उपन्यास' 'जासूसी उपन्यास' तो इतने उपन्यासों पर लिखा हुआ है कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। 'गार्हस्थ्य' 'धार्मिक' आदि भेद 'सामाजिक उपन्यास' के ही हैं। परन्तु, किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों को सामान्यतः 'सामाजिक' 'ऐतिहासिक' तथा 'घटनात्मक' लिखा है—अपवाद रूप में एक-दो अन्य नाम भी हैं जैसे 'अंगूठी का नगीना' उपन्यास 'सत्य-घटना-मूलक गार्हस्थ्य उपन्यास' है[1] परन्तु इस प्रकार के 'प्रकार' को 'वर्ग' न मान कर 'वर्णन' मात्र समझना चाहिए। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यासों के तीन वर्ग स्वीकार किये गये हैं—

(क) सामाजिक
(ख) ऐतिहासिक
(ग) घटनात्मक

---

१ मुखपृष्ठ पर इस को 'गार्हस्थ्य उपन्यास' लिखा गया है और प्रथम पृष्ठ पर 'सामाजिक उपन्यास'

और प्रत्येक 'वर्ग' का अध्ययन एक नवीन अध्याय में किया गया है। इस वर्गीकरण में मेरी नीति यह रही है कि सर्वप्रथम लेखक का कथन प्रामाणिक माना जाय यदि लेखक एक विशेष उपन्यास को 'ऐतिहासिक' कहता है तो उस उपन्यास का अध्ययन उसी वर्ग में हो भले ही उस उपन्यास में ऐतिहासिकता की दृष्टि से त्रुटि हो। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'राजकुमारी' उपन्यास को 'सामाजिक' बतलाया है यद्यपि इसमें लेखक के ऐतिहासिक उपन्यासों के भी गुण हैं, मैंने उसे 'सामाजिक' वर्ग में ही स्थान दिया है। गोस्वामी जी ने 'कटे मूंड की दो-दो बातें' उपन्यास को 'घटनात्मक' लिखा है यद्यपि इसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में उसे 'घटनात्मक' ही माना गया है। यदि लेखक ने अपने उपन्यास का स्वयं कोई वर्ग नहीं बतलाया तो सर्वप्रथम यह देखना है उसकी पृष्ठभूमि में इतिहास तो नहीं है यदि इतिहास है तो उपन्यास को 'ऐतिहासिक' वर्ग में स्थान मिल जायगा। इतिहास-रहित उपन्यास में यदि समकालीन समाज के किसी अंग या समस्या का चित्रण है तो उसे 'सामाजिक' संज्ञा मिली है, अन्यथा वह 'घटनात्मक' है। इस प्रकार 'घटनात्मक' वर्ग बड़ा व्यापक एवं अनिश्चित है। 'घटनात्मक' वर्ग में सामान्यतः दो प्रकार के उपन्यास आते हैं विचित्र-विचित्र घटनाओं से भरे हुए—'जासूसी' 'तिलस्मी' और 'ऐयारी' के ढंग के अनूठे[1] उपन्यास तथा वे उपन्यास जिनमें 'रसीले भड़कीले अनूठे और जानदार'[2] कथानकों में 'किस्मत का खेल'[3] 'प्रेम का फल'[4] 'चालाकों की चालाकी चोरों की दगाबाजी उगों की धोखेबाजी'[5] 'जिन्दों की महफिल'[6] आदि विचित्र-विचित्र विषय अंकित किये गये हैं।

इस वर्गीकरण को बंगाली साहित्य का समर्थन भी प्राप्त है। बंगाली-उपन्यास पर विचार करते हुए एक विद्वान लिखते हैं कि भारत के संस्कृत तथा देशभाषा साहित्यों में रोमान्स उपकथा (टेल) एवं नीतिकथा (फेबल) सब तो थे परन्तु आधुनिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास नहीं—यह पाश्चात्य प्रभाव का प्रत्यक्ष फल है"[7]। इस अभिमत में प्रारम्भिक बंगाली उपन्यास पर दो प्रभाव स्वीकार किये गये हैं भारतीय परम्परा की 'रोमान्स' 'उपकथा' एवं 'नीतिकथा' का तथा पाश्चात्य परम्परा के 'सामाजिक' एवं 'ऐतिहासिक' उपन्यास का। एक दूसरे विद्वान ने बंगला के प्रारम्भिक उपन्यासों के तीन वर्ग किए हैं (क) 'लोकरंजक अथवा आहूति स्वरूप-विशे-

१ 'राजकुमारी' उपन्यास के अन्त में विज्ञापन से।
२ 'चाची' उपन्यास पर 'हिन्दी प्रदीप' का विज्ञापन।
३ बिहारीलाल भगत का उपन्यास।
४ निहालचन्द वर्मा का उपन्यास।
५ 'कब्र फूट फिरे' उपन्यास के मुखपृष्ठ से।
६ ऋषिकेश चतुर्वेदी का उपन्यास।
७ श्री जे० सी० घोष : बंगाली लिटरेचर, पृ० १२२

और आत्मविस्तर स्वरूप-चित्रण आदि (ख) 'अद्भुत रसात्मक उपकथा' आदि रसात्मक पुरानी रोमान्टिक आख्यायिका' 'नीतिमूलक कहानी' (ग) 'ऐतिहासिक कहानी'[1]। हिन्दी में इनमें से प्रथम वर्ग को 'सामाजिक' और दूसरे को 'घटनात्मक' कहा गया है। बंगभाषा में सामाजिक उपन्यास का टेकचन्द ठाकुर के 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५८) से ऐतिहासिक का भूदेव मुखोपाध्याय के 'ऐतिहासिक उपन्यास' (प्रथम जिल्द सन् १८५७ द्वितीय जिल्द सन् १८६२) से तथा अद्भुत उपन्यास का रामचरण भट्टाचार्य के 'अद्भुत उपन्यास' (सन् १८६१) से सूत्रपात हुआ था।



१ बाङ्गला साहित्येर इतिहास, द्वितीय खण्ड पृ० १९५

३

सामाजिक उपन्यास

सामाजिक जीवन की रेखाएं

पाश्चात्य जीवन और साहित्य के सम्पर्क से हमारे समाज में जो अनेक क्रिया प्रतिक्रियाएं हुईं उनसे नव युग का सूत्रपात माना जाता है। इस नवचेतना का इतिहास सामान्यतः दो कालों में विभक्त है—कांग्रेस पूर्व-काल तथा कांग्रेस-काल। सन् १८२१ में राजा राममोहन राय ने 'सम्वाद कौमुदी' नामक पत्रिका द्वारा सामाजिक अभ्युत्थान का कार्य अपने हाथ में लिया। सन् १८८१ में महर्षि दयानन्द ने निर्वाण-लाभ किया। सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। इस प्रकार अध्ययन की सुविधा के लिए सन् १८२१ से १८८४ तक का काल राममोहन से दयानन्द तक के नेतृत्व का युग[1] कांग्रेस-पूर्व काल नाम से अभिहित किया जाता है। हिन्दी के प्रथम साहित्यिक उपन्यास परीक्षा-गुरु की रचना (सन् १८८२) के साथ-साथ कांग्रेस-पूर्व-काल का अवसान हो रहा था परन्तु उस युग की चेतना का प्रभाव सामाजिक जीवन पर अति शीघ्रता बाद काव्य (सन् १९१७) तक चलता ही रहा। फलतः हमारे आलोच्य काल (सन् १८८२ से १९१८) को कांग्रेस-पूर्व काल की चेतना ही अधिक प्रभावित करती रही है।

बंगाल में

पाश्चात्य किरणों का आलोक सर्वप्रथम बंगाल में विकसित हुआ था। इसके वैतालिक राजा राममोहन राय (सन् १७७२ से १८३३ तक) थे। राममोहन के व्यक्तित्व में दार्शनिक सुधारक एवं राजनीतिज्ञ तीनों का सुन्दर समन्वय था। उपनिषदों का चिन्तन करते हुए वे जीवन की भव्यता से उत्फुल्ल हो उठे परन्तु समाज की दुर्दशा ने उनके मन को खिन्न कर दिया तब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सांस्कृतिक अति भाव[2] (एक्सेस इन सिविलाइजेशन) एवं सामाजिक जातिभेद (डिविजन इन्टू कास्ट्स) भारतीय जीवन के अभिशाप रहे हैं इसलिए कम से कम राजनीतिक लाभ एवं सामाजिक सुख के लिए तो विद्यमान धर्म-रीति में कुछ परिवर्तन[3] अवश्य ही होने चाहिएं।

---

१ हिस्ट्री आफ पोलिटिकल थौट ऐण्ड प्रैक्टिस १

२ दि इंग्लिश वर्क्स आफ राममोहन राय, दि मार्डर्न मैगजीन पृ० १४९

३ वही पृ० ४१

इस युग में अंग्रेजी शासन तथा अंग्रेजी सभ्यता घृणा की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। बंगाल ने नवाबी अत्याचारों से छूटकर अंग्रेजी व्यवस्था में सन्तोष की सांस ली थी। सत्य, दृढ़ता, न्याय एवं आश्रितों के प्रति समान व्यवहार करने के लिए नवाब के रिश्ते-दारों की अपेक्षा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी अधिक विश्वसनीय थे। फलतः बंगाल के गांवों में भी अंग्रेजों को रक्षक एवं पालक माना गया। नगरों में राममोहन जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति का यह प्रस्ताव था कि यदि बहुसंख्या में सभ्य अंग्रेज लोग[1] भारत में बस सकें तो देश की राजनीतिक उन्नति[2] द्रुततर हो सकती है। राममोहन को भार-तीय गौरव का उतना विश्वास नहीं था जितनी कि सामाजिक सुधारों की चिन्ता उनके विचार इतने सामयिक थे कि उनको अतीत का पराग मुग्ध न कर सका। उनको हिन्दू, मुसलमान या ईसाई धर्म तक सीमित नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे किसी विशिष्ट विचारधारा में बंधे हुए नहीं थे। एक बार इंग्लैंड में उन्होंने यह बतलाया कि कानूनी अभ्यास में मुसलमान बढ़कर हैं इसलिए वे हिन्दुओं की अपेक्षा न्यायाधिकरण के लिए अधिक उपयुक्त हैं। अतएव सन् १८१२ के एशियाटिक जरनल के अनुसार[3] एक अंग्रेज व्यंग्यलेखक ने 'भारतीय सरकार के लिए योजनाएं—नाटक' लिखकर प्रस्ताव रखा था कि राजा राममोहन राय को भारत का गवर्नर जनरल बनाया जाये न्याया-धिकरण के सब पद मुसलमानों को मिलें और मालविभाग के पद हिन्दुओं को तथा पुलिस ईस्ट इण्डिया या इण्डो-ब्रिटेन लोगों के हाथ में रहे।

राममोहन के बाद बंगाल का नेतृत्व समन्वित न रह सका। राममोहन के अनुयायियों में से देवप्रसाद ठाकुर और हरिचन्द्र मुकर्जी ने उनके सामाजिक सुधार स्वीकार किये, गोविन्दचन्द्र दत्त ईसाई हो गये और रामगोपाल घोष, प्यारीचन्द मित्र, गिरीशचन्द्र घोष आदि नेताओं ने हिन्दू धर्म को ही सम्मान्य घोषित किया। पाश्चात्य सभ्यता का अब निरपवाद स्वागत न होता था। अंग्रेजी पढ़े-लिखे कतिपय प्रतिष्ठित बंगालियों ने भी अंग्रेजी प्रभाव को भारतीय समाज के लिए घातक पाया। फलतः राज-नीतिक-आर्थिक पक्ष सामाजिक-धार्मिक पक्ष से अलग माना गया। समाज की अभ्युन्नति के लिए भारतीय धर्म-रीति में परिवर्तन आवश्यक न समझा जाने लगा। बंगला के प्रथम साहित्यिक उपन्यास 'आलालेर घरेर दुलाल' के लेखक एवं सनातन धर्म के नेता प्यारीचन्द मित्र ने इस बात पर जोर दिया कि विधवा विवाह, बालविवाह, सुरापान आदि एवं

---

१ हिन्दी भाग, पृ० ११८

२ सन् १८१२ के एशियाटिक जरनल में कुछ पर रोष प्रकट करते हुए, श्री आनंद ने राजा राममोहन के विषय में लिखा था :—

He deemed the English more capable of governing his country-men well than the natives themselves. (20)

(*Life and Letters of Raja Ram Mohan Roy*)

३ हिन्दी भाग, पृ० १०६

मूर्तिपूजा विषय सामाजिक-धार्मिक (सोशल एण्ड रिलीजियस)[1] हैं इसलिए वे सरकारी कानून (लैजिस्लेशन) के क्षेत्र नहीं हैं। सन् १८७२ में राजनारायण बसु ने 'नेशनल सोसाइटी' में एक गम्भीर व्याख्यान दिया जिसका विषय था—'हिन्दू धर्म की अन्य सब धर्मों से श्रेष्ठता'। इन्हीं दिनों राजा कमलकृष्ण बहादुर एवं कालीकृष्ण बहादुर ने 'सनातन धर्म रक्षिणी सभा' की स्थापना की और इस विशेष अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती को विशेष निमन्त्रण पर कलकत्ता बुलाया।[2] इसी समय केशवचन्द्र सेन ने रामकृष्ण परमहंस के सदुपदेशों द्वारा नवशिक्षित नवयुवकों के मन में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अनुराग एवं सम्मान जगाने का सफल प्रयत्न किया। यह बंगाली जागृति का दूसरा युग था जिसमें समाज-सुधार का चक्र यूरोप के इधर-उधर घूम कर चमकने की अपेक्षा आत्मसंस्कार द्वारा शीघ्र होने लग गया था।

हिन्दी क्षेत्र में

हिन्दी-क्षेत्र में इस पुनरुत्थानवादी आन्दोलन का श्रेय महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिष्ठित 'आर्य समाज' को है। इसकी कतिपय स्वकीय विशेषताएं हैं। प्रथम तो इसकी प्रेरणा विदेशी प्रभाव न होकर आत्मविश्लेषण है इसलिए यह अंग्रेजी भाषा-संस्कृति को अनावश्यक ही नहीं बाधक समझता है और वेदादि प्राचीनतम आर्य धर्म-ग्रन्थों को आदर्श अनुकरणीय एवं प्रमाण मानता है। दूसरे, समाज की राजनैतिक-धार्मिक दुर्व्यवस्था से सुपरिचित होते हुए भी इसका मूल मन्त्र आत्मगौरव द्वारा राष्ट्र का अभ्युत्थान है। सोते हुए को जगाना ही पर्याप्त है जगा हुआ भोजन की व्यवस्था तो स्वयं कर लेगा। तीसरे माध्यम संस्कृत एवं हिन्दी होने के कारण इसका प्रभाव कतिपय गिने चुने लोगों पर ही न होकर जन-सामान्य पर रहा है। ब्रह्मसमाज के कुछ समय बाद आर्य समाज की स्थापना (सन् १८७५) हुई परन्तु बंगाली चेतना के द्वितीय उत्थान से पूर्व ही समस्त देश में महर्षि दयानन्द का यश फैल गया था। फलतः कलकत्ता सनातन-धर्म-रक्षिणी सभा की प्रतिष्ठा के अवसर पर अहिन्दीभाषी नेताओं ने भी स्वामी दयानन्द को विशेष निमन्त्रण देकर उनका गौरव स्वीकार किया। हिन्दी उपन्यास के प्रथम काल (सन् १८८२ से १९१८) को अधिकांशतः आर्यसमाज (स्थापित सन् १८७५) ही अधिक प्रभावित करता रहा है।

आर्यसमाज के सामान्यतः दो पक्ष माने जा सकते हैं—(i) वैदिक विचारधारा में अटूट विश्वास एवं (ii) समाज में विद्यमान कुरीतियों का वैदिक आलोक में निराकरण। प्रथम पक्ष को पारिभाषिक शब्दावली में 'आस्तिकता' कहा जाता है क्योंकि वेद-निन्दक को 'नास्तिक' की उपाधि हमारे यहां परम्परा से प्राप्त है। आर्यसमाज का तीसरा नियम—'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'—इसी आस्तिकता का आग्रह करता है। हिन्दी-

१ हिस्ट्री आफ पोलिटिकल पृ० २११

२. वही पृ० ५४

क्षेत्र में ही नहीं समस्त देश में आर्यसमाज के इस नियम को निर्विरोध स्वीकार किया गया हिन्दू-मात्र वेद को श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखता है। परन्तु वेद की व्याख्या में मतभेद उपस्थित हुआ। आर्यसमाज ने विद्यमान कुरीतियों को अवैदिक सिद्ध करके उनको परवर्ती प्रमाद-जन्य बतलाया और वैदिक स्फूर्ति समय एवं आत्म गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए उनका त्याग आवश्यक ठहराया। इसके विपरीत सनातन-धर्मी[1] यह कहते थे कि ये प्रथाएं वेदानुमोदित हैं इनका स्वरूप बदल गया है इनको अधिक श्रद्धा से सम्पन्न करने पर ये कुरीतियां न रह जायंगी। अस्तु, 'सत्यार्थ प्रकाश' में इन कुरीतियों और सुधारों पर विस्तार से विचार किया गया है। संक्षेपतः ये सब हैं —

(१) 'विद्याधर्म विरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार'—'भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास' 'ग्रहों का फल' अथवा 'मन्त्र-तन्त्र आदि' ढोंग। (सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय समुल्लास)

(२) 'उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री-पुरुष'— १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयु वाले पुरुष' का विवाह। (वही चतुर्थ समुल्लास)

(३) 'स्वयंवर की रीति'[2]—'जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए— विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता-पिता का नहीं।' (वही)

(४) 'वर्णव्यवस्था भी गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए'—'चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह उसी वर्ण में गिने जावें'। (वही)

(५) 'पुनर्विवाह' अथवा 'विधवा विवाह'। (वही)

(६) 'पोपलीला'—'मूर्तिपूजा' 'तीर्थ' 'पुराणपन्थी' 'श्राद्ध' 'तर्पण' 'तिलक' 'प्रधान' 'गोदान' 'एकादशी' आदि व्रत'। (वही)

(७) वाममार्ग 'कनफटे नाथ गिरि पुरी वन आरण्य पर्वत और सागर' 'शैव वैष्णव कबीरपन्थी दादूपन्थी गोसाईं आदि'। (वही)

---

१ सनातन धर्म का खण्डन कर युग पर ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता लगता है कि बंगाल में जिस प्रकार 'ब्रह्मसमाज' की प्रतिक्रिया सनातन धर्म 'धर्म सभा' के रूप में हुई उसी प्रकार आर्यसमाज के विरोध में हिन्दी-क्षेत्र में सनातन धर्म अग्रसर हुआ होगा।

२ जब से यह स्वयंवर से विवाह न रहा बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के अधीन विवाह होने लगा तबसे क्रमशः आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे यह दुष्ट काम छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें।
(सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास)

आर्यसमाज ने वेदबाह्य मान कर जिन मतों और रीतियों का खण्डन किया उनके विषय में मतभेद स्वाभाविक था। परन्तु जो सम्प्रदाय हिन्दू धर्म से अलग माने जाते थे उनका खण्डन सबको प्रिय लगा सभी हिन्दू नेता इस्लाम और ईसाइमत से हिन्दूधर्म को बचाने में एक-मत रहे अंग्रेजी सभ्यता में कुप्रभाव भी सब लोग स्वीकार करते थे। किशोरीलाल गोस्वामी ने मुसलमानों का मलिन चित्रण किया है। देवकीनन्दन खत्री ने मुसलमान ऐयारों को दुश्चरित्र बेईमान दगाबाज एवं विजयगढ़ राज्य के पतन का मूल कारण माना है। श्यामकिशोर शर्मा ने 'क्रिश्चियनिटी' की तुलना विषैले भयंकर सर्प से की है। परन्तु, जहाँ तक अहिन्दू मतों का सम्बन्ध है उस काल के सभी उपन्यासकार एकमत हैं कि वे हिन्दू धर्म के लिए बाधक हैं उनसे बच कर ही हिन्दूधर्म रक्षित एवं दृढ़ रह सकता है। एक दूसरा पक्ष उन मतों का है जो भारत में जन्म लेकर भी वेद-शास्त्र का विरोध करते थे। इनमें वाम मार्ग मुख्य है अन्य तान्त्रिक मत भी इसके अन्तर्गत हैं। आर्य समाज ने इनका खण्डन किया और सब हिन्दुओं ने इस खण्डन को स्वीकार कर लिया। जैन और बौद्धमत भी वेद-बाह्य हैं परन्तु जैन मत हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल से ही वैष्णव मत का सहचर बन कर रहता आया है इसलिए 'सत्यार्थप्रकाश' में खण्डन होने पर भी किसी उपन्यास में इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा गया प्रत्युत आर्यसमाज से प्रेरणा लेकर लोहना निवासी कृष्णलाल वर्मा ने 'चम्पा' उपन्यास में जैन समाज में सुधार करने का प्रयत्न किया है। बौद्धमत भारत में शेष नहीं रह गया था उसका विकृत एवं दूषित रूप ही अनेक मत-सम्प्रदायों में प्रचलित हो गया था।

वेद के अनन्तर दूसरा प्रमाण पुराण है। वैष्णव एवं शैवमत अपनी शक्ति पुराणों से ही संचित करते हैं। 'सत्यार्थ-प्रकाश' में एकादश समुल्लास में पौराणिकों की तुलना ईसाई पोपों से करके पुराणपन्थी को पोपलीला के समकक्ष माना गया है। समाज की अनेक कुरीतियाँ जिनके विरोध में आर्यसमाज ने आवाज उठाई थी पुराण से ही अपना उद्गम मानती हैं। अस्तु आर्यसमाज का सबसे बड़ा विरोध हिन्दुओं ने पौराणिक रीतियों के खण्डन पर किया। बंगाल में 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना पाश्चात्य उपन्यास से हुई थी इसलिए राममोहन के बाद आस्थाविश्वासी हिन्दुओं ने 'सनातन धर्म' नाम से अपना संगठन किया 'आर्य समाज' शुद्ध भारतीय आन्दोलन है फिर भी इसके खण्डन से बचने के लिए पौराणिक हिन्दुओं ने 'सनातन धर्म' नाम से ही अपनी रक्षा करनी चाही।

उपन्यास-साहित्य

आलोच्य-काल की प्रौढ़ता में अधिकतर सामाजिक उपन्यास वैदिक और पौराणिक अथवा आर्यसमाजी और सनातनधर्मी विचारधारा का विरोध ही चित्रित करते हैं। एक ओर ईसाई अपनी कहानियाँ घुमा-घुमा कर अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे दूसरी ओर हिन्दुओं ने अपने प्रतिपादन तथा इतर के खण्डन में रोचक कथाएं रच कर उपन्यास के विकास में योग दिया। अस्तु, विचारधारा की दृष्टि से उन सामाजिक

उपन्यासों के तीन वर्ग बन सकते हैं —(क) आर्यसमाजी (ख) सनातनी और (ग) सामान्य-सुधारवादी। आर्यसमाजी उपन्यासकारों में श्यामकिशोर वर्मा, कृष्णलाल वर्मा और रूपदत्त शर्मा के नाम लिये जा सकते हैं। सनातनी उपन्यास-लेखक किशोरीलाल गोस्वामी, जगत्प्रसाद गुप्त और लज्जाराम शर्मा आदि हैं। शेष सुधारवादी उपन्यासकारों में रामजीदास वैश्य, अयोध्यासिंह उपाध्याय, व्रजनन्दन सहाय, मन्नन द्विवेदी आदि मुख्य हैं।

सामाजिक उपन्यासों का विषय-वस्तु की दृष्टि से दूसरा वर्गीकरण भी हो सकता है। 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२), 'नूतन चरित्र' (सन् १८८६), 'नूतन ब्रह्मचारी' (सन् १८८६), 'निस्सहाय हिन्दू' (सन् १८९), 'सौ अजान और एक सुजान' (सन् १८९१-९२), 'सुन्दर सरोजिनी' (सन् १८९३) आदि उपन्यासों में सामाजिक जीवन का खण्डन-मण्डन नहीं है, प्रत्युत व्यवहारमोहित रोमाण्टिक प्रेम, बनावटी जीवन आदि के यथार्थ चित्र हैं। वे जीवन का चक्कर ही चलाते रहे। आगे चलकर विचार-धारा में मोड़ आया जिसका प्रारम्भ किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं से होता है। इनमें 'सभ्य-समाज' और 'सनातन समाज' का तुलनात्मक चित्रण प्रारम्भ हुआ। मन्नन द्विवेदी युग-परिवर्तन के प्रकाश-स्तम्भ हैं।

अस्तु, प्रेमचन्द-पूर्व-युग के सामाजिक उपन्यासों का अध्ययन निम्नलिखित व्यवस्था के अनुसार करना अधिक समीचीन होगा —

(क) 'परीक्षा गुरु' से पूर्व
(ख) 'परीक्षागुरु'
(ग) 'परीक्षा-गुरु' की परम्परा
(घ) नव जागरण के उपन्यास सनातन धर्मी, आर्यसमाजी, सामान्य सुधारवादी।

'परीक्षा गुरु' से पूर्व

बंगला और हिन्दी में उपन्यासों का प्रारम्भ सामाजिक रचनाओं से हुआ। यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाश्चात्य संस्कृति, साहित्य और व्यक्तियों के सम्पर्क में बंगालियों का जीवन का कुछ अंश बदलता जा रहा था, जिसको तत्कालीन धार्मिक-सामाजिक नेताओं ने पसन्द न किया। फलतः इस 'नव' जीवन को लक्ष्य करके कुछ उत्साही लेखकों ने 'नक्शा' या 'नकल' शैली पर व्यंग्य-मिश्रित हास्यरसपूर्ण सामाजिक चित्र अंकित किये। 'नव-बाबू-विलास' (सन् १८२५) इस वर्ग की प्रसिद्ध रचना है। इसके लेखक प्रमथनाथ शर्मा अथवा भवानीचरण बन्द्योपाध्याय थे। 'नव बीबी-विलास', 'दूती-विलास' आदि रचनाएँ उसी अनुकरण पर हैं। इसी वर्ग की परन्तु कुछ पूर्व की रचना 'बाबुर उपाख्यान' (सन् १८२१) 'समाचार-दर्पण' साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित हुई थी। इस प्रकार 'बाबू' और 'बीबी' को लक्ष्य कर के लिखी गईं इन रचनाओं में सभ्य समाज पर व्यंग्य है। कला में ये रचनाएँ नक्शा साहित्यिक

सुरुचि प्रदान नहीं करतीं 'नव-बाबू-विलास' में तो कतिपय प्रसंग अश्लील बन गये हैं।

कुछ दशाब्दियों बाद सामाजिक रचनाओं का दूसरा क्रम दृष्टिगत होता है। इसमें सस्ते व्यंग्य के स्थान पर गम्भीर दोष-निर्देश था इसके लेखक समाज-सुधार की भावना से साहित्य-क्षेत्र में आये थे। इन रचनाओं को साहित्यिक उपन्यास का पद प्राप्त हुआ। टेकचन्द ठाकुर अथवा प्यारीचन्द मित्र का 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५८ ई०) इस वर्ग की प्रथम एवं मूर्धन्य रचना है। हिन्दी के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यासों से 'आलाल' का घनिष्ठ साम्य है।

आलालेर घरेर दुलाल

'आलालेर घरेर दुलाल' बंगला का प्रथम उपन्यास है। इसके लेखक प्यारीचन्द मित्र का जन्म सन् १८१४ ई० में कलकत्ते में हुआ था। बंगला, फारसी और अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे सन् १८३६ ई० में पब्लिक (कालान्तर में 'इम्पीरियल') लाइब्रेरी में नियुक्त हो गये और मुख्य लाइब्रेरियन एवं सेक्रेटरी पद पर पहुँचे। कालाचांद सेठ के साथ उन्होंने 'कालाचांद सेठ एण्ड कम्पनी' नाम से व्यापार भी प्रारम्भ किया जो १८५५ ई० में 'प्यारीचांद मित्र एण्ड सन्स' नाम से चलने लगा। सन् १८५४ ई० से प्यारीचांद मित्र ने एक 'मासिक पत्रिका' निकाली जो 'सर्वसाधारण विशेषत अल्पशिक्षिता महिलाओं' के लिए थी। इसी पत्रिका में धारा प्रवाह रूप से 'आलालेर घरेर दुलाल' छपा था इसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १८५८ में हुआ।

बंगला साहित्य की दृष्टि से 'आलालेर घरेर दुलाल' का दो प्रकार का महत्व है। इससे पूर्व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की संस्कृत-बहुला बंगला भाषा साहित्य में प्रतिष्ठित थी परन्तु 'मासिक-पत्रिका' और विशेषत 'आलालेर घरेर दुलाल' ने 'लोक-प्रचलित सहज 'बंगला' का सूत्रपात किया। यह 'आलाली भाषा' कहलाई। बहुत समय तक 'ईश्वरचन्द्री' और 'आलाली' भाषाओं का विरोध चला। जिसका समन्वय 'बंकिमी' भाषा में हुआ[१]। 'आलाल' की रचना भाषा की दृष्टि से युगान्तकारिणी है। दूसरा महत्व यह है कि 'आलालेर घरेर दुलाल' बंगला का प्रथम उपन्यास है जो सामाजिक उपन्यासों में आज भी अपाय विषय के कारण सम्मान प्राप्त करता है। इसका द्वितीय संस्करण सन् १८७० में निकला था। सन् १८८२-८३ में नरेन्द्रनाथ मित्र ने 'दि स्पॉइल्ड चाइल्ड' नाम से और सन् १८९३ में जी० डी० ओस्वेल ने 'दि स्पॉइल्ड चाइल्ड ए टेल आफ हिन्दू डोमेस्टिक लाइफ' नाम से इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। हिन्दी में 'आलालेर घरेर दुलाल' का कभी अनुवाद हुआ हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'आलालेर घरेर दुलाल' की अंग्रेजी में 'प्रीफेस' और बंगला में 'भूमिका' लेखक द्वारा ही लिखी गई है। अंग्रेजी प्रीफेस में लेखक ने इस रचना को 'मौलिक उपन्यास' ('ओरिजिनल नावेल') तथा अपने ढंग की प्रथम रचना ('दि फर्स्ट वर्क आफ दि काइंड') बतलाया है। इसका उद्देश्य सामान्यत नागरिक जीवन और विशेषत हिन्दू-

१. श्री शिवनाथ शास्त्री : रामतनु लाहिड़ी ओ तत्कालीन बंगसमाज, पृ० १५१

समाज के रीति रिवाज का चित्रण करते हुए बच्चों के सदोष विकास, विद्यमान शिक्षा एवं धार्मिक संस्कृति का वर्णन था। बंगला भूमिका में उसने बतलाया है कि जिस देश में अधिकांश लोग पुस्तकादि पढ़ने में समय यापन नहीं करते वहां उपन्यासादि का विशेष आदर होता है। इसी को लक्ष्य करके उसने उक्त उपन्यास की रचना की है। पुस्तक को पढ़कर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि लेखक का उद्देश्य गम्भीर एवं रचनात्मक है। वह तत्कालीन हिन्दू-समाज की दुर्दशा का मूल कुशिक्षा में पाता है जिसके कारण आत्म-संस्कार सम्भव नहीं हो पाता। कुशिक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व माता-पिता का अनुचित लाड़-प्यार है और गौण है शिक्षकों की शोचनीय दशा।

'आलालर घरेर दुलाल' में १० अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में बाबूराम बाबू का परिचय और उनके एकमात्र पुत्र एवं उपन्यास के नायक मतिलाल की बचपना, संस्कृत तथा फारसी शिक्षा का वर्णन है। फिर उसकी अंग्रेजी शिक्षा के निमित्त कलकत्ता नगर में अंग्रेजी शिक्षा का वर्णन किया गया है। नायक कुसंग में पड़ गया, पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। प्रसंगतः कलकत्ते की पुलिस, न्यायालय आदि का चित्रण आ गया है। मतिलाल के विवाह प्रसंग से बंग-समाज की रीति प्रथाएं अंकित की गई हैं। बहु विवाह, श्राद्ध आदि की चर्चा प्रसंगवश आ गई है। मुस्लिम और मुकद्दमे, झगड़े और फिसाद, रिश्वत और बेगार, जमींदार और सामाजिक जीवन विषय विवेचना के स्थल रहे हैं। अन्त में मतिलाल वाराणसी चला जाता है और सत्संग से चित्त-शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य यह दिखलाना है कि जमींदार सम्पत्ति शालियों के पुत्र लाड़-प्यार के कारण अच्छी शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। अपना उल्लू सीधा करने के लिए लोग उनको कुमार्ग की ओर ले जाते हैं। अन्त में जब पाप का घड़ा भर जाता है तब आंख खुलती है परन्तु उस समय भी चित्त-शुद्धि के बिना शान्ति नहीं मिल सकती और चित्त-शुद्धि का एकमात्र उपाय सत्संग है। उपयुक्त शिक्षा और सत्संग, मनुष्य का संस्कार केवल इन्हीं दो से होता है। इनके अभाव में मन संस्कार से वंचित ही नहीं रहता विकार की ओर भी अवश्य चला जाता है क्योंकि मन स्थिर नहीं रह सकता यदि सन्मार्ग की ओर न ले जायेंगे तो कुमार्ग की ओर चला जाएगा। आलाल अर्थात् धनसम्पन्न व्यक्तियों की सन्तान इसी प्रकार दुर्लालित बन कर बिगड़ जाती है।

भाग्यवती

'आलालर घरेर दुलाल' (सन् १८५८ ई०) और 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२ ई०) के बीच बंगभाषा में बंकिमचन्द्र[1] के ऐतिहासिक उपन्यास तथा हिन्दी में दो सामाजिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं—'भाग्यवती' तथा 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती'। पंजाब के प्रसिद्ध हिन्दी भक्त एवं सामाजिक नेता पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी की 'भाग्यवती' (सन् १८७७ ई०) को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी का प्रथम उपन्यास बतलाया है। फुल्लौरी जी साहित्यिक नहीं थे मूलतः समाज-सुधारक थे। 'भाग्यवती'

---

१ इन उपन्यासों का उल्लेख द्वितीय अध्याय में आ चुका है।

की रचना उन्होंने इस उद्देश्य से की थी कि उसको पढ़ने से 'भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो'। इस रचना को नवीन शैली का 'उपन्यास' कहने में संकोच होगा। नायिका भाग्यवती ही नहीं सभी पात्रों में आदर्श गुणों की स्थापना की गई है। आगे चलकर धार्मिक पृष्ठभूमि पर जो सामाजिक उपन्यास लिखे गये उनमें सत्-असत् का द्वन्द्व एवं चरित्रांकन का प्रयत्न दिखलाई पड़ता है। अस्तु यदि सहज एवं स्वाभाविक शैली में समकालीन जीवन का वैयक्तिक दृष्टिकोण से यथार्थवादी चित्रण आधुनिक उपन्यास की कसौटी है तो 'भाग्यवती' को उस अर्थ में स्थान देना सम्भव न हो सकेगा।[1]

एक कहानी, कुछ आपबीती कुछ जगबीती

'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अपूर्ण रचना का प्राप्तांश है। यद्यपि इसका उतना ही भाग मिलता है जो 'कवि-वचन-सुधा' (वैशाख संवत् १६३३ वि.) में छप गया था फिर भी उससे लेखक की योजना का अनुमान लगाया जा सकता है। यह कहानी नहीं उपन्यास है। आत्मकथात्मक शैली में होने के कारण इस रचना से आत्मकथा की भी गन्ध आ सकती है। लेखक ने इसका वर्गीकरण 'खेलों' में किया था प्राप्तांश केवल 'प्रथम खेल' मात्र ही है। इस पृथ्वी और आकाश के बीच ईश्वर ने जो सृष्टि की है वह अत्यन्त रहस्यमयी है। यही रहस्य इस 'खेल' की कुंजी है जिसका संकेत शीर्षोद्धृत दोर से मिलता है :—

> कर्मोंने क्या क्या गुल खिलाती है क्या क्या ?
> बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे ?

'प्रथम खेल' में ४ पैराग्राफ हैं। प्रथम पैराग्राफ में नायक अपना परिचय देता है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त नाटकीय है 'हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या किसी का रोना हो पढ़े चलिए जी बहलाने से काम है'। वह 'जवानी के उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखबर, अपनी रसिकाई के नशे में मस्त दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ' है और किशोरावस्था की लहर में प्रेम को भली भाँति पहचानता है। दूसरे, तीसरे और चौथे पैराग्राफों में उन 'मुफ्तखोरे सिफारशियों' (खुशामदियों) का वर्णन है। यौवन धनसम्पत्ति अधिकार, और अविवेक ये चार दुर्गुण जहां इकट्ठे हो जाते हैं वहां फिसलन ही नहीं मुँह के बल गिरना है। नायक में ये चारों दुर्गुण हैं जिनके कारण उसे अपना भावी जीवन विपादमयी परिस्थितियों में बिताना पड़ता है। 'भाग्यम' का नायक मतिलाल अनुचित लाड़-प्यार से बिगड़ गया था और 'परीक्षा-गुरु' का नायक मदनमोहन अविवेक के कारण बरबाद हो गया। इस कथा का नायक चारों दुर्गुणों का केन्द्र है उसके सामाजिक जीवन में भी यावत सत्य झांक रहा है संसार में मला ऐसे अविवेकी युवक जन्म

---

१ जो निष्कर्ष 'भाग्यवती' के विषय में निकलता है वह 'देवरानी जिठानी की कहानी' के विषय में भी सच है।

बैठे रहते हैं जिनके पास धन तथा अधिकार का दंभ है और इसी कारण वो अपना अमूल्य जीवन मिट्टी में मिला देते हैं। बंगला उपन्यास की अपेक्षा भारतेन्दु की रचना में वास्तव तत्त्व अधिक है जो गौरव का विषय है। 'परीक्षा-गुरु' का नायक किशोर नहीं प्रौढ़ युवक है इसलिए उसके जीवन में महफ़िल और शराब तो है पर विलास और वासना नहीं। परन्तु प्रस्तुत नायक पर 'चमेली जान वारती है और' देख दिया तड़प रही है क्योंकि वह इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भाँति पहचानता है। नायक के पतन की यह कहानी वस्तुतः पूर्ववर्ती बंगला उपन्यास और परवर्ती हिन्दी उपन्यास से अधिक 'जी बहलाने' वाली होती।

भारतेन्दु की इस रचना में सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण है। उस युग में ऐसे रईसों की कमी नहीं थी जो रात-दिन जीवन का सुख भोगने के लिए कर्ज ले-लेकर दीवानखाने को मुसाहिबों की जमात से सजाया करते थे। इन दरबारियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे दलाल बजाज जौहरी मसूए सभी पंथ एकसे और स्वामि भक्त बनते थे। कोई रूप की तारीफ करता था कोई गुणों की। किसी को अंगूठी पसन्द आई किसी को कबूतर। जो बहुत अन्तरंग हैं वे कर्जे दिलाने का प्रबन्ध करते हैं। पैसा उधार लेना और खर्च करना—दोनों ही में मुसाहिबों का कमीशन बंधा हुआ है। जिस वस्तु की खरीद में जितना अधिक कमीशन मिले उतनी ही अधिक प्रशंसा उसकी दीवानखाने में होती है। इस वातावरण का समर्थन श्रीनिवासदास की रचना से भी होता है।

परीक्षागुरु

हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' के लेखक लाला श्रीनिवासदास (सन् १८५१ से सन् १८८७ ई० तक) का जन्म मथुरा के एक माहेश्वरी वैश्य परिवार में हुआ था। ये बड़े मेधावी भाग्यवान तथा व्यवहारकुशल थे। किशोरावस्था पार करते ही ये दिल्ली की कोठी के प्रधान बन गये। समाज और सरकार दोनों में इनका बड़ा सम्मान था। आप दिल्ली के म्युनिसिपल कमिश्नर तथा आनरेरी मैजिस्ट्रेट भी नियुक्त किये गये। लालाजी बड़े मनस्वी थे विद्या में इनका असाधारण अनुराग था। विश्व इतिहास साहित्य और नीति का अथाह भण्डार इनकी रचनाओं में भरा पड़ा है। 'परीक्षा गुरु' में हिन्दी संस्कृत अंग्रेजी ही नहीं फारसी और अरबी तक के उद्धरणों से उनकी विद्वत्ता का कुछ अनुमान लग सकता है। विश्व-साहित्य और विश्व इतिहास का जितना ज्ञान लाला श्रीनिवासदास की इस रचना में है उतना हिन्दी के किसी उपन्यास में तो मिलना ही नहीं उपन्यासेतर रचना में भी मिलना कठिन है। श्रीमन्त जीवन का सुख वैभव उनको सहज प्राप्त हो गया था। पारिवारिक व्यापार व्यवसाय को दक्षतापूर्वक निभाते हुए इतना गंभीर पाण्डित्य पा लेना अध्यवसाय का ही काम था श्रीनिवासदास में। लालाजी ने चार नाटक और केवल एक उपन्यास की रचना की परन्तु उनका प्रसिद्ध नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' भी अपने क्षेत्र में शिरोमणि है एवं एकमात्र उपन्यास 'परीक्षा गुरु' भी। आपने 'सदादर्श' नामक पत्र निकाला और

समकालीन पत्र पत्रिकाओं में भी आप लिखते रहे।

'परीक्षागुरु'[1] ४१ प्रकरण और २७१ पृष्ठ की रचना है। लेखक ने इसको अंग्रेजी में नावेल' और हिन्दी में संसारी वार्ता कहा है उपन्यास' नाम नहीं दिया। मुख पृष्ठ पर 'परीक्षा गुरु' की व्याख्या लेखक ने 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता' लिखकर की है भीतर कतिपय स्थलों पर इस नाम की व्याख्या सकलित है —

(क) आजकल सच्चे माल की निस्बत नकली या झूठे माल पर ज्यादा चमक दमक मालूम होती है। (प्रकरण ४ पृ० १०)

(ख) परीक्षा हुए बिना किसी को सच्चा मित्र भी नहीं कह सकता। (प्रकरण ५ पृ० ३४)

(ग) भले बुरे मनुष्यों की परीक्षा समय पाकर अपने आप हो जाएगी। (प्रकरण ६ पृ ४१)

(घ) ऊपर से दिखाने वाले लोग अपना मित्र स्वभाव छिपा कर सज्जन बनने के लिए सच्चे सज्जनों के स्वभाव की नकल करते हैं परन्तु परीक्षा के समय उनकी कलई तत्काल खुल जाती है। (प्रकरण ११ पृ० ८०)

(ङ) जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती वह एक बार की परीक्षा से भली भांति मन में बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग 'परीक्षा (को) गुरु' मानते हैं। (प्रकरण ३७ पृ० २७१)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि कौन हितैषी मित्र है और कौन बनावटी मित्र है इस परख की समझ दूसरे के उपदेश से प्राय नहीं आ पाती परन्तु कठिन समय आने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सच्ची मित्रता और झूठी मित्रता में क्या अन्तर है तब व्यक्ति परीक्षा से ही स्वयं शिक्षा लेता है। अत मनुष्य को विवेक सिखाने वाला सबसे बड़ा गुरु कठिन समय की परीक्षा है। पुस्तक का ११वां प्रकरण 'मित्र परीक्षा' ही है। रहीम कवि के शब्दों में—

रहिमन बिपदा हू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जान पड़े सब कोय॥

इसी विपदा' को इस रचना में 'परीक्षा' कहा गया है। 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता' इस वाक्यांश में अनुभव ही 'परीक्षा' है 'उपदेश' ही 'गुरु' का कर्म है 'संसारी वार्ता' रचना की जाति है। मुख-पृष्ठ पर लेखक ने विदुर नीति से इस रचना का सार-स्वरूप जो श्लोक उद्धृत किया है उसका भावार्थ है कि ऐश्वर्य में एक प्रकार का मद होता है जो मदिरा आदि के मद से अधिक बलवान है क्योंकि दूसरे मद तो कुछ काल की अवधि पर उतर जाते हैं परन्तु ऐश्वर्य का मद तब तक नहीं उतरता जब तक कि मनुष्य पर घोर विपत्ति न आवे। 'परीक्षा गुरु' का आधार

---

[1] द्वितीय बार : प्रकाशक मोतीलाल साह, मन्त्री धाम-धर्म-मिशन (मारवाड़ी ट्रेडर्स ... १११ हरिसन रोड कलकत्ता।

विरक्ति के आने पर ही होश में आता और मित्र-अमित्र की पहिचान करने योग्य बन सका।

'परीक्षा गुरु' की प्रकाशन-तिथि सन् १८८२ मानी जाती है, द्वितीय मुद्रण से पूर्व लेखक का स्वर्गवास (सन् १८८७) हो चुका था क्योंकि द्वितीय बार प्रकाशित प्रति में लेखक का नाम 'स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदास' लिखा है। सन् १८८४ में लेखक ने इस रचना का समर्पण अपने मित्र 'लाला श्रीराम एम० ए०' को किया था। यह समर्पण अंग्रेजी में है, इससे लाला श्रीनिवासदास की लाला श्रीराम से घनिष्ठ मित्रता (इन्टीमेट फ्रैंडशिप) का पता चलता है और यह भी संकेत मिलता है कि लाला श्रीराम देशवासियों की उन्नति एवं उत्थान में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। यह समर्पण द्वितीय मुद्रण का तो है नहीं, क्योंकि उस समय तक लेखक अपनी इहलीला का संवरण कर चुके थे, प्रथम संस्करण का ही हो सकता है। अतः यह अनुमान युक्तिसंगत होगा कि 'परीक्षागुरु' का प्रकाशन सन् १८८२ में प्रारम्भ होकर सन् १८८४ तक पूरा हुआ था। पुस्तकों पर प्रकाशन-तिथि न होने से यह समस्या उत्पन्न होती है। परन्तु इस का उत्तर उस काल की इस सामान्य प्रवृत्ति में भी मिलता है कि रचनाएं पहिले पत्रिकाओं में छपती थीं फिर कुछ समय बाद पुस्तकाकार प्रकाशित होती थीं। श्रीनिवास दास का 'तप्तासंवरण' नाटक 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में फरवरी १८७४ में छपा था परन्तु उसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १८८१ में ही हुआ। इसी प्रकार 'परीक्षागुरु' सन् १८८२ में छप गया होगा परन्तु उसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १८८४ में पूर्ण हुआ होगा।

इस उपन्यास के विषय में एक प्रश्न यह उठता है कि लेखक ने इसको 'संसारी वार्ता' क्यों कहा, 'उपन्यास' क्यों न कहा। 'उपन्यास' संज्ञा बंगला भाषा में सन् १८६१-६२ ई० से प्राप्त होने लगती है। 'आलाल' (सन् १८५८) के प्रकाशन-काल तक 'नॉवेल' के अर्थ में 'उपन्यास' नाम निश्चित हो गया था। हिन्दी में भारतेन्दु ने "नॉवेल' के अर्थ में 'उपन्यास' नाम स्वीकार कर लिया था। सन् १८७८ की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में 'नाटकोपन्यास' मासिक पुस्तिका का विज्ञापन है जिसमें 'उपन्यास' को 'नॉवेल' का पर्याय माना गया है—'अनेक कृतविद्यों ने बंगला और अंग्रेजी से अच्छे अच्छे नाटकों और उपन्यासों (नॉवेल्स) का अनुवाद करना भी स्वीकार किया है'। यह तो सम्भव नहीं कि लाला श्रीनिवासदास 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के इस प्रवाह से अपरिचित हों और उनको यह ज्ञात न हो कि 'नॉवेल' के अर्थ में 'उपन्यास' नाम चल रहा है। तब यही अनुमान लग सकता है कि अंग्रेजी समर्पण में 'नॉवेल' और हिन्दी मुखपृष्ठ पर 'वार्ता' लिखने से लाला जी ने 'नॉवेल' का हिन्दी-पर्याय 'वार्ता' माना है, 'उपन्यास' नहीं—बंगला से आये हुए 'उपन्यास' नाम की अपेक्षा गुजराती[1] में प्रचलित 'वार्ता' नाम उनको अधिक उपयुक्त लगा होगा। यह 'वार्ता' पुरानी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन

१ गुजराती में अब तक 'नॉवेल' को 'वार्ता' कहा जाता है।

की वार्ता' से इस युग में भिन्न है कि यह 'संसारी' है अर्थात् इसके वर्णन 'रियलिस्टिक' हैं और 'कान्टेम्पररी' भी'। श्रीनिवासदास की यह रचना 'अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक' थी, उसके लिए बंगला का नाम रखना आवश्यक नहीं था। यदि बंगला से अनुवादों का इतना तूफान न आया होता और प्रथम मौलिक रचना 'परीक्षा गुरु' की परम्परा में अन्य मौलिक पुस्तकें लिखी गई होतीं तो 'नॉविल' के लिए हिन्दी में 'संसारी वार्ता' नाम का चल जाना असम्भव नहीं था। भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में 'नॉविल' को 'उपन्यास' ही तो नहीं कहते।

पुस्तक के प्रारम्भ में चार पृष्ठ का 'निवेदन' लिखकर श्रीनिवासदास ने अपनी रचना की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। ये विशेषताएं शैली, कथानक उद्धरण तथा सहायक पुस्तकों से सम्बन्ध रखती हैं।

'परीक्षा गुरु' की शैली मौलिक है। 'नागरी और उर्दू में उस समय तक अनेक तरह की अच्छी अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी थी परन्तु 'इस रीति से कोई नहीं लिखी गई इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी'। इस कथन से यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि 'परीक्षा गुरु' हिन्दी एवं उर्दू में प्रथम मौलिक रचना है। इस से पूर्व 'पुरानी रीति' की पुस्तकें तो बहुत थी परन्तु 'नई चाल' की यह सर्वप्रथम है। इस 'नई चाल' या 'नई रीति' का लक्षण यह है कि पुरानी वार्ताओं में 'अक्सर नायक नायिका वगैरे का हाल क्रम-सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है जैसे कोई राजा बादशाह, सेठ साहूकार का लड़का था उसके मन में इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला' परन्तु इस नई रीति की वार्ता में ऐसा सिलसिला नहीं होता। इसमें बातें पहले से कुछ भी नहीं बताई गईं हां पढ़ने वाले धैर्य से, सब पुस्तक पढ़ लेंगे तो अपने अपने मौके पर सब भेद खुलता चला' जायगा। संक्षेप में, इस शैली की वार्ता का प्रारम्भ नाटकीय होता है और कथानक एवं पात्रों का विकास क्रमशः ही चित्रित किया जाता है। नाटक की रीति से इस रीति का भेद बताते हुए श्रीनिवासदास लिखते हैं कि 'नाटकों में जिसका वचन होता है उसका नाम आदि में लिख देते हैं और वह वैराग्राफ उसका वचन समझा जाता है परन्तु इसमें इन्वर्टिडकौमा के भीतर कहने वाले का वचन लिखा जाता है और कहने वाले का नाम वचन के बीच में या अन्त में ⋯ अथवा नाम लिए बिना ⋯ भी काम चल जाता है।' लेखक ने नॉविल की आवश्यकता को ध्यान में रखकर अंग्रेजी चाल पर विरामचिन्हों के प्रयोग पर जोर दिया है।

कथानक की जो विशेषताएं बतलाई गई हैं—दिल्ली के एक कल्पित रईस का चित्र और उस चित्र को 'जैसे का तैसा' (अर्थात् स्वाभाविक) दिखाने का प्रयत्न। ये दोनों विशेषताएँ आधुनिक उपन्यास की हैं, इसमें कल्पना के सहारे तत्कालीन जीवन

---

१ 'निवेदन' में पुरानी वार्ता और नवीन वार्ता का अन्तर और भेद बतलाया गया है (देखिए)

का यथार्थ चित्र अंकित किया जाता है। 'परीक्षागुरु' के कथानक के विषय में यह निर्विवाद है कि यह यथार्थ की भूमि पर स्थित है। परन्तु 'निवेदन' में 'कल्पित' कह कर भी लेखक ने उपन्यास के अंतिम प्रकरण में नायक के मुख से यह इच्छा प्रकट कराई है कि 'सब लोगों के ही निमित्त इन दिनों का सब वृत्तान्त छपवा कर प्रसिद्ध कर दिया जाय'। इस कामना से ऐसा सोचा जा सकता है कि इस उपन्यास की कहानी सच्ची घटना पर आश्रित है। फिर भी 'निवेदन' को प्रमाण मान कर नायक की कामना को शैली-विशेष कह कर ही छोड़ा जा सकता है। डैनियल डिफो के समान उस युग में हिन्दी के प्रायः सभी उपन्यासकार कल्पित कथानक को सत्य के छींटों से पवित्र करके ही पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते थे।

उपन्यास की भाषा 'संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि' रखकर बनाई गई है। हाँ जहाँ कुछ विद्या विषय आ गया है वहाँ विवश होकर कुछ-कुछ शब्द संस्कृत आदि के लेने पड़े हैं। संस्कृत फारसी अंग्रेजी और अरबी की नीतिविषयक कविताओं के मूल उद्धरण फुटनोट में हैं परन्तु कथा में वे अनूदित करके रखे गये हैं इन अनुवादों की भाषा ब्रज है खड़ी बोली नहीं। उद्धरणों के लिए लेखक ने 'महाभारतादि संस्कृत गुलिस्ताँ वगैरे फारसी स्पेक्टेटर लार्ड बेकन गोल्डस्मिथ विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्री-बोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता ली है। इन प्रमुख पुस्तकों के अतिरिक्त अनेकानेक रचनाओं का नाम पूर्वक परन्तु अधिकतर नाम के अभाव में ही 'परीक्षागुरु' पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बंगला में किसी ग्रन्थ का लेखक ने न तो नाम लिया है और न प्रभाव ही मालूम पड़ता है। रचना की जाति 'मंगाठी बातों' गुजराती प्रभाव सूचित करती है, सम्भव है व्यापार करने के कारण या जाति से माहेश्वरी होने के कारण श्रीनिवासदास का गुजराती जीवन और साहित्य से निकट सम्पर्क रहा हो।

दिल्ली में लाला मदनमोहन नाम के एक रईस थे जिनके घराने की समाज तथा बाजार में बड़ी प्रतिष्ठा थी। परन्तु मदनमोहन दुर्बल व्यक्ति थे। युवावस्था से ही उनकी सभा में कुछ ऐसे लोगों का आना जाना हो गया जो उनकी झूठी प्रशंसा करके उनसे मनमाना रुपया ऐंठ ले जाते और स्वयं गुलछर्रे उड़ाते थे। इन दुनियादारों में मास्टर शिम्भूदयाल और मुन्शी चुन्नीलाल मुख्य थे। प्रतिदिन ऐयाशी की नई-नई चीजें खोजने कामों पर अमीरी पानी की जमा-खर्च का कभी कोई हिसाब न होता था। नायक के एक मित्र लाला ब्रजकिशोर वकील भी थे जो बड़े नामवर ईमानदार व्यवहारकुशल एवं विद्वान् थे। अनुमान से जान पड़ता है कि ब्रजकिशोर में स्वयं लेखक का व्यक्तित्व झाँक रहा है। ब्रजकिशोर नायक को हर कदम पर समझाते और लक्षण बुरे बताते फिर भी नायक पर उनके उपदेश का कोई असर न होता था। अन्त में नायक बिगड़ता चला गया। बाजार में उसकी साख न रही लोगों ने समझा इसका दिवाला निकलना चाहता है। हर मकान कुर्की में आ गया नायक गिरफ्तार हुआ हवालात में उसे बन्द रहना

पड़ा। उस विषम परिस्थिति में सब स्वार्थी मित्र कोई न कोई बहाना करके खिसक गये साहूकारों ने पैसे का तकाजा किया। काम आये केवल ब्रजकिशोर जिन्होंने नायक का उद्धार कराया। उस विपत्ति की परीक्षा में नायक को विवेक हुआ उसे पता चला कि सच्चा मित्र तो वही है जो विपत्ति में काम आता है। 'परीक्षा' उसकी गुरु बन कर उसको समझदार बना गई, जिससे उसका भावी जीवन सावधानी से कटा।

उपन्यास में दो पात्र मुख्य हैं—नायक मदनमोहन और आदर्श ब्रजकिशोर। कथानक का समस्त आधार मदनमोहन का जीवन है इसलिए ब्रजकिशोर का व्यक्तित्व सबल होते हुए भी नायक-पद मदनमोहन को ही प्राप्त होता है। मदनमोहन की किशोर अवस्था की कुछ झलक हमको बाद के वर्णन में मिल जाती है। परन्तु हमारे सामने वह प्रौढ़-युवक के रूप में उपस्थित होता है। वह दो नन्हें-नन्हें बच्चों का पिता है। उसके माता-पिता जीवित नहीं हैं। उपन्यास में नायक का कुछ ही दिनों का जीवन चित्रित किया गया है। वह अमीर है इसलिए उसके पास ऐश के सिवाय और क्या काम है'। वह अत्यन्त दुर्बल है। उसे न मित्र-अमित्र की पहिचान है न हित-अहित का ज्ञान जिस तरह खुशामदी लोग उसे बहका देते हैं उसी तरह वह मुड़ जाता है। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी उसका झूठा दंभ है। प्रशंसा करके चाहे उसके प्राण ले लीजिए। स्वयं कर्ज लेकर दूसरों को कर्ज देने में वह समझता है कि उसने अपनी प्रतिष्ठा रख ली। चाहे जितना पैसा खर्च हो जाय परन्तु बात उसी की रहे—यही उसका आदर्श है। भड़क कर वह ब्रजकिशोर को घर से निकाल देता है परन्तु 'लाला ब्रजकिशोर के गये पीछे मदनमोहन के जी में कुछ-कुछ पछतावा सा हुआ—सोच विचार में बड़ी देर बैठे रहे परन्तु मन की निर्बलता से कोई बात निश्चय न कर सके'[1]। मदनमोहन के दुर्बल स्वभाव को उसकी पत्नी तक समझती है परन्तु उसे यह भी विश्वास है कि ब्रजकिशोर के कारण सब कुछ ठीक रहेगा। मदनमोहन को हिन्दी फारसी और अंग्रेजी की शिक्षा मिली थी परन्तु उसको सत्संगति न मिल पाई, 'और सत्संग बिना चित्त पर असर नहीं होता'। अस्तु 'बचपन की वरम शिम्भूदयाल और और चुन्नीलाल आदि की संगति द्रव्य और अधिकार के मद में ऐसा चकचूर हुआ कि लोक-परलोक की कुछ खबर न रही"[2]। नायक का व्यक्तित्व इतना दुर्बल है कि ब्रजकिशोर के उपदेश भी वह सुनता है और खुशामदियों की सलाह भी। उसे भड़का दीजिए वह रुष्ट हो जायगा उसकी तारीफ कर दीजिए वह पिघल जायगा। न उसके व्यवसाय में कोई हिसाब किताब है न जीवन में। उसमें कामना (विश) है, इच्छा (डिजायर) निश्चय (डिटरमिनेशन) और क्रिया (एक्शन) नहीं।

ब्रजकिशोर वकील उपन्यास का आदर्श पात्र है। जिस प्रकार नायक केवल दुर्बलता का पुतला है उसी प्रकार ब्रजकिशोर केवल सद्गुणों की प्रतिमा। दोनों एक-

---

१ प्रकरण १६, पृ० १४१

२ प्रकरण ११ पृ० १६६

दूसरे के विपरीत और एक-दूसरे के पूरक हैं मूलतः दोनों भले हैं परन्तु उनके विकास भिन्न-भिन्न हो चुके हैं। मदनमोहन का व्यक्तित्व यथार्थ है गुर्ण से सब प्रकार के प्रभावों के लिए खुला हुआ ब्रजकिशोर आदर्श है दृढ़ एवं निश्चित उसका कोई भी कार्य सावधानी और ईमानदारी से दूर नहीं। इसी आदर्श के कारण अनुमान किया जाता है कि ब्रजकिशोर में लेखक का व्यक्तित्व झलक रहा है। आदर्श के उपरान्त ब्रजकिशोर की दूसरी विशेषता उपदेश-वृत्ति है 'उनकी बातचीत में एक बड़ा ऐब यह था कि वह बीच में दूसरे को बोलने का समय बहुत कम देते थे'[१]। इस बात को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं 'मुझको वकालत के कारण बढ़ा कर बात करने की आदत पड़ गई है और मैं कभी-कभी अपना मतलब समझाने के लिए हरेक बात इतनी बढ़ा कर कहता जाता हूँ कि सुनने वाले उकता जाते हैं'[२]। उचित सम्मान न करते हुए भी नायक मदनमोहन और उनके सब दरबारी मानो ब्रजकिशोर को गुरु मान कर उनसे प्रश्न करते हैं और वे विस्तार से उनका जवाब देते हैं शेष पात्र तो एक छोटा-सा प्रश्न करते हैं उत्तर में ब्रजकिशोर उदाहरण और दृष्टान्त देकर मानो सब की शंकाओं का समाधान करते हैं। विपत्ति आने पर मदनमोहन ब्रजकिशोर के घर गये और स्वभाववश पूछ बैठे—'क्या बातचीत के भी कुछ नियम हैं' (प्रकरण ३)। तत्काल ही ब्रजकिशोर तप स्विनी मुनमा का दृष्टान्त लेकर व्याख्यान देने लग गये। ऐसे स्थल अनेक हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वकील ब्रजकिशोर लाला श्रीनिवासदास की ही प्रतिध्वनि हैं।

ब्रजकिशोर की बुद्धिमत्ता की कोई माप नहीं परन्तु उनके गुणों का संकलन उन्हीं के उपदेशों से किया जा सकता है। वे 'प्रामाणिक सावधान विद्वान् और सरल स्वभाव हैं इनकी अवस्था थोड़ी है तथापि अनुभव बहुत है यह जो कहते हैं उसी के अनुसार चलते हैं'[३]। वे चतुर सावधान सज्जन ईमानदार, कृतज्ञ नीतिकुशल निर्मल एवं धार्मिक हैं। लेखक के अनुसार आदर्श व्यक्ति का मुख्य गुण प्रामाणिकता है। 'प्रामाणिकता अंग्रेजी के 'औनेस्टी' शब्द का अनुवाद है अलेक्जैंडर पोप के अनुसार एक प्रामाणिक मनुष्य परमेश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना है'[४]। ब्रजकिशोर में यह गुण कूट कूट कर भरा हुआ है। उपन्यास के २१वें प्रकरण का शीर्षक भी 'प्रामाणिकता' ही है। मदनमोहन में प्रामाणिकता की कमी थी इसलिए संकट आने पर भी वे दुखी थे ब्रजकिशोर की बुद्धिमानी से हरगोविन्द के कारण प्रामाणिक भाव से रहने में मदनमोहन का घर बैठे[५] सच्चा सुख मिल गया। प्रामाणिकता के बाद परन्तु उससे कम भाव दर्ज नहीं सावधानी है। उपन्यास का सप्तम प्रकरण 'सावधानी' ही है। 'मनुष्य की

---

१ प्रकरण ८ पृ १४
२ प्रकरण ३१ पृ २१७
३ प्र १३ पृ २६६
४ एन औनेस्ट मैन इज दि नौबलैस्ट वर्क आफ गाड
५ प्र ४१ पृ ३१

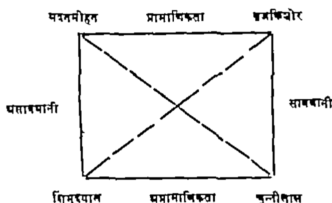
प्रकृति में बहुत-सी उत्तमोत्तम वृत्ति मौजूद हैं परन्तु सावधानी के बराबर कोई हितकारी नहीं है।[1] 'मन्द प्रकृति की प्रबलता रखने वाले अच्छे आदमी भी सावधानी बिना किसी काम के नहीं हैं क्योंकि वे बुरी बातों का अच्छा समझ कर धोखा खा जाते हैं'[2]। सावधानी और चालाकी में अन्तर है 'सावधानी आदमी की दृढ़ बुद्धि को कहते हैं और वह ज्यों-ज्यों लोगों में प्रकट होती है सावधान मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है परन्तु चालाकी प्रकट हुए पीछे उसकी बात का असर नहीं रहता चालाकी होशियारी की नकल है'[3]। प्रामाणिक और सावधान व्यक्ति संसार में सुखी एवं सम्पन्न रहता है। ब्रजकिशोर के ये दोनों गुण उपन्यास के प्रतिपाद्य विषय हैं। ब्रजकिशोर विद्वान् हैं यह तो उनके कथनों से सर्वत्र प्रकट है। उनका स्वभाव सरल है अर्थात् वे ईश्वर के नियम का पालन करते हुए 'मध्यम भाव से 'जीवन व्यतीत' करते हैं। केवल एक बार जब नायक पर विपत्ति आ गई और वे तत्काल ही कुछ न कर सके' वे उद्विग्न दिखाई पड़ते हैं अन्यथा वे सामान्य कमजोरियों से बहुत ऊंचे चित्रित किये गये हैं।

मदनमोहन और ब्रजकिशोर के बाद ध्यान आकृष्ट करने वाले मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिंभूदयाल हैं। ये दोनों कुपथ की मूर्ति हैं। चुन्नीलाल के स्वभाव में चालाकी थी। इसने बड़ी-बड़ी पुस्तकों में से कुछ-कुछ बातें ऐसी याद कर रखी थीं कि नए आदमी के सामने झड़-झाड़ देता था[4]। वह स्वार्थी कपटी चालाक, कृतघ्न और खुशामदी था। स्वार्थ के लिए वह ब्रजकिशोर की बुराई करता है स्वार्थ के ही कारण नायक को सलाह देता है कि वह ब्रजकिशोर के घर जाये और अपनी बहुमूल्य पाकेट चैन उसे भेंट करे। वह आखीर तक नायक का मित्र बना रहता है और दोनों ओर काम बनाता हुआ एक दिन नाराज होकर चला जाता है। उसके रूठ जाने से यह बात साधारणतः प्रकट नहीं होती कि नायक के बुरे दिन आने पर वह उसे छोड़ कर चला गया है। मुंशी चुन्नीलाल में कचहरियों में छोटी नौकरी करने वाले मुंशियों का यथार्थ चरित्र झांक रहा है। मास्टर शिंभूदयाल भी नीच है परन्तु उतना चालाक नहीं। 'वह पहाड़ी आदमियों की तरह टेढ़ी राह में अच्छी तरह चल सकता था परन्तु समभूमि पर उसको आदत न थी'[5]। फिर भी वह चुन्नीलाल से मेलजोल रख कर अपना मतलब निकालता है स्वयं सब तरफ से काम निकालना नहीं जानता। 'परीक्षा' के समय मदरसे की लाचारी बता कर वह नायक से दूर हटता है उसकी नीचता प्रकट हो जाती है। यदि लेखक की शब्दावली का ही प्रयोग करें तो कहा जाएगा कि चुन्नीलाल और शिंभूदयाल दोनों ही प्रामाणिकता रहित हैं, परन्तु चुन्नीलाल सावधान (अर्थात् चालाक) भी है शिंभूदयाल नीच और मूर्ख।

---

१ प्र० ११ पृ० १०२
२. प्र० ७ पृ० ५२
३ प्र ११, पृ १०२
४ प्र० १ पृ ९०
५ प्र० ८, पृ० ९१

'परीक्षा गुरु' उपन्यास के चरित्रों का चतुर्भुज बनाने पर ब्रजकिशोर का कोणक विपरीत (डायगोनली ओपोजिट) शिम्भूदयाल है और मदनमोहन का कोणक विपरीत चुन्नीलाल। इन चारों को इसी नियम से चार कोणों पर स्थित करके प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सावधानी-असावधानी भुजाओं वाला निम्नांकित चतुर्भुज बनेगा —



ब्रजकिशोर की भुजाएं प्रामाणिकता और सावधानी हैं मदनमोहन की प्रामाणिकता असावधानी चुन्नीलाल की अप्रामाणिकता और सावधानी (चालाकी) तथा शिम्भूदयाल की अप्रामाणिकता और असावधानी। इन पात्रों के अतिरिक्त नायक की पत्नी और ब्रजकिशोर के छोटे भाई हरकिशोर का भी कुछ महत्त्व है परन्तु इनका चित्रण कम है। पंडित पुरुषोत्तमदास हकीम अहमद हुसैन बाबू बैजनाथ मिस्टर ब्राइट आदि में अपने अपने वर्ग की कुछ विशेषताएं देखने को मिलती हैं। लेखक चरित्रचित्रण में कुशल है उसने महत्त्व के अनुसार ही व्यक्तित्व की रेखाओं को क्षीण अथवा गुरु बनाया है। उपन्यास में एक ही स्त्री है नायक की पत्नी उस की भी झलक दूर से मिलती है। नागरिक-व्यावहारिक जीवन की रचना होने के कारण परीक्षागुरु में स्त्री-पात्रों को अधिक उचित स्थान न मिल सका।

यदि 'परीक्षागुरु' को कथोपकथन-प्रधान उपन्यास कहा जाय तो कोई आश्चर्य न होगा क्योंकि कथोपकथन का जितना महत्त्व इस उपन्यास में मिला है उतना किसी अन्य उपन्यास में नहीं। २६८ पृष्ठों में से लेखक ने तो कठिनाई से १८ पृष्ठों ही में कुछ कहा होगा—जिसमें स्थानों का चित्रण (प्रकरण १ आध पृष्ठ) कृतज्ञता (प्रकरण २ आध पृष्ठ) ब्रजकिशोर का चरित्र (प्रकरण २१ एक पृष्ठ) आदि भी सम्मिलित है। लेखक ने इस विशेषता को 'नई रीति' माना है और 'निवेदन' में इस रीति की सार्थकता घोषणा की है। पं॰ रामचन्द्र शुक्ल ने 'अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अन्त में अमुक ने कहा' 'अमुक कहने लगे' आदि अभिव्यक्तियों को दोष माना

है—'चिंतित हुई कि इस प्रथा का अनुसरण हिन्दी के उपन्यासों में नहीं हुआ'[1]। इसमें सन्देह नहीं कि संभाषण के मध्य में बकना का संकेत हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं है अतः इस उपन्यास के कथोपकथन पाठक को क्षण भर रोक देते हैं फिर भी कहीं बोली के उस दौर काल में इस प्रकार के प्रयत्न मार्गदर्शक नहीं समझने चाहिए। इस उपन्यास के कथोपकथन चरित्र-चित्रण एवं मत-स्थापन में अत्यन्त सफल हैं। ब्रजकिशोर के सभी कथन तर्कपूर्ण हैं। कथोपकथन की भाषा साहित्यिक एवं परिनिष्ठित है। प्रेमचन्द के समान श्रीनिवासदास पात्रों की आकृति और चेष्टाओं द्वारा उनके कथन को अधिक सजीव बना देते हैं। प्रेमचन्द के समान ही कहीं कहीं लेखक के संभाषण बढ़कर भाषण बनने लगे हैं। प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी आदि उपन्यास लिखते समय अपने व्यक्तित्व को पृष्ठभूमि में रखकर कथानक-निर्माण के अभ्यासी नहीं थे इसलिए वे बीच में पाठकों से बातें करते जाते थे श्रीनिवासदास उस रीति को पसन्द नहीं करते। सिलसिलेवार कथा कहना या अपनी बात कहना उन की नई रीति में त्याज्य समझा गया है कथोपकथन द्वारा ही समस्त रहस्य धीरे धीरे प्रकट करने में नई रीति की सफलता है।

'परीक्षागुरु' की भाषा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी है परन्तु शब्द चयन में ही बनावट में नहीं। बनावट को देखते हुए तो वह 'दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोल चाल' की भाषा है। दिल्ली की इस भाषा की कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं —

(क) बोलचाल की दृष्टि से कुछ शब्दों में स्वर-लाघव है जैसे 'सक्ता' मिल्ना' उन्के' इस्की' 'मुझ्ने' 'विस्तार'

(ख) 'ने' का अनुस्वार प्रयोग है जैसे 'हमनें' 'पढ़ानें'

(ग) 'में' और 'से' विभक्तियों का विशेष उच्चारण है —
'चीज़ों सें' 'विचार में' 'मेरठ सें' 'इन वृत्तियों में सें'।

(घ) कुछ शब्दों का स्थानीय प्रयोग है—'कीमत की कुछ परवा नहीं' 'अकल करनी क्या चाकर है' 'बजाज के हां' 'बारह दरें', 'बाजारी ठेठ से भी' 'आश्रितों की ऐसी बेइज्जती नहीं किया चाहता' 'आगे चलकर' उलटा जाते हैं।

(ङ) साधारण शब्द संस्कृत से तथा फारसी अंग्रेजी आदि से भी आ गये हैं— 'निरवकाश' 'मुनासिब' 'अवकाश' 'वारंट' इन्तजाम' 'पार्लमेंट'।

(च) पद्य साहित्यिक ब्रजभाषा में अनूदित हैं।

(छ) अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण देशज है—'फ़ाशन' (फ़ैशन) फ़ाउ' (फाउन्ट) 'इनसालवन्ट' (इन्सॉल्वेंट)

सामान्यतः इस उपन्यास की भाषा साहित्यिक एवं संस्कृतनिष्ठ है, यथावसर-कथा शब्द या बनावट पर स्थानीय प्रभाव है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा —

'ईश्वर के नियमानुसार मनुष्य जिस विषय में भूल करता है बहुधा उसकी उसी

---

१ हि० साहित्य का इतिहास पृ० ४[illegible]

विषय में वर्णन मिलता है जो विद्वान् इतिहास मालूम होते हैं वह अपनी विद्या में निपुण हैं परंतु सांसारिक व्यवहार नहीं जानते अथवा जान-बूझकर उसके अनुसार नहीं बरतते "... बहुधा धनवान रोगी होते हैं और गरीब नीरोग रहते हैं इसका यह कारण है कि धनवान द्रव्योपार्जन करने की रीति जानते हैं परन्तु शरीर की रक्षा उचित रीति से नहीं करते और गरीबों की शरीर रक्षा उचित रीति से बन जाती है परन्तु वे धनवान होने की रीति नहीं जानते। (प्रकरण ७ पृष्ठ ४६)

यदि उपन्यास समकालीन जीवन का यथार्थ चित्र होता है तो 'परीक्षा गुरु' एक सफल उपन्यास है। इसका कथानक खड़ीबोली और भारतदेश के प्रमुख नगर दिल्ली के एक कल्पित रईस का जीवन अंकित करता है। इस चित्र में तत्कालीन सामाजिक-राष्ट्रीय समस्याओं का स्पर्श भी हो गया है। लेखक के सम्मुख व्यवहार-नीति मुख्य थी इसलिए राजनीति धर्म आदि पर उसने विचार नहीं किया उसका मुख्य बल उन राष्ट्रीय समस्याओं पर है जो सामाजिक-आर्थिक हैं। समस्त कथानक अपव्यय की हानि और मितव्ययता के लाभ दिखाता है। उस युग में बाप-दादा की कमाई से गुलछर्रे उड़ाकर उसे बर्बाद करने वाले रईस प्रत्येक बड़े नगर में थे। खुशामदी उनके पतन में सहायक बनकर अपना काम निकालते रहते थे। यह कहा जा चुका है कि कलकत्ता और काशी के दो [illegible] ने भी अपने उपन्यास के लिए यही कथानक पसन्द किया था। श्रीनिवासदास कुशल प्रबन्धक तथा सफल व्यवहारविद् थे। उन्हीं गुणों का पाठक-मात्र में प्रचार करने के लिए उन्होंने यह उपन्यास लिखा था। लेखक ने उन भारतीयों की दशा पर खेद प्रकट किया है जो इन कारीगरी की निरर्थक चीजों के बदले अपनी दौलत वृथा खोये देते हैं। वे आर्थिक दुर्दशा का रहस्य समझते थे और नौकरी की अपेक्षा व्यापार को अधिक उपयोगी समझते थे[1]। अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए वे अपनी भाषा में उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद आवश्यक मानते हैं "कई बरस तो अकल अंग्रेजी भाषा सीखने में विद्या के द्वार पर पड़े-पड़े बीत[2] जाते हैं। अमीरों की देश-दशा के प्रति उदासीनता[3] समाचार पत्रों की शोचनीय दशा ज्योतिष का मुलाहजा[4] दीपावली पर जुआखोरी आदि समस्याओं पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है। प्रेमचन्द के समान श्रीनिवासदास का विचार है कि भारत में निठल्ले रईस नाम का जो वर्ग निर्मित हो गया है वह बड़ा घातक है "युवक में धनवान हो गरीब बिचारे भूखों मरते हों, पापर, यहाँ दिन-रात के ही हा-हा ही-हा रहेगी परमेश्वर ने धनवानों को मनमानी मौज करने के लिए दौलत दे दी फिर औरों के दुःखदर्द

---

१ प्र ७ पृ ५१
२. प्र ८ पृ ६०
३ प्र ११ पृ ८१
४ प्र० १४ पृ ११

में पड़ने की आपको क्या जरूरत थी"। 'स्वाभाविक झटका लगे बिना——सुधरने की कोई रीति न दिखाई" देती है इसलिए ऐसे बेलगरों पर दैवी विपत्तियाँ अवश्य आवें अन्यथा ये आगम सम्पत्तियों की ढेरी में अकड़े रहेंगे और देश एवं समाज पर भी घोर कष्ट लावेंगे।

'परीक्षागुरु' की शैली नवीन है जिस पर नाटक की प्रभाव अधिक है। लेखक स्वयं पृष्ठभूमि में रहकर पात्रों के पारस्परिक कार्य एवं कथोपकथन द्वारा कथा एवं चरित्र का विकास दिखाता जाता है। उसकी यह शैली नाटकीय है यद्यपि उसने नाटक की 'रीति' से इस 'नवीन रीति' का भेद किया है फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि उस काल में नाटक का शासन था इसलिए समस्त उपन्यास साहित्य पर नाटक का प्रभाव है 'परीक्षा-गुरु' भी इस नियम का समर्थक है। प्रथम प्रकरण मानो प्रथम दृश्य है जिसके पात्रों का परिचय कथोपकथन आरम्भ होने से पूर्व रंग-मंच की शैली पर लेखक ने दे दिया है 'लाला मदनमोहन एक अंगरेजी सौदागर की दुकान में नई, नई फ़ैशन का अंगरेजी असबाब देख रहे हैं लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नी लाल और मास्टर शिंभूदयाल उनके साथ हैं'। अन्यत्र भी परिचय वर्तमान काल की क्रिया में वर्णित है जिसमें रंग-संकेत की गंध आती है 'इस अवसर में मिस्टर ब्राइट अपने असबाब की खरीदारी के लिए लाला मदनमोहन को समझाता है'[1] पाठक के समक्ष उपन्यासकार बहुत कम उपस्थित होता है और वह भी रंग-संकेतों के लिए कथा कहने के लिए नहीं। समस्त उपन्यास 'प्रकरणों' में विभक्त है परन्तु प्रत्येक प्रकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है प्रकरण बदल जाते हैं परन्तु न पात्र बदलते हैं न विषय बदलता है और न घटना-स्थल बदलता है पाँचवें के बाद छठा और सातवाँ प्रकरण निरन्तर है दसवें के बाद ग्यारहवाँ और बारहवाँ प्रकरण उसी निरन्तरता में है। यह निरन्तरता आज के पाठक को खलेगी परन्तु जब ब्रजकिशोर की बात पूरी हो तब तो विषय बदलने और क्षणिक विश्राम के लिए प्रकरण का बदलना ही होगा। प्रत्येक प्रकरण का एक शीर्षक है जो उस प्रकरण का मुख्य विषय समझाने के लिए प्रत्येक शीर्षक के साथ शीर्षोद्धरण है पद्य या गद्य की सूक्ति या उद्धृत सूक्ति है। ये विशेषताएँ बाद के उपन्यासों में भी मिलती हैं। लेखक की रुचि प्रवृत्ति या समाज के चरित्र में कम है वह उस कमी को दृष्टान्तों से पूरी करता है। 'परीक्षा गुरु' बुद्धिवादी उपन्यास है उसमें सहृदयता तो है परन्तु कवित्व नहीं। यह विशेषता इसे समकालीन उपन्यासों से पृथक एवं स्वतन्त्र सिद्ध कर देती है।

'परीक्षागुरु' उपन्यास का उद्देश्य समाज के मदनमोहन का ब्रजकिशोर का अनुवर्ती बनाना है। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (सं० १९१९) में इस उपन्यास का परिचय देते

---

१ प० ११ पृ ८१
२ प्र० ४१ पृ० १०५
३ प्र १ पृ० १

हुए लिखा गया था — ऐसे पंडितों व राजाओं के तिरस्कारों, के कलेजेवालों के प्रेम के फंदे फसानों के बाजारी या बाजार के बैठनेहारों दुनिया का मजा चीखने चाहो कम्युनिस्म का तमाशा देखने चाहो खुशामदियों के गुण देखने चाहो ठगियों का माना सुनने चाहो मामले मुकद्दमा में बहस सीखने चाहो या अपनी मूर्खता को सीखने चाहो तो परीक्षागुरु का आश्रय करो"[1]। वस्तुतः 'परीक्षागुरु' शिक्षामूलक अथवा उपदेश प्रधान उपन्यास है। इसकी रचना एक विशेष नैतिक आधार एवं आदर्श को दृष्टि में रख कर हुई है। यहां 'आदर्श' और 'यथार्थ' का इसका एक नवीन एवं स्वस्थ रूप मिलता है। 'यथार्थ' में चरित्र की दुर्बलता है, कुत्सा, अशुद्धता एवं असुन्दर को चित्रित करने के लिए रुग्ण समाज के पथ प्रपथ पर फैलते हुए नग्न और भिनभिनाती हुई मक्खियों का नाक पर रूमाल रख कर फोटो खींचने की लेखक ने कोशिश नहीं की। जुआ और शराब के प्रसंग आ गये हैं, वेश्या नृत्य करती हुई सामने से निकल जाती है परन्तु इस दुर्बलता के पहलू पर जाकर लेखक पाठकों का भटकाना उचित नहीं समझता। इस संयम का कारण व्रजकिशोर है उसका भय मदनमोहन ही नहीं उसके मुसाहबों को भी एक निश्चित 'स्वतन्त्रता' के नाम किसी 'स्वेच्छाचार' की अनुमति नहीं देता। युवक हो या महिला, बालक हो या वृद्ध किसी के हाथ में 'परीक्षागुरु' की प्रति दे दीजिए आप को संकोच न होगा। यही लेखक का आदर्श यथार्थ है। चरित्र की अनेक दुर्बलताएं हैं परन्तु उनकी धुरी 'मदनमोहन' है जो लेखक की दृष्टि में सबसे बड़ा अभाव है। आजकल के अपव्ययकारी समाजधानी के विभिन्न परिणामों का चित्रण करते हैं श्रीनिवासदास ने उसके कारण और स्वरूप को अंकित किया है। एक डाक्टर ने बताया कि विषूचिका का क्या कारण है, कौन-कौन से चिह्न हैं और क्या उपचार है इसी ने विषूचिका जनित विकारों मल वमन आदि को साकार दिखा दिया। श्रीनिवासदास का स्वस्थ यथार्थ किसी भी साहित्य के लिए गौरव का कारण बन सकता है।

'आलालेर घरेर दुलाल' और 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' से तुलना करने पर 'परीक्षागुरु' अधिक यथार्थपूर्ण एवं दृष्टिकोण में अधिक व्यापक है। टेकचन्द ठाकुर ने बालक मतिलाल के व्याज से धनियों के लाड़-प्यार और कुशिक्षा का वर्णन करके उनकी सन्तान को उन्मार्ग-गामिनी दिखाया है। सामाजिक जीवन के चित्रण की दृष्टि से आलाल अत्यन्त मनोरंजक, सरस एवं व्यापक है फिर भी उसमें लेखक की गम्भीरता अथवा उसकी सूक्ष्म दृष्टि उतनी प्रतिबिम्बित नहीं होती। भारतेन्दु की कहानी अधूरी है उसमें उस धनी किशोर का चित्र है जो खुशामदियों के कारण अपनी धन-सम्पत्ति को गंवा कर बरबाद हो जाता है। श्रीनिवासदास ने न तो लाड़-प्यार के दोष दिखाये हैं और न कुशिक्षा के उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत भारतेन्दु के समान है। वे मित्र और चरित्र की पहचान, आत्मनिर्भरता और सत्यपालन का सबसे उत्तम सीढ़ि समझते

---

१ श्रीनिवास-ग्रन्थावली पृ० ११

है और उनका विश्वास है कि कुसंगति में पड़ा हुआ व्यक्ति उस समय तक सन्मार्ग पर नहीं आ सकता जब तक कि ईश्वर दैवी आपत्तियाँ भेज कर उसकी सहायता न करे। 'परीक्षागुरु' का समस्त वातावरण युवकों के लिए व्यवहार-नीति की शिक्षा में अत्यन्त उपयोगी है। इसीलिए उसमें प्रौढ़ता एवं गम्भीरता है। जीवन का इतना अंश टेकचन्द ठाकुर ने लिया था श्रीनिवासदास उससे आगे बढ़े।

'परीक्षा-गुरु' की परम्परा

'परीक्षा गुरु' का परवर्ती रचनाओं पर प्रभाव पड़ा। बालकृष्ण भट्ट का दूसरा उपन्यास 'सौ अजान और एक सुजान' तो मानो इसी के अनुकरण पर लिखा गया। तुलना करने पर दोनों उपन्यासों में कुछ ऐसी समानताएं हैं जो या तो परवर्ती में पूर्ववर्ती की प्रेरणा सूचित करती हैं या आश्चर्यजनक संयोग। एक में घटनास्थल दिल्ली है, दूसरे में अवध। एक में नायक के पिता यशस्वी चित्रित किये गये हैं, दूसरे में नायक के पितामह (पिता की असमय मृत्यु हो चुकी थी)। दोनों उपन्यासों के नायक वैभव धन के उत्तराधिकारी हैं। दोनों उपन्यासों में लेखक का समाजीय प्रतिनिधि एक-एक बुद्धिमान् पात्र है जो नायक का हितैषी होने के कारण उसको हर समय नीति शिक्षा कर सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करता है। लाला श्रीनिवासदास के प्रतिनिधि लाला ब्रजकिशोर हैं और पंडित बालकृष्ण भट्ट के प्रतिनिधि पंडित चन्द्रशेखर। मुफ्तखोरे खुशामदियों की कुसंगति के कारण नायक इन बुद्धिमानों की उपेक्षा करते हैं, उनका अतुल सम्पत्ति का अपव्यय करते हुए अपने को सबसे बड़ा रईस सिद्ध करना है। सजावट की नई-नई चीजें खरीदी जाती हैं, देश-विदेश के मशहूर और सिद्धहस्त कलाकार और कलाकृतियाँ एकत्र करने में और अपनी प्रशंसा सुनने में नायकों का सारा समय लग जाता है, मदनमोहन को बाबा सुनने की फुर्सत नहीं तो ऋद्धिनाथ को चीठी पर दस्तखत करने का समय नहीं मिलता। ऐश आराम के लिए दोनों उपन्यासों में मशहूर बाग लगे हुए हैं। अपव्यय के अतिरिक्त लेखकों ने नायकों को कोई बुरी लत नहीं पड़ने दी। महफिल बैठती है, संगीत छिड़ता है, नाच होता है परन्तु कोई भी नायक रात्रि बाहर नहीं बिताता। कारण शायद यह है कि दोनों रचनाओं में एकमात्र नारी पात्र सबल और गम्भीर हैं। उधर मदनमोहन की पत्नी और इधर ऋद्धिनाथ की माता। पात्रों का ढांचा भी दोनों उपन्यासों में एक-सा है, मुंशी चुन्नीलाल के समान नन्ददास, हकीम अहमद हुसैन के समान हकीम फीरोज बेग। भट्टजी ने मन्नू, रग्घू और बुद्धू तीनों को इकट्ठा चुन्नीलाल की प्रतिकृति बनाया है। कुछ पात्रों का चित्रण श्रीनिवासदास को अभीष्ट न था, इसलिए उनके उपन्यास में बसन्ता और हुलासीमल न मिलेंगे। दोनों ही उपन्यासों ने आपत्तियों का आह्वान किया है, यद्यपि ये आपत्तियाँ रूप में भिन्न हैं परन्तु जाति में समान होने के कारण धन से सम्बन्ध रखती हैं और नायकों को कानून में जकड़ कर हवालात में भेजती हुई उनको बोध देती हैं। श्रीनिवासदास और बालकृष्ण भट्ट के व्यक्तित्व एवं परिस्थितियों में जो अन्तर था उसकी छाप उनके इन उपन्यासों में होते हुए भी यह स्वीकार

करना पड़ेगा कि 'परीक्षा गुरु' और 'सौ अजान और एक सुजान' कम से कम सहोदर अवश्य हैं।

नूतन ब्रह्मचारी

'नूतन ब्रह्मचारी'[1] मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' के अंकों में सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। तदुपरान्त इसका पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। यह उपन्यास आठ परिच्छेद और ५१ पृष्ठ की एक छोटी-सी पुस्तक है। इसकी रचना इस उद्देश्य से हुई थी कि इसको पढ़ने वाले 'बालक अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर देश को उन्नति के शिखर तक पहुँचावें। परन्तु शिक्षा-विभाग के अधिकारियों ने इसको पाठ्य क्रम में कभी स्थान नहीं दिया। भट्ट जी ने स्वयं इस प्रसंग की चर्चा की है, 'हमारी इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जाएगा कि बालकों के पढ़ने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा-विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धिवाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है... पर गुलेखक के अभिमान में चूर आज तक किसी प्रकार की चाटुकारी न बन पड़ी—तब क्यों शिक्षा-विभाग के पदाधिकारी—इस प्रकार की बालकोपयोगी पुस्तकों को शिक्षा-विभाग में आदर देते'[2]।

'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) और 'नूतन ब्रह्मचारी' (सन् १८८६) के प्रकाशन काल में केवल चार वर्ष का अन्तर है तथापि व्यक्तिगत परिस्थिति एवं दृष्टि भेद से इन दो साहित्यिक उपन्यासों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। भट्टजी प्रयाग कायस्थ पाठशाला कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे उनके सम्मुख उदीयमान किशोरों की उन्नति का सबसे बड़ा प्रश्न था। इसलिए उन्होंने ऐसा उपन्यास लिखा है जो छात्र-छात्राओं को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे। इसके विपरीत श्रीनिवासदास व्यवहार-कुशल व्यापारी म्युनिसिपल कमिश्नर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट थे उनकी दृष्टि प्रौढ़ युवकों पर जमी हुई थी। अस्तु, पाठक-भेद की कल्पना से प्रबन्ध कल्पना भी बदल गई है। नूतन ब्रह्मचारी में कोमलता सरलता एवं सुबोधता का सर्वत्र ध्यान है मानो अपने शिष्यों के समक्ष उनके हितार्थ एक शिक्षाप्रद कल्पित कथा सुना रहा है।

यह कहा जा चुका है कि 'परीक्षागुरु' की कथा-वस्तु बंगला की अपेक्षा गुजराती के अधिक निकट है। कारण दो हो सकते हैं। एक दिल्ली की समीपता से दूरी। दूसरा व्यापारी होने के कारण बंगालियों की अपेक्षा गुजरातियों से लगाव की अधिक घनिष्ठता। बालकृष्ण भट्ट की परिस्थिति नितान्त भिन्न थी। वे प्रयाग के निवासी थे और प्रयाग में ही साहित्य-सेवा करते थे। काशी प्रयाग और वृन्दावन हिन्दी प्रदेश में बंगालियों के केन्द्र रहे हैं। प्रयाग शिक्षा का भी केन्द्र था। अतः प्रयागीय साहित्यिक समाज बंगीय साहित्य से सदा प्रेरणा मानता रहा है। भट्ट जी स्वयं बंगला जानते थे या नहीं यह नहीं कहा जा सकता परन्तु यह निर्विवाद है कि प्रयाग के कारण

---

१ नवीन संशोधित संस्करण सन् १९१२ [illegible] साहित्य-भवन लिमिटेड प्रयाग।
२ सम्पादकीय 'निवेदन' से उद्धृत।

उन्होंने अपने नाविकों को 'वार्ता' न कह कर 'उपन्यास' नाम दिया। 'नूतन ब्रह्मचारी' को प्रथम पृष्ठ पर लेखक ने स्पष्टतः 'उपन्यास' लिखा है।

'नूतन ब्रह्मचारी' की कथावस्तु गुम्फन-शून्य एवं सरल है। एक कथा-भाग से कथानक का निर्माण करके लेखक सुकुमार मति बालकों के प्रति जागरूक दिखलाई पड़ता है। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विट्ठलराव सामान्य स्थिति के धार्मिक गृहस्थ थे। उनके पुत्र का नाम विनायकराव था। एक दिन विनायकराव के यज्ञोपवीत की तैयारी में विट्ठलराव सपत्नीक ठाकुर साहब की गद्दी पर गये हुए थे। पीछे तीन डाकू आ कर उनके घर उतरे। घर पर ब्रह्मचारी विनायक के अतिरिक्त और कोई न था। उसने इन तीनों को अतिथि समझ कर भोले भाव से उनका स्वागत किया और घर में जैसी भी सामग्री थी उससे उनका सब प्रबन्ध किया। डाकुओं का सरदार किसी अच्छे घर का था परि स्थिति ने उसको इस कर्म में डाल दिया था। वह विनायक के निश्छल व्यवहार सरल आतिथ्य एवं ब्राह्मण गृहस्थ के पवित्र घर से इतना प्रभावित हुआ कि उसका मन फिर गया। उस दिन से सरदार की उसके साथियों से खटपट रहने लगी। पन्द्रह वर्ष बाद वे डाकू विनायक के कृपालु ठाकुर साहब की गढ़ी को लूटने आये परन्तु सरदार उनसे सहमत नहीं था। इस पर उनमें हथियार चल गये सरदार को बहुत चोट आई। मरते मरते उसने विनायक को डाके की सूचना दी और अपने प्रति किये गये उस पन्द्रह वर्ष पूर्व के सद्व्यवहार के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। ठाकुर साहब सावधान हो गये थे इसलिए डाकुओं के साथ मुठभेड़ में उनकी विशेष हानि न हुई दोनों डाकू मारे गये।

कथानक में केवल एक कहानी है और केवल दो क्रियाएँ—एक विनायक के यज्ञोपवीत की और दूसरी पन्द्रह वर्ष बाद सरदार की मृत्यु की। बालोपयोगी होने के कारण कथानक सरल सहज एवं स्वच्छ है। वास्तव में कथा से अधिक तो इस उपन्यास में वर्णन है। लेखक ने उत्तर-प्रदेश के स्थान पर दक्षिण के नासिक प्रान्त को घटनास्थल बना कर हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद की सूचना दे दी है। कथा सर्वत्र काल्पनिक है। नासिक के अतिरिक्त कोई भी भौगोलिक स्थान कथा का अंग नहीं है। पिंडारियों के वर्णन से ही कथा के ऐतिहासिक काल पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। ऐतिहासिक वायु मण्डल से स्वतंत्र होने के कारण ही इस उपन्यास को सामाजिक उपन्यासों के वर्ग में स्थान मिलता है।

कहने को तो उपन्यास में छः पात्र हैं—तीन ब्राह्मण और तीन डाकू परन्तु विनायक और सरदार के अतिरिक्त शेष चार पात्रों का कोई विशेष चित्रण नहीं किया गया। विट्ठलराव और उनकी पत्नी राधाबाई आदर्श ब्राह्मण दम्पति हैं 'ये दोनों पति पत्नी एक मन दो तन होते हुए' मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तं मनुचित्तं तेस्तु' पाणिग्रहण के समय की इस आज्ञा को चरितार्थ कर रहे थे'[१]। इसी प्रकार दोनों डाकू सामान्य साहसिक हैं[२] 'दया और प्यार अथवा मित्र भाव तो उनसे कोसों दूर थे और

---

१ दूसरा परिच्छेद पृ० ६९

२ चौथा परिच्छेद, पृ० १८

यही मन में मानती थी कि ये दोनों साक्षात् कृतान्त के सहोदर भाई हैं अथवा पिण्डीभूत क्रूरता और निठुराई के अंशावतार हैं[1]। विनायक और सरदार दोनों का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। लेखक की दृष्टि में विनायक मुख्य पात्र अथवा नायक है। उपन्यास का नामकरण उसी के आधार पर है उसका भोला भाला जीवन भी विशेष अंकन का विषय है एवं आदि से अन्त तक वह उपन्यास में व्याप्त है। सरदार का व्यक्तित्व दुर्बल है उसके संस्कार अच्छे थे परिस्थितियों ने उससे कुकर्म कराये सुसंगति पाकर फिर उसके सुसंस्कार जग गये। आज की दृष्टि से यदि सरदार को नायक मान कर उपन्यास लिखा जाता तो उसमें अधिक आकर्षण रहता क्योंकि सरदार की मानसिक उथल-पुथल और उसका मन भावना कला की सूक्ष्मता में सराहनीय बन जाते विनायक के जीवन में कोई उतार-चढ़ाव नहीं परन्तु सरदार का जीवन राजपथ पर नहीं चल सका था। पिछहत्तर वर्ष के इस काल में उपन्यास की नायक-विषयक मान्यताएँ परिवर्तित होते हुए आज बिल्कुल विपरीत हो गई हैं।

विनायक उपन्यास का नायक है। उसका 'वय अभी आठ वर्ष और तीन या चार महीने का होगा पर देखने से छही वर्ष का मालूम होता था[2]। उसमें शिशु-सुलभ भोलापन था, पौराणिक कथाओं पर विश्वास कर के वह गुहा में राक्षस का निवास और मंथन में रत्नों की प्राप्ति सचमुच मानता था। 'दस के पतले भीतर को धँसे हुए होठों को देख इस बालक में एक प्रकार की दृढ़ता और अपने अध्यवसाय में स्थिरता झलकती मानती थी जो बचपन के बढ़ने के साथ ही अधिक बढ़ती" गई। तब से वह 'ब्रह्मचारी' बना बाल्यावस्था के कुतूहल के बदले एक ऐसे सहज गाम्भीर्य ने विनायक के मन में स्थान पाया जो वयोवृद्ध पुरुषों में बहुधा देखा जाता है[3]। पिता की आज्ञा को अक्षरशः सत्य मान कर विनायक अतिथि-सत्कार के लिए दृढ़ था। डाकुओं को अतिथि समझ कर वह निडर होकर उनका स्वागत करने लगा "मैं इन लोगों की मेहमानदारी ऐसे अच्छे ढंग से करूँ कि पिता के आने पर मेरी बात उज्ज्वल रहे और यह तभी सम्भव है जब इन मेहमानों के मुँह से मेरी प्रशंसा पिता जी सुनेंगे"[4]। उसके निश्छल विश्वासपूर्ण सद्व्यवहार से 'डाकू जिन्होंने बड़े-बड़े बहादुरों से हथियार रखवा लिये थे—उनके सरदार का मन फिर गया और उन लोगों की हिम्मत छूने की न पड़ी'[5]। विनायक के चरित्र की मुख्य विशेषता यह है कि वह सामान्य बालक है, उसकी परिस्थिति नितान्त सामान्य एवं सर्व-जन-सुलभ है इसलिए कोई भी छात्र विनायक के जीवन से शिक्षा लेकर अपने जीवन को उसके साँचे में ढाल सकता है। विनायक के प्रधान गुण भोलापन दृढ़ता अध्यवसाय सत्य एवं निर्भयता है। उसकी

---

१ चौथा परिच्छेद, पृ ३३
२ वही, पृ १०
३ वही पृ० १९
४ वही, पृ ४५
५ छठा परिच्छेद पृ ५०

कोई विशेष कामना नहीं, भौतिक जीवन में औरों से आगे बढ़ जाने की उसकी कोई योजना नहीं। ईश्वर में विश्वास और माता-पिता की आज्ञा का पालन करता हुआ वह कर्मशील उत्साही एवं सत्यनिष्ठ सच्चरित्र पुरुष है। मरणासन्न सरदार के प्रति उसने कितना निर्मल वचन कहा था "यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को क्षमा कर सकता है तो मैं तुमको दिल से क्षमा करता हूं और ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूं कि वह भी तुम्हारे अपराधों को क्षमा करे"[1]।

डाकुओं का सरदार इस उपन्यास का दुर्लभ पात्र है वह केवल दो बार पाठकों के सम्मुख आता है—प्रथम परिच्छेद में तथा अन्त में। लेखक ने उसको इतना कम महत्त्व दिया है कि उसका नाम तक नहीं बतलाया। डाकू बनने से पूर्व वह क्या था आंखों में शील और दया की कोई-कोई समय झलक सी। मालूम[2] होते हुए भी वह लुटेरा क्यों बन गया था—यह लेखक ने नहीं लिखा। उपन्यास से केवल इतना पता चलता है कि उस सरदार के मन से दया स्नेह और सद्-व्यवहार का नितान्त लोप नहीं हुआ था। विनायक की चितवन और बोलचाल में एक अनोखी मिठास भरी हुई है जिसने उसके मन को वश में कर लिया है। "वह बराबर उसी के पीछे पीछे मानो कान पूंछ दबाये चला जाता था"[3]। विनायक के घर आकर उसका मन बिल्कुल फिर गया। जब साथियों ने पूछा—'क्यों सरदार क्या हुक्म है, यहां से कोरे ही जायेंगे क्या' तब सरदार जो सिर नीचा किये कुछ सोच रहा था चौंक कर बोला—"हां आओ बाहर चलो"[4]। जीवन में शायद पहली बार 'सरदार' के आंख में आंसू भर आये और गद्‌गद स्वर से बोला—"—अपने तपोधन पूज्य पिता जी से कह देना कि वो दिन बाद फिर तुम्हारा दर्शन करेंगे"[5]। सरदार के जब अंतिम दर्शन होते हैं तब वह घायल मरणासन्न पड़ा है उसकी अन्तिम इच्छा है कि विनायक के दर्शन हो जायें या उसका यह सन्देश विनायक को मिल जाए कि उसके एक समय के सद्व्यवहार ने सरदार में क्या परिवर्तन कर दिया है वह अपने अपराधों के लिए क्षमाप्रार्थी है और ठाकुर साहब को आज रात के डाके की अग्रिम सूचना देकर बचाना चाहता है। कहते हैं कि सच्चे हृदय से की गई प्रार्थना भगवान् के कानों में अवश्य पहुंचती है। इस नियम से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सरदार ने सच्चे हृदय से प्रार्थना की थी। विनायक उसको मिल गया और पन्द्रह वर्ष पुरानी घटना का स्मरण कराकर सरदार ने विनायक से क्षमा मांगी फिर उसके "अंग-अंग शिथिल और ठण्डे पड़ गये"। इस प्रकार विनायक के दर्शन प्राप्त कर उस सरदार ने प्राण त्याग दिये। इस कथा में सरदार का जीवन-चित्रण विशेष अभीष्ट

१ आठवां परिच्छेद पृ० ५६
२ पहिला परिच्छेद पृ १८
३ छठा परिच्छेद, पृ ४०
४ छठा परिच्छेद पृ ५
५ वही, पृ ६१

नहीं मन में भासती थी कि वे दोनों साक्षात् कृतान्त के सहोदर भाई हैं अथवा मिथ्यीभूत क्रूरता और निठुराई के अवतार हैं[1]। विनायक और सरदार दोनों का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। लेखक की दृष्टि में विनायक मुख्य पात्र अथवा नायक है उपन्यास का नामकरण उसी के आधार पर है उसका भोला भाला जीवन भी चित्रण लेखन का विषय है एवं आदि से अन्त तक वह उपन्यास में व्याप्त है। सरदार का व्यक्तित्व दुर्बल है उसके संस्कार अच्छे थे परिस्थितियों ने उससे कुकर्म कराये कुसंगति पाकर फिर उसके कुसंस्कार बन गये। आज की दृष्टि से यदि सरदार को नायक मान कर उपन्यास लिखा जाता तो उसमें अधिक आकर्षण रहता क्योंकि सरदार की मानसिक उथल-पुथल और उसका सब वर्णन कला की सूक्ष्मता में सराहनीय बन जाते विनायक के जीवन में कोई उतार चढ़ाव नहीं परन्तु सरदार का जीवन राजपथ पर नहीं चल सका था। निःसन्देह वर्ष के इस काल में उपन्यास की नायक-विषयक मान्यताएँ परिवर्तित होते हुए आज बिल्कुल विपरीत हो गई हैं।

विनायक उपन्यास का नायक है। उसका 'वय अभी आठ वर्ष और तीन या चार महीने का होगा पर देखने से छही बरस का मालूम होता था'[2]। उसमें शिशु-सुलभ भोलापन था पौराणिक कथाओं पर विश्वास कर के वह गुहा में राक्षस का निवास और मंदिर में रत्नों की प्राप्ति सचमुच मानता था। 'उस के बन्द भीतर को दबे हुए ओठों को देख इस बालक में एक प्रकार की दृढ़ता और अपने अध्यवसाय में स्थिरता अलबत्ता भासती थी जो बचपन के बढ़ने के साथ ही अवश्य बढ़ती[3] गई। जब से वह 'ब्रह्मचारी' बना बाल्यावस्था के कुतूहल के बदले एक ऐसे सहज गाम्भीर्य ने विनायक के मन में स्थान पाया जो वयोवृद्ध पुरुषों में बहुधा देखा जाता है'[4]। पिता की आज्ञा को अक्षरशः मान कर विनायक अतिथि-सत्कार के लिए दृढ़ था। डाकुओं को अतिथि समझ कर वह निर्भय होकर उनका स्वागत करने लगा 'मैं इन लोगों की मेहमानदारी ऐसे अच्छे ढंग से करूँ कि पिता के आने पर मेरी बात उज्ज्वल रहे और वह तभी सम्भव है जब इन मेहमानों के मुँह से मेरी प्रशंसा पिता जी सुनेंगे'[5]। उसके निश्छल विश्वासपूर्ण सद्व्यवहार से 'डाकू जिन्होंने बड़े-बड़े बहादुरों से हथियार रखवा लिये थे—उनके सरदार का मन फिर गया और उन लोगों की हिम्मत लूटने की न पड़ी'[6]। विनायक के चरित्र की मुख्य विशेषता यह है कि वह सामान्य बालक है, उसकी परिस्थिति नितान्त सामान्य एवं सर्व-जन-सुलभ है इसलिए कोई भी छात्र विनायक के जीवन से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को उसके साँचे में ढाल सकता है। विनायक के प्रधान गुण भोलापन, दृढ़ता, अध्यवसाय, सत्य एवं निर्भयता हैं। उसकी

---

१ चौथा परिच्छेद पृ० ३१
२. वही, पृ० १०
३ वही, पृ० ११
४ वही पृ० ४२
५ दसवां परिच्छेद पृ० ५०

नहीं था, अन्यथा लेखक यह भी बतलाते कि पन्द्रह वर्ष तक सरदार के मन में क्या-क्या द्वन्द्व चलता रहा और विनायक के जीवन से उपदेश लेकर वह संन्यासी क्यों न बन गया। विनायक और सरदार के जीवन का वैयक्तिक चित्रण लेखक ने आदर्श की लेखनी से किया है। न तो संसार में विनायक जैसे ब्रह्मचारी हैं और न सरदार जैसे डाकू। भारत होते हुए भी दोनों अपने गुणों में सामान्य हैं। उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्म अंकन उस युग में सम्भव न था।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास कथा प्रधान है। इसलिए वर्णन तो इस में बहुत हैं परन्तु मनोरंजन अपेक्षाकृत कम। पहिले परिच्छेद में 'वैशाख के महीने में एक जंगल में सांझ' का वर्णन है और दूसरे परिच्छेद में 'गर्मी के मौसिम में प्रातःकाल' का। लेखक ने ब्राह्मण और बड़ोसवीन-समाजवर्णन (छठवां परिच्छेद) का बड़ा भावनामय चित्र अंकित किया है। "उसके स्वच्छ और उज्ज्वल आन बान रीति और व्यवहार के कारण कुम्हला संकुचित और नम्रशील-सी हो केवल हरे कृष्ण इत्यादि नारायण के नामो च्चारण में था बसी और सब ओर से निराश हो मलिनता ने उसकी अग्निहोत्रशाला के धूम का आसरा पकड़ा"[1] आदि वर्णन लेखक पर 'कादम्बरी' का प्रभाव दिखलाते हैं। भट्ट जी की भाषा न तो संस्कृतनिष्ठ ही है और न हिन्दुस्तानी ही। बैसवारी का प्रभाव पूर्व-कालिक क्रिया 'जाय बाद देखी' 'निमोला को पाय' 'मैं विचार किया किया' 'मोल की आहट पाय' आदि में और 'राजी न हुआ चाहते थे' 'आया ही चाहता था' 'ऊपर चढ़ा चाहता था' आदि क्रियाओं में स्पष्ट है। श्रीनिवासदास और बालकृष्ण भट्ट की भाषाओं की तुलना पर पहिली पर [illegible] और दूसरी पर पूर्वी प्रभाव स्थानीय विशेषता के कारण है।

भट्ट जी ने अपने उपन्यास को परिच्छेदों में विभक्त किया है परन्तु कोई-कोई परिच्छेद (जैसे पांचवां) डेढ़ पृष्ठ का है और कोई (जैसे आठवां) ग्यारह का। किसी परिच्छेद पर शीर्षोद्धरण हिन्दी में है (जैसे पहला) किसी के संस्कृत में (जैसे दूसरा पांचवां छठवां सातवां और आठवां) और किसी में है ही नहीं (जैसे तीसरा और चौथा) बीच में केवल एक वैदिक सूक्ति है। कथा बहुत लम्बी है। कथा-शैली पर पारम्परिक घटना का सम्भार उपदेश के हेतु लेखक ने लिया है। घटनाओं में तिलिस्मी ऐयारी या जासूसी चमत्कार न होते हुए भी जिज्ञासा है। क राजपूतकालीन इतिहास से भट्ट जी ने लाभ उठाया है। इस उपन्यास में कोई भी घटना या वर्णन अविश्वसनीय नहीं है। यद्यपि 'नूतन ब्रह्मचारी' की कथावस्तु सामयिक यथार्थ जीवन की है फिर भी कथोपकथनी दृष्टि के कारण इसमें जीवन की समस्याओं और सहायता का प्रतिफलन नहीं पाया जाता।

इस उपन्यास का नाम पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता है। 'नूतन ब्रह्मचारी'[2]

---

१ तीसरा परिच्छेद पृ० ४४

२ पृ० ३, ११ तथा ३२ पर 'नया ब्रह्मचारी' और पृ० ३० (चौथा परिच्छेद) पर 'नूतन ब्रह्मचारी' शब्दों का प्रयोग है।

में 'नूतन' शब्द को अनावश्यक महत्व देकर कभी-कभी पाठक यह सोचता है कि 'नूतन' 'मार्डन' का पर्याय है और यह उपन्यास आजकल के युवकों पर व्यंग्य मात्र है। परन्तु इस नाम में 'नूतन' विशेषण की अपेक्षा 'ब्रह्मचारी' संज्ञा का अधिक महत्त्व है। यज्ञोपवीत के अवसर पर पुरानी परम्परा का पालन करते हुए उस बालक को उत्सव पर्यन्त आज भी 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है क्योंकि प्राचीन काल में यज्ञोपवीत लेकर बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रविष्ट हो जाता था और पच्चीस वर्ष की आयु तक उस व्रत का पालन करता था। शास्त्रोक्त नियमों का पालन करते हुए ब्राह्मण कुमार आज भी जब 'नूतन ब्रह्मचारी' बनता है तो संस्कारों के कारण उसके मन में प्राचीन जैसी ही पवित्र उदार भावनाएं जाग उठती हैं। यदि इन ब्रह्मचारियों का ठीक विकास हो तो देश में ऐसे अनेक युवक निकल सकते हैं जो समाज और राष्ट्र की सेवा करते हुए प्राचीन ऋषियों का आदर्श उपस्थित कर सकें। यज्ञोपवीत के अवसर पर ब्रह्मचर्य का नूतन व्रत लेने वाला कुमार ही 'नूतन ब्रह्मचारी' है प्रत्येक कोमल-मति छात्र 'नूतन ब्रह्मचारी' है, उसमें विनायक के समान ही दृढ़ता संयम तत्परता अध्यवसाय और सच्चाई पाई जाती है। परन्तु शिक्षा की दुर्व्यवस्था के कारण हम अपने ब्रह्मचारियों को मिट्टी में मिला देते हैं। भट्ट जी स्वयं प्रोफेसर थे उन्होंने यह कल्पित यथार्थवादी आख्यान नव छात्रों (नूतन ब्रह्मचारियों) के लाभार्थ लिखा था कि 'सुशील बालक' बन कर अपने माता-पिता को धन्य बना सकें—यही लेखक की महती कामना है। पाठक और उद्देश्य पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि लेखक का प्रयत्न अत्यन्त सफल एवं स्तुत्य है।

पं० बालकृष्ण भट्ट एक आदर्श ब्राह्मण थे—जन्म से भी और कर्म से भी। उनके जीवन में स्वाभिमान निर्लोभता निःस्वार्थ सेवा छात्र-हित और सामान्य कल्याण के साथ-साथ सन्तोष धैर्य एवं सत्यनिष्ठा झलकती है। विट्ठलराव का चित्रण करते हुए वे अपनी छाया न बचा सके। तीसरे परिच्छेद में 'निधनी विट्ठलराव' का 'अकिञ्चन' न कह कर निष्किञ्चन' कहा गया है क्योंकि 'क्षमाशील संयमी' विट्ठल के पास धन न हो 'मन का अन्तः सन्तोष' और 'तपोधन' की तो कोई सीमा न थी वे अपने को दीन क्यों मानें? आवश्यकता होने पर भी वे स्वाभिमान के कारण ठाकुर साहब की गद्दी पर बिना बुलाये न जाना चाहते थे। जब बुलावा आया तो 'हर्ष से इनका मन मुकुल विकसित हो एकबारगी खिल उठा' स्वाभिमान और आवश्यकता दोनों को पूरा करने वाले इस अवसर का 'पूरा-पूरा अनुभव उन्हीं को होगा जिन्हें कभी ऐसी संकीर्णता झेलनी पड़ी है यह अनुभव की बात है लिखने की नहीं'[1]। भट्ट जी ऐसे ही भुक्तभोगी रहे होंगे। एक ओर उन्होंने प्रथम उपन्यास में मस्तराम जैसे खलनायक ('जननायक' नहीं) की सृष्टि की है जो लुटेरा है पर उसकी आँखों में शील और दया की कोई-कोई समय झलक—सी मालूम होती थी जिससे उसका भीतरी भाव यही प्रकट होता था कि जो—केवल स्वार्थ की मूर्ति है जो निज सुख तथा आमोद प्रमोद को अपने जीवन का सार

---

१ दूसरा परिच्छेद पृ० २०

माने हुए हैं। सामयिक अधिकारियों की चापलूसी में चिपटे हुए अपने असंयम मन को फुटाने में कभी भी संकोच चित्त में नहीं लाते, जिनके चित्त में देश की दशा का सुख-दुख कभी व्यापता ही नहीं ऐसों के धन को लूट उनमें बाँट देना जो वास्तव में दीन-हीन और सब भाँति सुचरित्र और सुयोग्य रह कर भी काम की चाल ढाल से दुखी हो रहे हैं[1]। दूसरी ओर उनका ब्राह्मणत्व ऐसे मानव की सृष्टि करता है जिसको 'ब्रह्मचर्य' में कदम रखते ही पितृकुल से यह सीख मिली थी कि 'जो अपने साथ बुराई करे उसके साथ भी भला करना। वरन् दुर्जन और दुष्ट मनुष्य जिनका स्वभाव ही दूसरे की बुराई और हानि करने का है उनका मन भी बुराई की ओर से फेर देने का यही एक उपाय है कि सदा उनके साथ खूब भलाई का बर्ताव करे और उनकी बुराई को अपनी भलाई से दबा कर उन्हें लज्जित कर उनका मन अपने वश में कर ले[2]। अन्त में सरदार पर विनायक की विजय भी ब्राह्मणत्व की तथाकथित प्रगतिशील विचारधारा पर विजय है। 'सर्व साधारण की यह उत्तम शिक्षा' है कि 'भलाई और अच्छा काम तुम से जहाँ तक बन पड़े करो परन्तु उस भलाई का प्रतिफल पाने की आशा मत रक्खो[3]।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास में समाज और युग का प्रतिफलन बहुत कम है जितना भी सामयिक प्रभाव ज्ञात होता है वह लेखक के व्यक्तित्व या भारतेन्दु-परम्परा का समझना चाहिए। 'परीक्षागुरु' के समान यह उपन्यास गंभीर साहित्य की कोटि का है। 'परीक्षागुरु' के समान इसमें भी स्त्री-पात्रों का अभाव-सा समझना चाहिए। प्रेमचन्द पूर्व युग के अधिकतर उपन्यास सामान्य जनता के लिए लिखे जाते थे उनमें स्त्री-पात्र ही मुख्य हुआ करते थे और मुसलमानों की निन्दा एवं ग्राम्य संस्था की प्रशंसा की जाती थी। 'परीक्षागुरु' 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान' उस प्रवाह से भिन्न है। तुनकमिजी अपव्ययी देश-दशा से उदासीन लोगों पर व्यंग्य कस कर भट्ट जी ने भारतेन्दु-परम्परा का निर्वाह किया है। दूसरे परिच्छेद में वे लिखते हैं कि 'जहाँ एकता है वहाँ यह कब संभव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके[4]। आर्यसमाज और सनातन धर्म के झगड़े को न उठा कर लेखक महोदय ने ब्राह्मणत्व का प्राचीन आदर्श नूतन ब्रह्मचारियों के सम्मुख रखा है। सत् और असत् का ही संघर्ष न दिखा कर सत् के ही दो रूप विनायक एवं सरदार का जीवन अंकित करके भट्ट जी मनोविज्ञान की नवीनतम मान्यताओं से भी पीछे नहीं रहे। उनका 'नूतन ब्रह्मचारी' आज भी सुकुमारमति छात्र-छात्राओं के लिए बहुमूल्य उपहार है।

---

१ पहिला परिच्छेद पृ. १८
२ छठवाँ परिच्छेद पृ. ३९
३ दूसरा परिच्छेद पृ. ११-१२
४ " पृ. ११

सौ अजान और एक सुजान

भट्टजी का दूसरा उपन्यास 'सौ अजान और एक सुजान'[1] है। प्रथम उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' से पाठक-भेद एवं उद्देश्य भेद से अलग होता हुआ लेखक का यह उपन्यास 'परीक्षागुरु' के सहयोगियों में स्थान पाने योग्य है। यह कहना कठिन है कि 'परीक्षागुरु' पर मुग्ध होकर लेखक ने 'सौ अजान और एक सुजान' की रचना की अथवा दोनों उपन्यासों का इतना अधिक साम्य संयोग-जन्य ही है। आकार में 'सौ अजान और एक सुजान' पूर्व-रचित उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' से बड़ा है इसमें तेईस 'प्रस्ताव' और एक सौ सत्ताईस पृष्ठ हैं। 'नूतन ब्रह्मचारी' को प्रारम्भ करते ही लेखक ने 'उपन्यास' संज्ञा दे दी थी परन्तु इस रचना को मुख-पृष्ठ पर एक 'प्रबन्ध कल्पना' कहा गया है यद्यपि भीतर जाकर 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग भी है।'

'नूतन ब्रह्मचारी' के पाठक सुकुमारमति बाल छात्र हैं परन्तु 'सौ अजान और एक सुजान' के युवक जन। इसलिए पहले उपन्यास का कथानक सरल एवं लघु था उसकी कल्पित घटना के वर्णन में एक बालक के सद्व्यवहार से डाकुओं का सरदार भी सुधर गया था। परन्तु इस उपन्यास का नायक कुसंगति में पड़ कर पतन की ओर जा रहा है अन्त में एक पुराना हितैषी उसकी सहायता करके उसका उद्धार करता है। पहिले उपन्यास में लेखक की शैली बालोपयोगी सरल एवं उपदेशमयी है परंतु इस उपन्यास में साहित्यिक छटा नीति के वचन वर्णन की रम्यता एवं कलात्मक सौन्दर्य पाठकों की प्रौढ़ता का संकेत देती है। भट्टजी के दोनों उपन्यास एक-दूसरे के पूरक हैं 'नूतन ब्रह्मचारी' सुकुमार बालकों के लिए लिखा गया था और 'सौ अजान और एक सुजान' किशोर युवकों के लिए।

अवध प्रान्त में गोमती के तट पर अनन्तपुर नाम का एक कस्बा है। वहां सेठों के एक पुराने घर में सेठ हीराचन्द हुए "धर्म में निष्ठा ब्राह्मण में भक्ति शक्ति रहते भी क्षमा इत्यादि ऐसे लोकोत्तर गुण इनमें थे कि उनकी उपमा किसी दूसरे पुरुष में ढूंढने से भी मिलना दुर्घट है"[2]। सेठ हीराचन्द के एकमात्र पुत्र रूपचन्द २५ वर्ष की थोड़ी ही उमर में दो पुत्र एक कन्या छोड़ स्वर्गवासी हो गये। सेठजी को दुःख तो बहुत हुआ परन्तु ईश्वरेच्छा समझ कर उन्होंने सब कुछ सहा और बालकों को पढ़ाने तथा इधर उधर की चतुराई की बातें सिखाने के लिए पं० चन्द्रशेखर को नियत कर दिया। चन्द्रशेखर या 'चन्दू' ही इस उपन्यास का 'एक सुजान' है कुछ समय उपरान्त सेठजी भी अपने पौत्रों ऋद्धिनाथ और निधिनाथ को छोड़कर स्वर्ग सिधार गये ऋद्धिनाथ चौदह वर्ष

---

१ प्रथमावृत्ति, सं० १९८२ वि० प्रकाशक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, २९-१ अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ।

२ इसका किसी रस का वर्णन उपन्यास लेखकों की रीति के विरुद्ध है इससे इस प्रस्ताव को यहीं समाप्त करते हैं। (प्रथम प्रस्ताव)

'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' से 'सौ अजान और एक सुजान' की तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस कहानी का प्रथम खंड ही प्राप्त है फिर भी उसके अंशों में इस उपन्यास की समता है। कहानी का नायक 'जवानी की उमंग में चूर दुनिया के मुसाहबों खुशामदियों में घिरा हुआ है'। खुशामद के 'जी में नई उमंगों का समुद्र' उमड़ रहा है जिसमें खुशामदी टुकड़खोर जमाने वालों मुसाहबों की बन पड़ी। भारतेन्दु ने इन मुसाहबों में एक मीर साहब का वर्णन किया है। मुसाहबों में भी सबसे पहिले 'मीर शिकार मीर साहब' थे। कूचा बलों में है बड़ा पक्की और बड़ा मसखरी। भारतेन्दु ने रंडी के भड़ुए का वर्णन किया है। इस उपन्यास में 'हुमा बेगम' का सगा भाई 'हकीम साहब' बना हुआ रईसों में मेल-जोल बढ़ा कर उनको अपनी बहिन का 'कद्रदान' बनाता और धन इकट्ठा करता है। भारतेन्दु का प्रधान मुसाहब हरी नाम का बनती है 'भाटा भोरा' मानमें रस का मारता है छोटी नाक कहकहा उसके नाम पसरी धारी रहता है। प्रस्तुत उपन्यास का बसन्ता 'रंगीन कपड़ा सिर पर' बांधे है उसकी नाक घुंघरू-सी रस भाता है है और मन्नू की नाक पुल्ली नाक फूल पत्त कद' है और बुद्धदास का 'रस माला नाक घुंघरू सी बीन टिपता है'। 'हाजी' के लिए भारतेन्दु लिखते हैं 'रेवड़ी के वास्ते मसजिद गिरानी इसी का काम है'। 'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास के बाईसवें प्रस्ताव में पंचानन ने अदालत में बयान देते हुए इन अजानों के विषय में अंतिम वाक्य यही कहा था—'ये लोग रेवड़ी के लिए मसजिद ढहाने वाले हैं'। अस्तु भारतेन्दु का 'हाजी' इस उपन्यास में अनेक अजानों के रूप में प्रकट हुआ है। 'परीक्षागुरु' से इस उपन्यास की तुलना ऊपर हो चुकी है। इन उपन्यासों का साम्य संयोग-जन्य भी हो सकता है। कम से कम यह निश्चय है कि १९वीं शताब्दी की अंतिम दशाब्दियों में भारत के रईसों का यही हाल था जिसको तत्कालीन साहित्यिकों ने उपन्यास के लिए कथानक के रूप में ग्रहण किया।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भट्टजी को सफलता कम मिली है। इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट नहीं है कि नायक-पद किसको मिले। छठे प्रस्ताव में इस किस्से के कई एक नायक प्रतिनायकों में चन्दू का 'प्रतिनायक' बसन्ता होने से चन्दू नायक और बसन्ता प्रतिनायक बतलाये गये हैं। 'चन्दू-सा सुजान भलामानुस और बसन्ता के समान नटखट कुपात्र' अन्यत्र नहीं है। आठवें प्रस्ताव में चन्दू को स्पष्टतः 'सौ अजानों में एक सुजान' कह कर नायकत्व का संकेत है। तेरहवें प्रस्ताव के अनुसार 'इस उपन्यास के मुख्य नायक दोनों बाबू हैं'। इक्कीसवें प्रस्ताव में चन्दू ने दोनों बाबुओं से कहा 'तो अब आप ऐसा मन करो कि अब अजान न बनें'। तब क्या दोनों बाबू भी सौ अजानों में से हैं? यदि बाबुओं को भी अन्य अजानों के साथ जोड़ा जाय तो नायकत्व किसे प्राप्त होगा? सुजान तो चन्दू है। परन्तु अजानों का मुखिया कौन है? लेखक के अनुसार बसन्ता मुख्य अजान है। किन्तु उपन्यास के अन्त में बसन्ता को सात वर्ष की सख्त कैद मिलती है उसका बुरा परिणाम देखकर बाबुओं को चेत हो जाता है। बसन्ता का पता ही नहीं चलता। लगता है लेखक कुछ स्पष्ट नहीं कर पाया। हमारा अनुमान यह है कि छोटा तो ब्रजकिशोर के स्थान पर है और बड़ा बाबू मदनमोहन के स्थान पर। शेष

दुष्ट लोग प्रबल हैं जिनका बाल उनको स्वयं बचा लेता है अमलीव नायक सन्मार्ग पर आ जाते हैं। सुजान का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी बसन्ता और मन्नू का संयुक्त रूप है। असत्य के अनेक रूप हैं इसलिए वह फलता-फूलता दिखाई पड़ता है परन्तु सत्य एक ही अटल एवं दृढ़ होने के कारण अन्त में विजयी होता है।

इस उपन्यास के पात्र वर्ग प्रतिनिधि एवं गुण-दोषों की मूर्ति होने पर भी गहरे रंगों से अंकित नहीं किये गये उनकी रूपरेखा तो लेखक ने खींच दी है परन्तु रंग पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है इसलिए दूर से उनका रूप धुंधला दिखलाई पड़ता है। कई बार पाठक की मक्खि बाहर फँस कर दूसरे पात्र पर भी कुछ भली काम देती है। चरित्र के विकास का तो प्रश्न ही नहीं आता। रुग्णी पात्रों का अभाव भट्टजी के पहिले उपन्यास में भी था। मदनमोहन की सन्तान के समान इस उपन्यास में छोटे बाबू की दो बच्चों की पुत्री सरस्वती है। मुसलमान-पात्र हकीम साहब और उनकी हमशीरा मर्यादी हुआ है 'मुसलमानों में यह एक चलन है कि जो लोग कुछ पढ़े-लिखे होते हैं और उन्हें कहीं कुछ जीविका का डौल न लगा तो वे या तो हकीम बन जाते हैं, या मौलवी हो लड़कों को पढ़ा अपना पेट पालते हैं।'[1] कोतवाल भी मुसलमान है जिसमें उसकी जाति और व्यवसाय दोनों के दुर्गुण झाँक रहे हैं। लेखक ने मुसलमानों को मजहबपरस्त दिखाया है अपनी ठगी बहिन को पेशेवर नर्तकी बनाने वाला हकीम हर समय हाथ में तस्बीह लिए रहता है, और कोतवाल जब 'सबेरे की नमाज से फारिग' होता है तब भी 'अफीम के नशे में झोंक में झूमता' हुआ है।

भट्टजी के दोनों उपन्यासों में कथोपकथन विरल हैं। उनके उपन्यास कथा-प्रधान हैं, उनमें वर्णन जितने अधिक हैं कथोपकथन उतने ही कम। भाषा सामान्यतः बैसवाड़ी प्रभाव से अंकित व्यावहारिक खड़ी बोली है। बुड्ढ़ पाँडे अफीम के झोंक में ऊंघता हुआ पूर्वी भाषा ही बोलता रहता है। मुसलमानों के पास बैठ कर लेखक महोदय उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। अंग्रेजी के 'प्रपोजल' 'मैंकेंड' 'सर्टिफिकेट' जैसे शब्द आ गये हैं। सबसे अधिक संस्कृत का प्रभाव है। शब्द-समूह, अप्रस्तुत-योजना वर्णन ही नहीं श्लोक के श्लोक उठाकर रख दिये गये हैं। श्रीनिवासदास नीति का उपदेश देते हुए विश्व-साहित्य और विश्व-इतिहास से नाम उठाते थे परन्तु उनके फुटनोटों में मूल आगे ही रहे मूल में केवल अनुवाद होता था जिससे हिन्दी के पाठक को कोई कठिनाई न हो। भट्टजी यह मान कर चले हैं कि साहित्यिक हिन्दी का पाठक संस्कृत ज्ञान-शून्य नहीं होगा। द्विवेदी युग में तो संस्कृत-ज्ञान का हिन्दी-साहित्य में निषेध सा हो गया था अतः लेखक पाठकों से संस्कृत ज्ञान की अपेक्षा ही आशा रखते थे। भट्टजी के इस उपन्यास में संस्कृत पहिले उपन्यास से अधिक है क्योंकि यह किशोर युवकों के लिए लिखा गया था। भट्टजी संस्कृत के प्रोफेसर थे, अतः संस्कृत-साहित्य उनके लिए हस्तामलकवत् था। कादम्बरी रघुवंश किरातार्जुनीय महाभारत आदि के छायानुवाद यहाँ वर्णनों में हैं और नीति-विवेचन में यथातथ्य उद्धरण रख दिये गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाव की दृष्टि से यह संग्रहपन विशेष सुखाद नहीं है। यदि भी

१ पृ ६९

अजान और एक सुजान' में संस्कृत छाया का अध्ययन किया जाय तो एक स्वतन्त्र बृहदाकार निबन्ध लिखा जा सकता है। ध्यान एक बात पर जाता है कि किशोरीलाल गोस्वामी में मुख्यतः संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों की छाया है, परन्तु बालकृष्ण भट्ट में संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थों की।

श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक थी। बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास उस वर्ग में नहीं हैं। निश्चय ही इनका कथानक कल्पित समकालीन एवं यथार्थ है फिर भी लेखक का कवित्व उपन्यास-कला पर हावी हो गया है। उस युग में संस्कृत के विद्वानों ने हिन्दी गद्य में जो उपन्यास लिखे उन पर संस्कृत कथा-आख्यायिका का अत्यधिक प्रभाव रहा और कवि बाण की तो छाया उन पर बहुत प्रभाव डालती रही। मराठी भाषा में तो 'नॉवेल' का नाम ही 'कादम्बरी' रखा गया। इन उपन्यासों में दो बातें स्पष्ट हैं—'कथा' और 'काव्य' इनका योग गद्य के माध्यम से व्यक्त होकर 'नॉवेल' के साथ चल पड़ा। 'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास में नगर-वर्णन ऋतु-वर्णन काल-वर्णन स्थान-वर्णन और आचार-व्यवहार-वर्णन बड़ी कुशलता से किया गया है। कवि की कल्पना कभी प्राचीन साहित्य में विचरण करने लगती है, कभी सामयिक जीवन में कभी उसके सम्मुख आदर्श आता है कभी यथार्थ अतिरंजना और भावुकता उसकी दो सहेलियाँ हैं। भट्टजी की कवित्व-शक्ति ऐसे ही स्थलों पर देखने योग्य है। ग्यारहवें प्रस्ताव में 'हुमा बेगम' का वर्णन पन्द्रहवें प्रस्ताव में 'वर्षा-वर्णन' और अठारहवें प्रस्ताव में कोतवाली का वर्णन देखने योग्य है। 'प्रस्तावों' के अलग शीर्षक नहीं हैं परन्तु संस्कृत या हिन्दी के शीर्षोद्धरण अवश्य हैं। बीच-बीच में लेखक कभी-कभी पाठकों से बात कर जाता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक प्रस्ताव कथा को आगे बढ़ा ही दे। वस्तुतः उपन्यास-कला की दृष्टि से यह उपन्यास निर्दोष नहीं कहा जा सकता। परन्तु उपन्यास के शैशव-काल में साहित्यिकता का सिन्दूरी टीका धारण करने के कारण इस उपन्यास का कवित्व भी दोष-रूप में न ग्रहण करना चाहिए।

इस उपन्यास में देश-काल का समुचित प्रतिबिम्ब इसके नाम और कथानक से ही स्पष्ट है। उस युग में बसिलाल मदनमोहन और ऋद्धिनाथ जैसे बहुत-से रईस थे और बसन्ता नन्दू आदि अजान भी अनेक थे जो आपस में मिले हुए (थे) और यही पेशा इन लोगों का ... (था) कि नई उमर वाले रईस लड़कों को फँसाया करें[1]। इन लोगों का 'हमेशा से यही ढब चला आया है'[2]। यौवन धन-सम्पत्ति प्रभुत्व और अविवेक[3] इनमें से यदि एक भी हो तो अनर्थ कर सकता है जब चारों मिल जायँगे तो क्या बनेगा—इसकी कल्पना भी कठिन है। १९वीं शताब्दी के उपन्यासकारों ने इसी अनर्थ का चित्रण किया है—टेकचन्द ठाकुर ने 'आलालेर घरेर दुलाल' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' में,

१ पृ० १२४
२. वही
३ दे० चौथा प्रस्ताव।

श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' में बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान और एक सुजान' में और किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों विशेषतः 'रंगमहल में हलाहल'[1] में। इस शाश्वत सत्य के अतिरिक्त इस उपन्यास में सामयिक संकेत भी उपलब्ध होते हैं उनमें से मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं —

(क) सरकारी फौज में बेसबारे के सिपाहियों का दर्जा अव्वल समझा जाता है। (पृ० ४)

(ख) आपस की नाइत्तिफाकी के बीज दूसरे की तरक्की पर जलने ने ही हिन्दुस्तान को शुरू से कबाब कर रक्खा है। (पृ० १७)

(ग) ब्राह्मण ही जो हिन्दू जाति का सिरा और हिन्दुस्तान के सब कुछ हैं इस अधम के हुए, तो औरों की कौन कहे। (पृ० १७)

(घ) सेठ की दौलत पर गीध के समान ताक लगाये बैठे हुए खुशामदी चुटकी बजाने वाले मुफ्तखोरों की बन पड़ी। (पृ० १८)

(ङ) जो अनन्तपुर सेठ जी सरीखे विचारनिष्ठ के समय काशी का नमूना बना हुआ था वही अब मोड़ अमातिए, कस्बक-कलावतों के भर जाने से लखनऊ और दिल्ली की अनुहार करने लगा। (पृ० १९)
जो अनन्तपुर काशी और मथुरा का एक उदाहरण था वह इन बाबुओं के जमान में दिल्ली और लखनऊ का एक नमूना बन गया। (पृ० ९०)

(च) साहब लोगों के पक्षपात का रसिक पक्षाहमी अपने प्रभु के पाद-पद्म को मानो बारंबार झुक-झुक प्रणाम करता-सा झूम रहा है। (पृ० २७)

(छ) पुरोहिती कर्म से जाने वाले सौ-पचास इकट्ठे किए जायें तो विरले एक-दो उनमें ऐसे निकलेंगे जो आवारगी उजड्डपन और छिछोरेपन से खाली होंगे (पृ० २८)

(ज) पानी चार बार छान कर पीता था दूसरे की जाती समूची की समूची निगल जाता था। (पृ ७५)

(झ) अदालत तो रुपया की है। (पृ० १०९)
बड़े-बड़े बैरिस्टर और वकील जो हजारों एक दिन की बहस का मुंह बिकम से गुलाम बेचारे को उलटे छुरा मूड़ अपना मतलब गांठते हैं। (पृ० ११९)
कानून की बारीकियां ही बेईमानी और फरेब लोगों को सिखा रही हैं। अंग्रेजी राज्य में अदालत और कानूनों की पेचीदगी इसीलिए है कि लोग रखे जायें। (पृ १२२)

'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास के मुख-पृष्ठ पर लेखक ने संस्कृत का जो पद उद्धृत किया है उसका अर्थ है कि हे पीर ... की संपत्ति छोड़ ...

---

१ 'रंगमहल में हलाहल' वा। सम्माना रजिया बेगम उपन्यास के मुखपृष्ठ पर यह कथन विशेष-रूप से अंकित है।

और सत्संग को प्राप्त कर। पहिले प्रस्ताव का शीर्षोद्धरण भी यही बतलाता है कि कोई व्यक्ति की संगति कोयले के राख के समान है यदि गरम होगा तो हाथ को जला देगा और यदि शीतल होगा तो हाथ को काला कर देगा। जिन लोगों में अपना विवेक नहीं है वे दुर्बल पात्र हैं उनका गुण संगति के अनुसार बदलता है। बन्नू और ब्रजरत्ना जिसका साथ रहे उपन्यास के नायक तत्काल वैसे ही बन जाते हैं। मन का स्वभाव जल के समान तरल एवं अधोगमन है इसलिए भी अजानों का दुर्बल व्यक्ति पर प्रायः प्रभाव पड़ता रहता है। इस अधोगमन में आड़ आने वाली दैवी शक्तियाँ हैं जो एक ओर तो दुर्बल मन को भयकम्पित करने में अंकुश का काम करती हैं और दूसरी ओर सच्चे मित्र की पहिचान सिखा देती हैं। श्रीनिवासदास ने इसीलिए अपने उपन्यास का नाम 'परीक्षागुरु' रखा था। भट्टजी ने भी विपत्ति की अवतारणा ही नहीं की उन्नीसवें प्रस्ताव का शीर्षोद्धरण भी 'विपदि सहायको बन्धु' रखा है। प्रसंगतः इस उपन्यासका अन्त 'सत्यमेव जयति नानृतम्' में हुआ है जिसकी परम्परा बाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द तक चलती रही। तेईसवें प्रस्ताव में उपसंहार करते हुए लेखक ने इस उपन्यास के तीन उद्देश्य बतलाये हैं —

(क) 'देखिये सौ अजान में एक सुजान कैसा गुणकारी हुआ कि सब अजानों को फिर राह पर अंत को लाया ही ।
(ख) 'दूसरे, यह कि जो सुकृति हैं उनके सुकृत का फल अवश्यमेव औसर पर आता है।
(ग) 'आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़ आशा करते हैं सुजान बनें इस किस्से के अजानों को सुजान करने की चातुरी का भान लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।

सुन्दर सरोजिनी

सन् १८९१ ई० में रामनगर (चम्पारन) राज्य के पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ने 'सुन्दर सरोजिनी' नाम का एक रोचक उपन्यास लिखा जो सन् १९०७ ई० में काशी से दूसरी बार मुद्रित हुआ। इस उपन्यास की साहित्यिकों एवं समाचार-पत्रों ने बड़ी प्रशंसा की। लेखक की अपनी दृष्टि में 'सुन्दर सरोजिनी' प्राकृतिक मनोहरता प्रेम-मैत्री और लक्ष्य-भ्रमण का अत्यन्त रोचक संयोगात्मक उपन्यास' है। इसमें 'सती धर्म' की जय 'आश्चर्य-जनक घटनाओं' अन्तराल में चित्रित की गई है। 'भारत जीवन' के अनुसार इसमें कुमुदचन्द्र की मित्रता सरोजिनी का पातिव्रत-धर्म उसके माता-पिता का वात्सल्य प्रेम तथा कई एक आश्चर्ययुक्त घटनाओं का चित्र"[1] प्रस्तुत किया गया है। 'हिन्दी बंगवासी' के अनुसार 'सरोजिनी अपनी चाल-ढाल की हिन्दी में पहिली ही पुस्तक है" इसके प्रत्येक पृष्ठ से लेखक की विद्या बुद्धि और जानकारी का परिचय मिलता है"[2]। 'शुभ चिन्तक' ने इस उपन्यास को 'सर्वोत्तम हिन्दी

१ भारत-जीवन, २ जून १८९१
२. हिन्दी बंगवासी, १६ जून १८९१

गद्य पद्य में[1] लिखी हुई रचना माना है। 'हिन्दोस्थान' के मत में यह उपन्यास 'प्रेम प्रीति-मित्रता, पातिव्रत-धर्म, ईश्वर-महिमा और आश्चर्य-घटनावलियों के वर्णन से पूरित ऐसी सुन्दर रीति पर लिखा गया है कि जिसके पढ़ने से चित्त को अधिक आनंद मिलता है'[2]। 'राजस्थान समाचार' ने लिखा है कि पं० देवीप्रसाद ने यह 'उपन्यास रच आर्य भाषा के भंडार में वृद्धि की है'।[3]

इस उपन्यास की मुख्य कथा नायक 'सुन्दर' और नायिका 'सरोजिनी' के स्वप्न दर्शन-जन्य सफल प्रेम की कहानी है। इसके साथ मैत्री-सम्बन्ध से उपनायक 'कुशल' और उपनायिका 'प्रभा' की कथा जुड़ी हुई है। नायक नायिका के नाम पर बंगाली लोक कथा 'विद्या-सुन्दर' के समान ही इस रचना का नाम 'सुन्दर-सरोजिनी' रख दिया गया है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है यह उपन्यास संयोगान्त है। स्वप्न में एक-दूसरे को देख कर नायक और नायिका के मन में जिस गुप्तानुराग का प्रारम्भ हुआ वह अनेक बाधाओं-विपत्तियों को झेल कर भी अन्त में सुखावसायी बना। कथा का कलेवर मध्ययुगीन लोककथाओं के समानान्तर है। लेखक 'सिंहलद्वीप पद्मिनी रानी' की कथा से प्रभावित न हुआ हो यह सिद्ध करना कठिन है। लेखक मिथिला वासी है इसलिए इस कथा के माध्यम से उसने यह प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया है कि 'बंगाले के इतिहास' के लेखक ने विजयबाहु को बंगाली बतलाया है पर यह भ्रम है, वे बिहारी थे। ये बातें 'महावंश' नामक सिंहल के इतिहास में लिखित हैं। सन् ईस्वी से ५४३ वर्ष पूर्व विजय लंकाविजयी हुए[4]।

भारतवर्ष के बिहार प्रदेश में सुन्दर का जन्म एक वैश्य परिवार में हुआ था। एक दिन सुन्दर ने स्वप्न में देखा कि समीप ही 'एक बालवनिता खड़ी है जिसके शरीर का रंग कार्केशियन स्त्री का सा है'[5]। स्वप्न देख कर वह जग गया परन्तु उस प्रियतमा के प्रेम में वह व्याकुल रहने लगा। बड़े विक्षिप्त अवस्था में उसने एक अंग्रेज के पास उसी युवती का एक चित्र देखा, बहुत पूछने पर अंग्रेज ने बतलाया कि "इसका फ़ोटो कैमरा कि अमरा एक लेडी ग्रोस्ट ने सिलोन से भेजा था"[6]। अस्तु, यह निश्चय करके कि स्वप्न की सुन्दरी लंका में रहती है नायक अपने अभिन्न मित्र कुशल के साथ समझाते माता और बहुत समझाने पर भी लंका के लिए जहाज पर चढ़ दिया। मार्ग में एक दस्यु-योगी ने सारा धन छीन कर उसे समुद्र में डुबो दिया परन्तु नायक बह कर लंका के किनारे लग गया जहां सुषेन के वंशज वैद्य ने समुचित उपचार किया और उसे स्वस्थ कर दिया। उधर सरोजिनी सेठ धनपाल की एकमात्र सन्तान थी। उसके रूप की सारे देश

१ शुभचिन्तक, २ सितम्बर, १८८१
२ हिन्दोस्थान १६ सितम्बर, १८८१
३ राजस्थान समाचार, २१ सितम्बर, १८८६
४ पृ० ११-१२
५ पृ० ८
६ पृ० २१

और सत्संग को प्राप्त कर। पहिले प्रस्ताव का शीर्षोद्धरण भी यही बतलाता है कि खोटे व्यक्ति की संगति कोयले के स्पर्श के समान है यदि गरम होगा तो हाथ को जला देगा और यदि शीतल होगा तो हाथ को काला कर देगा। जिन लोगों में अपना विवेक नहीं है वे दुर्बल पात्र हैं उनका गुण संगति के अनुसार बदलता है। मदनमोहन और ब्रजकिशोर जिसका साथ पड़े उपन्यास के नायक तत्काल वैसे ही बन जाते हैं। मन का स्वभाव जल के समान तरल एवं अधोगामी है इसलिए भी ग्रन्थों का दुर्बल व्यक्ति पर प्रायः प्रभाव पड़ता रहता है। इस अधोगमन में आड़ आने वाली दैवी आपत्तियाँ हैं, जो एक ओर तो दुर्बल मन को भयकम्पित करने में अंकुश का काम करती हैं और दूसरी ओर सच्चे मित्र की पहिचान मिला देती हैं। श्रीनिवासदास ने इसीलिए अपने उपन्यास का नाम 'परीक्षागुरु' रखा था। भट्टजी ने भी विपत्ति की व्याख्या ही नहीं की उन्नीसवें प्रस्ताव का शीर्षोद्धरण भी 'विपदि सहायको बन्धु' रखा है। अन्ततः इस उपन्यासका अन्त 'सत्यमेव जयति नानृतम्' में हुआ है जिसकी परम्परा बाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द तक चलती रही। तेईसवें प्रस्ताव में उपसंहार करते हुए लेखक ने इस उपन्यास के तीन उद्देश्य बतलाये हैं —

(क) 'देखिये तो जमाने में एक सुजान कैसा गुणकारी हुआ कि सब अजानों को फिर राह पर अंत को लाया ही ।

(ख) दूसरे, यह कि जो सुकृति हैं उनके सुकृत का फल अवश्यमेव श्रीगार पर आता है।

(ग) आप लोगों में यदि कोई अजान और अजान हों तो हमारे इस उपन्यास को पढ़ आशा करते हैं सुजान बनें इस किस्से के अजानों को सुजान करने का बन्धु था आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।

सुन्दर सरोजिनी

सन् १८९१ ई० में रामनगर (चम्पारन) राज्य के पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ने 'सुन्दर सरोजिनी' नाम का एक रोचक उपन्यास लिखा जो सन् १९०७ ई० में काशी से दूसरी बार मुद्रित हुआ। इस उपन्यास की साहित्यिकों एवं समाचार-पत्रों ने बड़ी प्रशंसा की। लेखक की अपनी दृष्टि में 'सुन्दर सरोजिनी' प्राकृतिक मनोहरता प्रेम-मैत्री और लंका भ्रमण का अत्यन्त रोचक संयोगात्मक उपन्यास' है इसमें 'सती धर्म' की जय 'आश्चर्य-रूप घटनाओं' अन्तराल में चित्रित की गई है। 'भारत जीवन' के अनुसार " इसमें कुसुमचन्द्र की मित्रता सरोजिनी का पातिव्रत-धर्म उसके माता-पिता का वात्सल्य प्रेम तथा कई एक आश्चर्ययुक्त घटनाओं का चित्र ..."[1] प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी बंगवासी' के अनुसार 'सरोजिनी' अपनी चाल-ढाल की हिन्दी में पहिली ही पुस्तक है इसके प्रत्येक पृष्ठ से लेखक की विद्या बुद्धि और जानकारी का परिचय मिलता है"[2]। 'शुभ चिन्तक' ने इस उपन्यास को 'अत्युत्तम हिन्दी

---

१ भारत-जीवन ९ जून १८९१

२ हिन्दी बंगवासी, १४ जून १८९१

गद्य पद्य में"[1] लिखी हुई रचना माना है। 'हिन्दोस्थान' के मत में यह उपन्यास "प्रेम प्रीति-मित्रता, पातिव्रत-धर्म ईश्वर-महिमा और आश्चर्य-घटनावलियों के वर्णन से पूरित ऐसी सुन्दर रीति पर लिखा गया है कि जिसके पढ़ने से चित्त को अधिक आनन्द मिलता है"[2]। 'राजस्थान समाचार' ने लिखा है कि पं० देवीप्रसाद ने इस 'उपन्यास रच आर्य भाषा के भंडार में वृद्धि की है'।[3]

इस उपन्यास की मुख्य कथा नायक 'सुन्दर' और नायिका 'सरोजिनी' के स्वप्न दर्शन-जन्य सफल प्रेम की कहानी है। इसके साथ मैत्री-सम्बन्ध से उपनायक 'कुसुम' और उपनायिका 'मधुरा' की कथा जुड़ी हुई है। नायक-नायिका के नाम पर, बंगाली लोक-कथा 'विद्या-सुन्दर' के समान ही इस रचना का नाम 'सुन्दर सरोजिनी' रख दिया गया है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है यह उपन्यास संयोगान्त है, स्वप्न में एक-दूसरे को देख कर नायक और नायिका के मन में जिस गुप्तानुराग का प्रारम्भ हुआ वह अनेक बाधाओं-विपत्तियों को झेल कर भी अन्त में सुखावसायी बना। कथा का कलेवर मध्ययुगीन लोककथाओं के समानान्तर है। लेखक 'सिंहलद्वीप पद्मिनी रानी' की कथा से प्रभावित न हुआ हो यह सिद्ध करना कठिन है। लेखक लिखता जाता है इसलिए इस कथा के माध्यम से उसने यह प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया है कि 'बंगाले के इतिहास' के लेखक ने विजयबाहु को बंगाली बतलाया है पर यह भ्रम है, वे बिहारी थे" ये बातें 'महावंश' नामक सिंहल के इतिहास में लिखित हैं। सन् ईस्वी से ५४३ वर्ष पूर्व विजय लंकाविजयी हुए"[4]।

भारतवर्ष के बिहार प्रदेश में सुन्दर का जन्म एक वैश्य परिवार में हुआ था। एक दिन सुन्दर ने स्वप्न में देखा कि समीप ही 'एक कामवनिता खड़ी है जिसके शरीर का रंग कार्नेलियन सी कम सा है'[5]। स्वप्न देख कर वह जग गया परन्तु उस प्रियतमा के प्रेम में वह व्याकुल रहने लगा। अर्ध विक्षिप्त अवस्था में उसने एक अंग्रेज के पास उसी युवती का एक चित्र देखा। बहुत पूछने पर अंग्रेज ने बतलाया कि "इसको मुझे पेकटर कि अमरा एक लड़की डोरन ने सिलोन से भेजा हाम"[6]। अस्तु, यह निश्चय करके कि स्वप्न की सुन्दरी लंका में रहती है नायक अपने अभिन्न मित्र कुसुम के साथ कलकत्ते आया, और बहुत समझाने पर भी लंका के लिए जहाज पर चढ़ दिया। मार्ग में एक दस्यु-योगी ने सारा धन छीन कर उसे समुद्र में डुबो दिया परन्तु नायक बह कर लंका के किनारे लग गया जहाँ सुषेन के वंशज वैद्य ने उसका उपचार किया और उसे स्वस्थ कर दिया। उधर सरोजिनी सेठ मदननाथ की एकमात्र सन्तान थी। उसके रूप की सारे देश

---

१ शुभचिन्तक ६ सितम्बर, १८८६

२ हिन्दोस्थान, २१ दिसम्बर १८८६

३ राजस्थान समाचार, २१ दिसम्बर, १८८६

४ पृ० १४-१५

५ पृ० ४

६ पृ० ११

में चर्चा थी। एक बार उसने सुन्दर नामक व्यक्ति को स्वप्न में देखा और उसे वरण कर लिया। उसने निश्चय किया कि 'जब सपने के महात्मा सचमुच मिल जायेंगे और तिस पर भी हमारे विवाहोपयुक्त वैश्य कुल में होवें तब तो विवाह होगा' उसे विश्वास था कि 'ऊषा के पति अनिरुद्ध सपन में ही मिल कर यथार्थ पति हुए विशेषत इस मथापुरी में तो और भी स्वप्न सत्य होता है'[1]। अन्त में सत्य प्रेम ईश्वर भक्ति और धर्म-महिमा[2] के प्रभाव से नायक-नायिका मिल गये और सुख से जीवन बिताने लगे। इस मूलकथा के साथ 'सरोजिनी' की सखी 'चपला' और सुन्दर के मित्र 'कुसुम' के विवाह का भी प्रसंग है। नायक के आगमन का समाचार पा कर चपला और सरोजिनी पालकी पर चढ़कर उससे मिलने गईं। मार्ग में डाका पड़ गया। इसमें इन महिलाओं ने बड़ी वीरता से काम लिया। सुन्दर का शत्रु छद्म-योगी मारा गया। कुसुमाकर का चपला के साथ विवाह हो गया।

इस कथानक में कथा की प्रवृत्ति मुख्य है सामाजिक चित्रण गौण। सारी घटनाएं किसी अव्यक्त संकेत पर नाचती हैं। स्वप्न पर विश्वास करके उसे प्रत्यक्ष में परिणत करना विचित्र ही है। यद्यपि तिलिस्म जासूसी या ऐयारी द्वारा कुतूहल उत्पन्न करने की लेखक ने आवश्यकता नहीं समझी फिर भी घटनाओं की योजना कम आश्चर्य जनक नहीं। वस्तुत मध्ययुगीन कथा पर कुछ आधुनिकता चढ़ा कर लेखक उसमें सुधार करता है। तस्वीर के कारण अंग्रेज पात्र की योजना जहाज पर चढ़ते समय धन-संकट पति भाग लेने पर भी जाति पर जोर और बिहारी व्यापारियों का लंका जा कर विवाह सम्बन्ध स्थापित करना—ये कथानक को आधुनिक रूप देने वाले सूत्र हैं। सब मिला कर कथानक सरल एवं प्राथमिक है आधुनिक उपन्यास के लिए उसमें सभी उपकरण नहीं मिलते।

कथा में नायक और नायिका ही मुख्य हैं। नायक नितान्त प्रेमकथा जीवी होने के कारण भाव की दृष्टि से निर्दोष नहीं है। उसकी एक ही विशेषता है—प्रेम जिसकी प्राप्ति के लिए वह सब कुछ करता है। परन्तु प्रेम ही जीवन में सब कुछ नहीं वह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है उसका पर्याय नहीं प्रेम को जीवन की पूर्णता मानना जीवन को लुंज-पुंज कर देना है। वह भी विश्वप्रेम नहीं केवल एक व्यक्ति के साथ प्रेम। स्वस्थ समाज का कोई भी युवक एक व्यक्ति को प्राप्त करने के लिए ही पृथ्वी और आकाश को एक नहीं कर बैठता उसके सामने समाज-कल्याण के अनेक मार्ग सर्वदा खुले हुए हैं। नायिका नायक से अधिक गुणवती है। एक व्यक्ति को अपना सर्वस्व मानते हुए अपने निश्चय पर अडिग रहना सीता-सावित्री आदि देवियों का आदर्श गुण है। जिस समय का यह उपन्यास लिखा जा रहा है उस समय नारी के गुण की महिमा गाई जाती थी। सरोजिनी में यह गुण विपुल मात्रा में विद्यमान है। वह डाकुओं का सामना करके आत्मसम्मान की रक्षा भी करती है। अस्तु, नायिका अपने गुणों में नायक से

---

१ पृ० ४१

२ पृ० ११

अजनबम बन गई है। शेष पात्रों के चित्र अति सामान्य हैं। वस्तुतः चरित्र-चित्रण इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं।

इस रचना में दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं—वर्णन तथा कुछ समस्याओं पर विचार। लेखक ने भूगोल और इतिहास का समुचित ज्ञान प्राप्त करके ही इस उपन्यास की रचना की थी। यह कहा जा चुका है कि इतिहास के भ्रम का निवारण भी इस उपन्यास की रचना का एक प्रमुख उद्देश्य था। बिहार बंगाल और लंका के वर्णन बड़े सूक्ष्मात्मक एवं भावनापूर्ण हैं। मुख्य सामाजिक समस्या विवाह की है। लेखक ने नायक-नायिका के आदर्श प्रेम का वर्णन करते हुए उसका आधुनिक कोर्टशिप से भेद किया है 'पाठक भ्रम में न पड़ें कि ये आजकल के नये नायक-नायिका हैं और यहाँ कोर्टशिप का अवसर इन्होंने पाया है क्योंकि कोर्टशिप प्रेम नहीं काम का प्रभाव है जिस प्रकार तेज शराब के नशे में कोई हत्या करे तो उसका प्रेरक मुख्यतः मद्य ही समझा जाता है उसी प्रकार युवावस्था में महात्मा मदनदेव के अधिकार से जो प्रेम उपजता है वह यथार्थतः मैत्रीकृत नहीं है किन्तु कामकृत है'[1]। तर्क बड़ा हास्यास्पद है प्रथम दशा में काम का प्रभाव होता है जिसे कोर्टशिप कह सकते हैं और स्वप्न-दर्शन में प्रेम होता है जो काम के प्रभाव से रहित है। लेखक ने उस विचार को स्वीकार नहीं किया जिसके अनुसार समुद्र पार करके विदेश जाने से धर्म भ्रष्ट हो जाता है, प्रत्युत विदेश में विवाह सम्बन्ध स्थापित करने का भी उसने सुझाव दिया है नायक की विदेश-यात्रा के अवसर पर उसके मित्र को आपत्ति होती है परन्तु आगे चल कर वह स्वयं विदेश जाता है और वहाँ सुन्दरी अबला से उसका विवाह भी होता है। एक बात अवश्य है कि लेखक जाति के बाहर विवाह का अनुमोदन नहीं करता। नायिका स्वप्न के प्रिय से विवाह की प्रतिज्ञा करती है परन्तु इस शर्त पर कि वे 'हमारे विवाहोपयुक्त वैश्य कुल के होवें'।[2] इस प्रकार की विचारधारा लेखक को सुधारवादी सनातन धर्मावलम्बी ठहराती है। वह जन्म से जाति मानकर विवाहादि के लिए उसे आवश्यक समझता है, परन्तु विदेश के बन्धन नहीं मानता। कोर्टशिप का तो उस समय के सभी गंभीर साहित्यिकों ने विरोध किया था।

उस युग की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार लेखक ने राजनीति पर विचार नहीं किया परन्तु देश की आर्थिक दशा की उपेक्षा भी नहीं की। उसे अंग्रेजों की व्यापार नीति और भारतीयों की दरिद्रता का ध्यान है। नील की खेती उस समय का महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न था। भारतीय मजदूर भूखातुर होकर विदेश में पेट पालने के लिए जाते थे। लेखक ने दोनों प्रश्नों की चर्चा की है। 'परिश्रम चाहे जो करें पर संसार भर के फल भोगी अंग्रेज ही हैं, भारतवर्ष के नील चाय रेल की आय की भी यही दशा है। यह वाक्य सनसनी उत्पन्न करने वाला है इसमें अंग्रेजों को ही नहीं समस्त पूँजीपति वर्ग को चेतावनी दी गई है। 'तिरहुत' ही क्या 'मारिशस' 'ट्रिनिडाड' 'जमेका' 'नाएना'[3] जहाँ

---

१ पृ० ३६   ३ पृ० ९९
२ पृ० ५५

जहाँ देखिये क्षुधातुर दरिद्र भारती पहुँचे हैं इन्हें यह दशा देख कर घोर क्षोभ होता है। इन्हीं वाक्यों में भावी उपन्यासों का उद्देश्य छिपा हुआ है।

शैली की दृष्टि से 'सुन्दर सरोजिनी' महत्त्वपूर्ण नहीं है यह गद्य पद्यमयी रचना है। व्रजभाषा की स्वरचित कविताएँ इसमें आवश्यकता से अधिक हैं। कथोपकथन कम है। कहीं-कहीं वर्णन स्वाभाविक नहीं रहे। 'मन रूपी समुद्र में परस्पर प्रेमी पूर्णचन्द्र के दर्शन से भिन्न-भिन्न भावों की तरंगमालाएँ (लहरें) उठ रही हैं' जैसे काव्यमय कथन उपन्यास के लिए उपयुक्त नहीं हैं। कहीं दोहा कहीं सवैया कवित्त बसन्ततिलका रोला आदि केवल कवित्त-प्रदर्शन के लिए हैं। उपन्यास में कुल ८० पृष्ठ हैं जिनको सात परिच्छेदों में विभक्त कर दिया गया है, प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक भी है। कर्म-फल तथा मित्रता प्रेम को इतिहास-भूगोल की झाँकियों में दिखलाना ही लेखक का अभीष्ट है, जिसमें वह सफल है। भाषा की दृष्टि से भी यह उपन्यास स्वच्छ है तथा वर्णन की दृष्टि से भी सराहनीय। पं० देवीप्रसाद ने इस उपन्यास के द्वारा समकालीन दलदल से ऊँचे उठने का प्रयत्न किया है और उसमें सफल भी हुए हैं। कला की दृष्टि से अधिक सराहनीय न होने पर भी यह रचना समय प्रवाह में प्रशंसनीय है।[1]

नव आन्दोलन के उपन्यास

यह ऊपर कहा जा चुका है कि उद्गम में भिन्न होते हुए भी ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज का व्यावहारिक प्रभाव समाज पर एक-सा ही पड़ रहा था फलतः इनके विरोध में प्रतिक्रियावादियों ने 'सनातन धर्म' का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। हिन्दी क्षेत्र में आर्यसमाज को एक ओर विधर्मियों से और दूसरी ओर स्वधर्मियों से लोहा लेना

---

१ नव-आन्दोलन के उपन्यासों से पूर्व दो उल्लेखनीय पुस्तकें और हैं—'नूतन चरित' तथा 'निस्सहाय हिन्दू'। श्री व्रजरत्नदास के कथनानुसार सन् १८८१ में बा० राधाकृष्णदास ने एक उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' मौलिक लिखा। यह उपन्यास सन् १८८१ में लिखा गया था पर नव वर्ष बाद प्रकाशित हुआ'। 'गोवध-निवारण इसका मूल विषय है जिसके प्रतिपादन के लिए एक बहुत ही कमजोर कथा-भाग तैयार किया गया है। इसका अन्त बच्चों के खिलवाड़ सा लगता है' (श्री विजयशंकर मल्ल)। 'दो मित्र गोवध बन्द करने के लिए एक आन्दोलन करते हैं, उनके साथ एक मुसलमान सज्जन भी रहते हैं। अन्य कट्टरपन्थी मुसलमान षड्यन्त्र करके इन दोनों को मार डालना चाहते हैं और अन्त में दोनों ही ओर के कुछ लोग मारे जाते हैं' (भारतेन्दु-युग, पृ० ११)। रत्नचन्द्र प्लीडर कृत 'नूतन चरित' (सन् १८८३) में एक व्यक्ति स्वप्न में एक सुन्दरी को देखकर उस पर आसक्त हो जाता है और फिर उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में जो विघ्न उपस्थित होते हैं वे कथा का ढाँचा तैयार कर देते हैं। बीच-बीच में अस्वाभाविक ढंग से नीति-वाक्य बिखरा दिये गये हैं। अन्त में जो जैसा करता है वैसा फल पाता है और नायक-नायिका का विवाह सम्पन्न हो जाता है। इसमें नायकों की विलासिता और षड्यन्त्रियों की लीलाएँ विस्तार से वर्णित हैं। वैसे उपन्यास मनोरंजक है, पर आधुनिक उपन्यास के कार्योन्मुख स्वभाव का परिचय इससे नहीं मिलता (आलोचना उपन्यास विशेषांक, लेखक : प्रेमचन्द के आगमन तक, पृ० ६१)। इन पुस्तकों को आधुनिक उपन्यास की विकास परम्परा में स्थान मिलना कठिन है।

पड़ा। किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं से जिन उपन्यासों का सूत्रपात होता है उनमें रूढ़ि और सुधार का ही समन्वय चित्रित मिलता है। आर्यसमाज की एक निश्चित नीति थी उससे सहमत न होने वाले भी उसके भिन्न-भिन्न सिद्धान्त स्वीकार करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और राधाचरण गोस्वामी सनातन धर्म के अनुयायी थे परन्तु उन्होंने स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तावित सभी सुधारों को स्वीकार किया है भारतेन्दु ने स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धा भी प्रदर्शित की है और उनके सत्कार्य मे रचनात्मक सहयोग भी दिया है। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर के ब्राह्मणों को उनकी हठधर्मिता के लिए खूब फटकारा है। पं० सुधाकर द्विवेदी जन्म से धर्म नहीं मानते। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने शुद्धि का समर्थन किया है। श्री रामरामजीदास वैश्य विदेश यात्रा मे पाप नहीं समझते। श्री मन्नन द्विवेदी अनमेल विवाह को मिटा देना चाहते हैं। श्री राधाचरण गोस्वामी ने लिखा है कि आर्यसमाज के देशोन्नति करने में किसी को सन्देह हो तो वह मूढ़ है[1]। भारतेन्दु बाबू की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' पर सम्पादकों की नामावली मे स्वामी दयानन्द का नाम भी था। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'स्वर्ग में महासभा का अधिवेशन' में भारतेन्दु ने परमेश्वर द्वारा जो सिलेक्ट कमेटी[2] बनवाई है उसकी रिपोर्ट मे वे सभी सामाजिक दोष आ गये हैं जो सुधारकों का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे। संक्षेप में वे निम्नलिखित हैं —

(क) स्त्रियाँ 'जन्म भर सुख नहीं भोगने पातीं' लाखों गर्भ नाश होते और लाखों की बालहत्या हो जाती है।

(ख) 'जन्मपत्री की विधि के अनुग्रह से जब तक स्त्री-पुरुष जिएँ एक तीरघाट एक मीरघाट रहें बीच मे इस वैमनस्य और असन्तोष के कारण स्त्री व्यभिचारिणी पुरुष विषयी हो जायें परस्पर नित्य कलह हो शान्ति स्वप्न मे भी न मिले वंश न चले।

(ग) 'विधवा गर्भ गिरावें' पर विधवा का विधिपूर्वक विवाह न हो।

(घ) सदृश पात्र न मिलने से कन्या को वर मूर्ख अन्धा वरन नपुंसक मिले तथा वर को कानी कन्या मिले।

(ङ) 'कोई भी दुष्कर्म किया तो छिपकर क्यों नहीं किया इसी अपराध पर हजारों मनुष्य आर्यपंक्ति से हर साल छूटते हैं।

(च) 'मुसलमानी पीर, पैगम्बर, औलिया शहीद वीर ताजिया गाजीमियाँ जिन्होंने बड़ी-बड़ी मूर्ति तोड़कर और तीर्थ जलाकर आर्यधर्म विध्वंस किया उनको मानने और पूजन लग गये।

इन सुधारों में से भी कुछ तो कट्टर सनातनियों ने स्वीकार किये परन्तु अधिकांश छोड़ दिये। मुसलमान और ईसाइयों की पोपलीला का उनने खंडन किया है परन्तु

---

१ भारतेन्दु-युग पृ० १ ५

२. वही, पृ० १०१

पुरातनपंथियों की पोल को कट्टरपंथी श्रद्धा से ही देखते थे। किशोरीलाल गोस्वामी ने उनसे 'सनातन' समाज के इतर को 'सभ्य समाज' कह कर 'चपला' उपन्यास में उसकी दुर्गति कराई है। 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास में एक स्त्री-नाम की दुर्दशा देखकर पं० लज्जाराम शर्मा को इसी बात का सन्तोष है कि पति-पत्नी 'दोनों की जाति भी एक न थी'। किशोरीलाल गोस्वामी और लज्जाराम शर्मा इस प्रवाह के सबसे सशक्त लेखक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में धर्म का सही रूप छिपा हुआ है। यद्यपि सनातनधर्मी उपन्यासों के लेखक के रूप में उनका अध्ययन भी नहीं हुआ। उनके समकालीन दूसरे लेखक बहुत सामान्य लगते हैं। परन्तु किशोरीलाल गोस्वामी और उनके सनातनधर्म का विवेचन अपेक्षित है। शेष उपन्यासकारों के विचार तुलना के लिए यथास्थान आएँगे।

किशोरीलाल गोस्वामी

यह सनातन-धर्म गोस्वामी जी में तीन रूपों में देखा जा सकता है। धर्म में आस्था, खंडन का विरोध और सुधारों की स्वीकृति। धर्म में आस्था से अभिप्राय इस अखण्ड विश्वास से है कि संसार में धर्म ही सार है, धर्म की रक्षा से और विनाश से व्यक्ति का विनाश हो जाता है तथा धर्म ही ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों का एकमात्र साधन है। धर्म में आस्था के लिए पुराणों, स्मृतियों और नीति-ग्रन्थों के उद्धरण लेखक ने दिये हैं। साथ ही धर्म और पाप का संघर्ष दिखाकर धर्म की पाप पर विजय उनके ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यासों में दृष्टिगत होती है। बार-बार आने वाले कतिपय सिद्धान्त-वाक्य निम्नलिखित हैं —

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।[1]
फलं कर्मानुरूपं हि, प्राप्नोत्येव नरः सदा ।[2]
धर्माद् अर्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवेत्यसंशयम् ।
एतस्मात् मनुजश्रेष्ठ धर्मं चर सुखी भव ॥[3]
यथाकरोति कर्माणि तथैव फलमश्नुते ।[4]
हिंस्र स्वपापेन विहिंसितः खलः ।[5]

धर्म में आस्था के लिए लेखक ने प्राचीन साहित्य की शिक्षा और विदेशी साहित्य के त्याग पर जोर दिया है क्योंकि जो लोग "सनातन धर्म के सूक्ष्म तत्त्व जानने की इच्छा करेंगे, सनातन ग्रन्थों की महिमा पर विचार करेंगे, प्राचीन महर्षियों की विद्वत्ता और गवेषणा की खोज करेंगे और जीवन का सच्चा आनन्द लिया

---

१ नाश करने पर धर्म नाश करता है और रक्षा करने पर व्यक्ति की रक्षा।
२ निश्चय ही नर सदा कर्म के अनुरूप फल प्राप्त करता है।
३ धर्म से अर्थ, काम और निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए हे राजन्, धर्म का आचरण करो और सुखी रहो।
४ मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है।
५ दुष्ट हिंसक अपने पाप द्वारा स्वयं ही मारा जाता है।

चाहिये तो उन्हें संसार की सभी बातों में हिन्दुओं को सबसे श्रेष्ठ और हिन्दू धर्म को सब से प्राचीन और प्रधान मानना पड़ेगा। 'वे सनातन धर्म के उद्धार करने में तत्पर होकर अपने देशवासियों की मूढ़ता को दूर करें'[१] इसलिए 'पाठक! तुम अपनी विदेशीय पुस्तकों को भाड़ में डालो, हम लोगों के घर में निज की पुस्तकें इतनी हैं कि समस्त आयु के व्यतीत करने पर भी उनका अन्त होना दुस्तर है'[२]। वस्तुतः प्रेम का तत्त्व यदि जाना है तो केवल हिन्दुओं ने ही जाना है' 'कौन कहता है कि हिन्दू-धर्म प्राण-सम्मेलन की शिक्षा नहीं देता। एक-प्राणिता का उज्ज्वल दृष्टान्त यहाँ की अपेक्षा और कहाँ है?'[३] लेखक ने सनातन धर्म का इतना पक्षपात किया है कि उसकी दृष्टि में धर्म साध्य बन गया है और साहित्य साधन। 'आजकल हिन्दी भाषा उन्नति व अवनति की ओर धावित है, बुद्धिमान् व्यक्ति स्वयं इस बात को विचार सकते हैं। हिन्दी की जो कुछ उन्नति हुई व होगी वह तभी जब सनातन रीत्यानुसार सनातन धर्मरत देशहितैषियों की उन्नति होगी ।'[४]

विद्यमान हिन्दू धर्म में उस समय बहुत सी ऐसी बातें समाविष्ट हो गई थीं जिनको निश्चयपूर्वक वैदिक नहीं भी कहा जा सकता। कदाचित् वे आवश्यकतानुसार हिन्दू-समाज ने बाहर से लेकर पचा ली थीं और अज्ञानान्धकार के साथ-साथ उनका विकृत रूप पाखण्ड बन चुका था। आर्य-समाज ने उनका खण्डन किया, सनातन धर्म उनका समर्थक था। गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में खण्डन का विरोध करके उनका समर्थन किया है। वे निम्नलिखित हैं —

(१) फलित ज्योतिष (२) श्राद्ध (३) स्त्री शिक्षा (४) बाल विवाह (५) पौराणिक धर्म।

फलित ज्योतिष की चर्चा एक से अधिक उपन्यासों में है। 'चपला' 'उपन्यास' की 'कामिनी' 'राक्षसी कन्या' है, 'जहाँ-जहाँ उसकी शादी भिन्न-भिन्न लड़कों के साथ पक्की की गई वे लड़के मर-मर गये'[५]। 'लोगों ने समझ लिया कि फलित ज्योतिष और दैवी चिकित्सा निरी धोखे की टट्टी या ठगी का जाल-मात्र है, पर ऐसी बात नहीं है'[६]। लोग ज्योतिषियों को वंचक और धूर्त समझते हैं —'इसमें जो कुछ अपराध है वह सारा उन्हीं कुपढ़ उचक्कों का ही है जो केवल 'शीघ्रबोध' और 'ज्योतिष-सार' के भरोसे ज्योतिषी बने डोलते और भोले-भाले लोगों को ठगते फिरते हैं'[७]। वास्तव

१ 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी' पृ० १०
२ वही पृ० १५
३ वही, पृ० १५
४ वही, पृ० १५
५ चौथा भाग पृ० ८
६ चौथा भाग पृ० ६
७. अँगूठी का नगीना, पृ० ८६

में 'गणित' और 'फलित' ये ही दो ज्योतिष के प्रधान अंग हैं और सारे संसार में अब तक विज्ञान की जितनी उन्नति हुई है, उन सबों का निदान केवल यही गणित और फलित ही है— ।[1]

पाठक के प्रश्न का उत्तर लेखक ने बड़े समर्थ से दिया है 'आजकल के कोई अधकचरे ग्रेजुएट कहेंगे—यह अनन्य हिन्दुओं के साथ श्राद्ध करने का ख्याल कल्पना-प्रसूत होगा। पर उन अद्भुत मूर्तियों की मूर्खता भरी बातें कौन मान सकता है? जो स्वयं आर्य शोणित से उत्पन्न होकर भी अंग्रेज-बीयरोंसन्त बनने का दम भरते हैं और जिनमें कुछ भी आर्यत्व का अभिमान नहीं रहा उन कुल कुठारों का कहा कौन सुनेगा?'[2] लेखक के मत में लड़कियों को अधिक 'न तो पढ़ना ही चाहिए और न ग्यारह वर्ष की उम्र के बाद फिर स्कूल में 'ही जाना चाहिए'—इस 'राय पर स्त्री-शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रुष्ट होंगे परन्तु जो मर्मज्ञ पाठक स्त्री-शिक्षा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष फल देख रहे हैं वे इस राय पर कदापि न झल्लायेंगे'[3]। कम पढ़ाने का एक कारण यह भी है कि सनातन धर्म के अनुसार रजस्वला लड़की एक दिन भर भी क्वांरी रखने लायक नहीं'[4] होती।

अस्तु व्यावहारिक जीवन में लेखक ने पौराणिक मत की सभी बातों का समर्थन किया है तीर्थयात्रा मूर्तिपूजा हरिकीर्तन आदि के अनेक छोटे-मोटे प्रसंग हैं। स्त्री को उसने पूज्य दृष्टि से नहीं देखा 'यद्यपि संसार में सती-साध्वी नारी भी उत्पन्न होती है पर उनकी संख्या इतनी थोड़ी होती है कि जो अंगुली के पोरों पर गिन भी जा सकती है'[5]। होना यह चाहिए था कि वह बहुविवाह के दोष दिखा कर एक पत्नीव्रत का उपदेश देता परन्तु 'पुनर्जन्म वा सौतियाडाह' उपन्यास का किसी अन्य ही हास्यास्पद ढंग से उसने उपसंहार किया है 'क्या हमारे हिन्दू-समाज के लिए भी कभी ऐसा दिन आवेगा कि जब सौतिनें सुशीला और सुन्दरी का सा बर्ताव करना सीखेंगी और पुरुष लक्ष्मणसिंह की भांति रसिक नायक का सा आचरण करेंगे।'[6]

इतने पुरातनपंथी होते हुए भी गोस्वामी जी ने कतिपय सुधारों को स्वीकार किया है। जिनमें से मुख्य है प्राचीन साहित्य एवं विद्यार्थियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध। 'जब तक इस देश के प्राचीन साहित्य का उद्धार न होगा और लोगों की रुचि—परिमार्जित रुचि—साहित्यानुशीलन में प्रवृत्त न होगी तब तक इस देश के समाज

---

१ माधवी माधव पृ० १६
२ त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी, पृ० १४
३ माधवी-माधव पृ० [illegible]
४ चपला चौथा भाग पृ० ११
५ माधवी-माधव पृ० [illegible]
६ पृ० [illegible]

का सुसंस्कार कदापि न होगा और समाज के सुन्दर संस्कार बिना देश का—रसातल गत देश का—पुनरुद्धार होना कदापि सम्भव नहीं है"[1]। 'माधवी माधव' उपन्यास में उसने "ज्योतिष वेदांग"[2] का एक कालेज खोलने की सिफारिश की है। दूसरा सुधार मुसलमानों को शुद्ध करना और योग्य मुसलमान बालिकाओं से विवाह कर लेना है शुद्धि की चर्चा ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रसंग में है शुद्धि-विवाह का उदाहरण इनका उपन्यास 'कनककुसुम' वा 'मस्तानी' है।

लेखक होली और दीपावली उत्साह से मनाना चाहता है। "जो होली स्वभावत परम पवित्र है उसे आजकल के नये सभ्य अपवित्र कहते और अपनी मनमानी 'पवित्र होली' की गढ़न्त करके 'रिफार्मर' होने का गर्व दिखलाते हैं"[3] दिवाली के ऊपर 'जुआ' खेलने की बुरी और सत्यानाशी 'रस्म' इस देश में फैल रही है उसे रोकना चाहिए, परन्तु मेरे विचार से जब तक न्यायशीला गवर्नमेंट इस जुए के रोकने के लिए कोई कठोर नियम न बनावेगी तब तक इस देश के बेवकूफ अपनी बेवकूफी से कभी बाज न आवेंगे"[4]।

यद्यपि उपन्यासकार को रिफार्मरों से चिढ़ है फिर भी वह स्त्री-सुधार को सबसे अधिक महत्व देता है स्त्री को शिक्षा देने से कोई लाभ नहीं हानिमा प्रत्यक्ष है परन्तु *उसका स्वभाव और चरित्र अच्छा बनाना उचित है।* अपने उत्तरकालीन उपन्यास में लेखक ने लिखा है अपने देश के भाइयों से इस बात के लिए सविनय अनुरोध करता हूं कि वे सब से पहले कन्याओं के सुधार करने का प्रयत्न करें क्योंकि यदि सुकन्या समय पाकर सुगृहिणी होगी तो वही एक दिन सुमाता भी होगी और उसका पुत्र सुपुत्र अवश्य ही होगा"[5]। इन सामाजिक उपन्यासों में लेखक सनातन-धर्म को कट्टरतापूर्वक मानता हुआ भी सुधारवादी है और उसे जाति-धर्म के उत्थान का ध्यान रहा है *पाठकों को बहलाना-मात्र इसका उद्देश्य नहीं है।*

सामाजिक उपन्यासों की कला-विषयक एक विशेषता यह है कि इनमें से अधिकतर उपन्यासों की 'कहानी बिल्कुल सच्ची है और इसमें वर्णित पात्रों के नाम भी सही-सही हैं। केवल जिले और गांव के नाम कल्पित हैं"[6]। अंग्रेजी उपन्यासकार डेफो के समान सचाई की शपथ से उपन्यास अधिक आकर्षक एवं रोचक बन जाया करते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि इनके कथानक मध्यवर्गीय हिन्दू परिवार से आते हैं ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य सम्पन्न परिवारों की सामान्य समस्याएं इनका विषय बनी हैं। ये उपन्यास युवावस्था के जीवन का चित्रण करते हैं इसलिए इनमें स्त्री

---

१ वही
२ पृ० २०
३ अंगूठी का नगीना, पृ० १४८
४ माधवी माधव पृ० ११६
५ माधवी-माधव पृ० ११
६ अंगूठी का नगीना, भूमिका

और पुरुष पात्रों की संख्या बराबर है और स्त्री और पुरुष के समागम पर ही किसी न किसी रूप में प्रकाश डाला गया है। नायिकाएं सुन्दरी तथा गुणवती हैं और पुरुष धार्मिक एवं सरल। लेखक ने नायकों को माध्यस्थी बनाकर उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं होने दिया वे दैवागत घटनाओं के अनुसार चल कर अपना 'पार्ट' निबाह रहे हैं। नायक नायिका के अतिरिक्त या तो उपनायक-उपनायिका की योजना है या उपनायक-उपनायिका की अतः पूर्ति अथवा तुलना का भाव बीज रूप में इन पात्रों में विद्यमान है। सभी उपन्यास सुखान्त हैं दम्पति-जीवन प्रणय से प्रारम्भ होकर वात्सल्य तक चित्रित किया गया है। सामाजिक उपन्यासों की भाषा सरल परन्तु साहित्यिक है स्थान-स्थान पर संस्कृत के उद्धरण भी आ गये हैं वर्णन बहुत सुन्दर है सामयिक विषयों का प्रतिपादन आकर्षक ढंग से किया गया है तिलिस्म आदि का स्थान यहाँ धर्मोपदेश ने ले लिया है। दाम्पत्य जीवन के सार शृंगार को जानकर लेखक ने नख-शिख तथा प्रथम मीलन का वर्णन किया है यह नख-शिख या तो लौकिक संस्कृति का प्रभाव माना जा सकता है या रीतिकालीन परम्परा का उदाहरणतः 'माधवी-माधव' उपन्यास में परिच्छेदों के शीर्षक तक कामशास्त्र से गृहीत हैं जिनके द्वारा प्रेम का 'अंकुर' से लेकर 'पराग' तक का विकास दिखलाया गया है 'अंगूठी का नगीना' उपन्यास की नायिका लक्ष्मी यद्यपि बालिका है परन्तु उसकी लीला का 'बढ़ना' 'उमगना' 'खिलना' और 'लगना' शृंगारी परम्परा में ही दिखलाया गया है।

किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक उपन्यास जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है धर्म की जय और पाप की पराजय दिखाने के लिए लिखे गये हैं। कर्म का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है कर्म अच्छे हुए तो विरोधी असफल हो जाते हैं जिनकी कोई बाधा शेष नहीं की वे मिल जाते हैं ('लीलावती या सौभाग्यवती') कर्म बुरे हुए तो आदमी गल-गल कर बुरी तरह से पानी के लिए तड़प तड़प कर मर जाता है ('चपला')। जिस प्रकार अच्छे कर्म का फल मिलता है उसी प्रकार कुकर्म का भोग भी अनिवार्य है, वस्तुतः भोग के बिना कर्म पूरा नहीं होता। कुकर्म का भोग दो प्रकार का है—प्रायश्चित और दण्ड प्रायश्चित स्वयं निर्धारित दण्ड का नाम है। शास्त्रकार क्षमा का पक्षपाती नहीं है, प्रत्युत अपराध रोकने के लिए कठोर दण्ड का विधान चाहता है। "पाप कभी भी छिपाने से नहीं छिपता और वह कभी न कभी संसार में प्रकट हो ही जाता है पाप का प्रकट कर देना भी पाप से मुक्त होने का एक प्रायश्चित है।"[1] यदि प्रकट करके या स्वीकार करके पाप का प्रायश्चित न किया जाए तो पाप पापी को जलाता रहता है, और पापी का जीवन घुल घुल कर या चेहरा बिगड़ कर या शरीर गल-गल कर उसे यातनाएं देता रहता है। गोस्वामी जी अपने सामाजिक उपन्यासों में पाप का ऐसा ही भीषण परिणाम दिखा कर पाठक को धर्म में प्रवृत्त करना चाहते हैं—'धर्मेश्वर सुखी भव'।

गोस्वामी जी के उपन्यासों की कतिपय स्वकीय विशेषताएं भी हैं। अविकल्पतः

---

१ माधवी-माधव भ० १४४

उपन्यासों के नाम नायिका के नाम पर हैं । ये नाम सविकल्प हैं अर्थात् नाम दो-दो हैं, परन्तु दोनों 'वा' से जोड़कर साथ-साथ लिखे जाते हैं । जैसे 'सर्वांगलता वा आदर्शबाला' 'गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह' 'अप्सरा वा सभ्य समाज चित्र' । इन दो नामों में से एक तो कथानक में वर्णित व्यक्ति (प्राय नायिका) की संज्ञा है जैसे सर्वांगलता गुलबहार, और अप्सरा और दूसरा उस कथानक का वर्ण्य गुण या उद्देश्य है जैसे 'आदर्शबाला' 'आदर्श भ्रातृस्नेह', और 'सभ्य समाज चित्र' । अधिकतर उपन्यासों के कई-कई भाग हैं, और प्रत्येक भाग में पूर्व-वर्णित वृत्त एवं आगामी कथा का संकेत फुटनोट में यथास्थान प्रसंगपूर्वक लिख दिया गया है जिससे पाठक को स्वयं सोचने के लिए अधिक मानसिक व्यायाम न करना पड़े साथ ही अन्य भागों को पढ़ने के लिए भी वह उत्सुक हो । इन फुटनोट संकेतों के अतिरिक्त कहीं-कहीं मूल में और कहीं-कहीं फुटनोट में सामयिक सैद्धान्तिक या प्रासंगिक विषयों की चर्चा है । त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी (सन् १९ ७) में सनातन धर्म अंग्रेजी राज्य मद्य प्रथा हिन्दी भाषा 'सर्वांगलता वा आदर्शबाला' (सन् १९०४) में राजा शिवप्रसाद सेठ धर्मचंद आदि की चर्चा उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती है । प्रत्येक उपन्यास परिच्छेदों में विभक्त है प्रत्येक परिच्छेद का एक विशेष शीर्षक वर्ण्य वस्तु को ध्यान में रखकर दिया गया है । प्राय सभी उपन्यासों के मुख पृष्ठ पर कोई (प्राय संस्कृत की) सूक्ति लिखी हुई है, जो उपन्यास के उद्देश्य की सूचना देती है प्रत्येक परिच्छेद का मस्तक भी सूक्ति से चर्चित है जो उस परिच्छेद के उद्देश्य की सूचक है । उपन्यास का शरीर भी नीति-विषयक सूक्तियों से सुरभित है जिससे लेखक के विशाल अध्ययन की सूचना भी मिलती है और पाठक का मन भी उत्फुल्ल रहता है । गोस्वामी जी की साहित्यिक रुचि तो ऐसे ही स्थलों पर चमकती है और इन्हीं गुणों के कारण उनके उपन्यास साहित्यिक उपन्यास की कोटि में आते हैं । वे अपने पाठक से बहुत निकट थे उसके मन को तुष्टि और रंजन के साथ-साथ आदर्शों की ओर भी प्रेरित करते थे । उनके कुछ उपन्यासों के नामों में भी 'आदर्श' शब्द सम्मिलित है जैसे 'लीलावती वा आदर्श सती' 'सर्वांगलता वा आदर्शबाला' 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' 'गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह' पाठक से वे अपने नायक-नायिकाओं के 'उदार चरित्र को पूज्यदृष्टि से अवलोकन'[1] की आशा[2] रखते हैं । ये उपन्यास पाठक के मन पर नैतिक प्रभाव छोड़ते हैं उसे भटका कर पथभ्रष्ट नहीं करते । इसीलिए उनका अन्त सुखमय है । जो लोग इन सामाजिक उपन्यासों का उद्देश्य नवयुवकों को पाप का आकर्षक चित्र दिखाकर उनको पथभ्रष्ट करना समझते हैं । वे लेखक के प्रति न्याय नहीं करते । लेखक ने समाज की कुरूपता दुर्गन्ध एवं बर्बरता का वर्णन किया है, परन्तु वहां भी लेखक का उद्देश्य पाठक के मन को बहकाना नहीं सावधान करना है, 'असत काम्य

---

१ दे० 'सर्वांगलता वा आदर्शबाला' की भूमिका ।

२ 'तारा' उपन्यास का समर्पण है —"आप ही को समर्पित है तारा' । यदि आप इसे अपनी कोरी कल्पना की दृष्टि से न देखते हो तो अपनी प्यारी सखी के नाम से भी मरण करके या इस लिखित हो जायेगी ।

को छोड़ि सबै कवितारस पागै' का प्रचार करने वाले गोस्वामी जी नवयुवकों को भटका कर पथभ्रष्ट कर भी कैसे सकते थे। सबसे बदनाम जिसको स्वयं लेखक ने भी 'वर्तमान समाज की घृणित अवस्था का ज्वलंत चित्र' कहा है उपन्यास 'चपला' में नायिका चपला की मनस्विता ध्यान रखने योग्य है—'मैं अब अपने का इस योग्य बना लूंगी कि जिससे मैं मरते दम तक इस निगोड़ी विपत्ति का सामना दृढ़ता के साथ कर सकूं और अपने निर्मल शरीर में किसी तरह का धब्बा न लगने दूं।'[2]

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी

त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी किशोरीलाल गोस्वामी के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है। यह सन् १८९० ई० के 'बिहार-बन्धु' नामक पत्र में एक वर्ष में आद्यन्त छापा गया और सन् १९०७ ई० में काशी से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। नायिका का नाम 'त्रिवेणी' है और उपन्यास में प्रथम दृश्य भी त्रिवेणी का ही है। इस उपन्यास में ३ परिच्छेद और ४१ पृष्ठ हैं। कहानी मनोहरदास नामक एक धार्मिक व्यक्ति की है जो अपनी पत्नी से वियुक्त होकर कुछ समय बाद फिर मिल जाता है। प्रथम परिच्छेद का नाम 'हृदयोच्छ्वास' द्वितीय का 'मानसिक मोह' और तृतीय का 'प्रेम-परिणाम' है। आदि में वियुक्त नायक के भाव दिखाये गये हैं मध्य में उसकी पुरानी कहानी है और अन्त में मिलन है।

महानुभाव मनोहरदास सच्चे धर्मात्मा और प्रेमी व्यक्ति थे। उनका विवाह आगरा के लाला प्रेमदास की गुणवती पुत्री त्रिवेणी के साथ हुआ था। एक बार मनोहरदास पत्नी-सहित यात्रा को निकले। काशी आते-आते व्याघ्रसर (बक्सर) के समीप उनकी नौका डूब गई, त्रिवेणी कहीं बह गई मनोहर कहीं और जा पड़े। उधर प्रेमदास को मुसलमानों ने राजद्रोह के काम में फंसाया परन्तु दुष्टों का षड्यंत्र खुल गया और वे छूट गये। उनको त्रिवेणी मिल गई, परन्तु मनोहर नहीं मिला वह त्रिवेणी की खोज में ही घूमता रहा। तीन वर्ष बाद त्रिवेणी के किनारे अकस्मात् सब का मिलन हो गया।

इस उपन्यास में प्रारम्भिक अवस्था के कई चिह्न पाये जाते हैं। इसमें न सुगठित कथानक है और न किसी भी चरित्र का चित्रण कथोपकथन का आश्चर्यजनक अभाव है। नायक का अकेले बैठकर 'मन ही मन बड़बड़ाना' और स्थान-स्थान पर कथाकार का स्वयं उपस्थित होकर उपदेश देने लगना उपन्यास-कला के अविकास के परिणाम हैं। लम्बे-लम्बे वर्णन एक ओर कवि-हृदय का परिचय देते हैं दूसरी ओर साहित्यिक रुचि का भी। त्रिवेणी पर पहुंच कर 'त्रिवेणी' का स्मरण और दूर से उसका गीत सुन कर वियोगाग्नि का धधकना कथानक के लिए अधिक उपयोगी है। तीन परिच्छेद नाटक

---

१ दे० [illegible]' पृ० १८

२. 'चपला या नव्य समाज चित्र' चौथा भाग अंतिम परिच्छेद, पृ० १९

के दृश्य बनकर भावुक भाषा से दर्शकों को अधिक प्रभावित कर सकते हैं। मिलन के बाद पर्दा गिरने से पूर्व पाठकों को आशीर्वाद देते हुए मानो लेखक ने भरत-वाक्य ही लिख दिया है। 'वह दीनदयालु ऐसे ही सब बिछुड़े हुओं को मिलावे और सुखित करे यही प्रार्थना है।

लेखक की भाषा संस्कृतनिष्ठ और कुरुचिपूर्ण पंडिताऊपन से युक्त है। न उर्दू के शब्द हैं और न अंग्रेजी के। सामान्य वार्तालाप में भी भाषा क्लिष्ट हो गई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों में 'ओष्ठागत' 'अनुसन्धान' शब्दों को देखा जा सकता है —'तुम्हारे लिए हम लोगों के विशेष कर त्रिवेणी के प्राण ओष्ठागत थे। तीर्थयात्रा करते-करते हमने कितना तुम्हारा अनुसन्धान किया—। (पृ १७)

प्रयागराज का लेखक ने जो वर्णन किया है उसको पढ़कर बाणकवि का लेखक पर प्रभाव लक्षित होता है। संस्कृत के विद्वान् के लिए यह आश्चर्यजनक नहीं कि अपनी शैली को उत्तम बनाने के लिए वह आधुनिक उपन्यास में भी 'कादम्बरी' का अनुकरण करे। कवि किशोरीलाल की वर्णन शैली के दो उदाहरण देखिए —

(क) कोई कुलटा के कुटिल कटाक्ष से क्षत विक्षत कोई सरला के सहज स्वभाव से वश कोई मुग्धा के मनोहर भाव से विवश और कोई मध्या नायिका के मनोनीत विलास से विभ्रान्त होकर कन्दर्प की ज्वाला से व्यर्थ अपने मन को जलाकर उभय-लोक को भस्मसात् कर रहे हैं। (पृ० ८)

(ख) कोई समय पाकर अँधेरे उजेले इधर-उधर कुलकामिनियों में नैन-मन प्राण लगाये उन्मत्त हुए कोई-कोई कुत्सित कुलटाओं के सुसंग में अपने निपुण कुल को कलंकित कर रहे होंगे—और इधर वैतरंगिणी की तरुणी नार-वधू-जन अपने अपने शिकार के संग बहार लेती होंगी। (पृ १२)

इस उपन्यास में सबसे ध्यान आकृष्ट करने वाला गुण धर्मोपदेश है। इसकी रचना भी इसी उद्देश्य से हुई है कि पाठक के मन पर 'तस्मात् धर्म समाचरेत्' की स्थायी छाप बैठ जाय। सभी पात्र ईश्वर की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपना कर्तव्य पालन करते हैं जिससे कुछ दुःख आ पड़ने पर अन्त में दीर्घ-सुख उनको प्राप्त हुआ है। इस धर्म को लेखक ने 'आर्य्यधर्म' 'सनातन धर्म' 'हिन्दू धर्म' 'प्रथम धर्म' नामों से पुकारा है। दूसरी रचनाओं के देखने से पता लगता है कि लेखक का यह 'आर्य्य धर्म' वस्तुतः 'सनातन धर्म' ही है। अर्थात् वर्णाश्रम-प्रथा हरिकीर्तन और श्राद्ध का भी समर्थन है। इस उपन्यास में भारतीय साहित्य के अध्ययन और विदेशी साहित्य के त्याग का उपदेश है। 'मास्टर ग्रेजुएट' लोगों पर लेखक की विशेष अप्रसन्नता मालूम पड़ती है उनको 'आर्य्यशोणित से उत्पन्न होकर भी म्लेच्छ-वीर्योत्पन्न बनने का दम भरते'[1] देखकर लेखक उनसे रुष्ट है लेखक का विश्वास है कि सनातन धर्म का

---

१ पृ० १४

कभी विनाश नहीं हो सकता कुसंस्कारों के प्रवेश कर जाने पर भी धर्म की 'मौलिक प्रकृति अभी तक सबला विशद और उन्नत है'[१]। धर्म के ही कारण उपन्यास का अन्त मंगलकारक और 'शोभ नत्सद्' में हुआ है। लेखक इस उपन्यास में शृंगार की योजना नहीं कर सका जिससे उसको भय है कि 'यह उपन्यास सर्वसाधारण को रुचिकर न होगा और आश्चर्य नहीं कि विशिष्ट जन भी इससे चिढ़ जाएँ'[१]। धर्म और शृंगार का यह पारस्परिक सम्बन्ध उस युग की सामान्य रुचि पर अच्छा प्रकाश डालता है। उपन्यास के अन्त में लेखक ने विश्वास दिलाया था कि यह सच्ची घटना का वर्णन है काल्पनिक नहीं 'अभी त्रिवेणी के सन्तान वर्तमान हैं इसलिए इनका नाम न लिखा गया है कि पाठकगण क्षमा करें'।

लीलावती वा आदर्श सती

गोस्वामी किशोरीलाल के सामाजिक उपन्यासों में 'लीलावती वा आदर्शसती' का भी विशेष स्थान है। यह उपन्यास सन् १९०१ ई०[२] में पहिली बार छपा था। सन् १९०७ में इसका दूसरा संस्करण निकला। इसमें ३४ परिच्छेद और २२४ पृष्ठ हैं। गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यास सामान्यतः दो वर्गों में रखे जा सकते हैं एक निवर्त्तक वर्ग जिसमें प्रधानता सभ्य समाज के दूषित चित्र को दी गई है, दूसरा प्रवर्तक वर्ग जिसमें पात्रों का कष्टों को पारकर सुख-समृद्धि भोग करना का विषय है यद्यपि दोनों वर्गों की रचनाओं में धर्म की पाप पर विजय होती है और कर्म के अनुसार सब लोग फल भोगते हैं फिर भी निवर्त्तक वर्ग के उपन्यास दूषित दृश्यों को उपस्थित करके उनसे पाठक का मन फेरते हैं जबकि प्रवर्तक वर्ग के उपन्यास आदर्श जीवन का चित्रण करके पाठक का मन उधर प्रवृत्त करते हैं। जिन उपन्यासों के नामों में 'आदर्श' शब्द जुड़ा हुआ है वे इसी पिछले प्रवर्तक वर्ग के हैं। 'लीलावती' उपन्यास इसी वर्ग का एक विशेष प्रतिनिधि है।

उपन्यास के मूल में लीलावती और कलावती नाम की दो स्त्रियाँ हैं जो प्रारम्भ में तो सत्यनारायण की कथा का स्मरण दिलाती हैं परन्तु अन्त में एक दूसरे के विपरीत सिद्ध होती हैं। लीलावती भारतीय महिला है जिसका चरित्र स्वच्छ और जीवन पवित्र है उसे समाज की ऊंच-नीच का ध्यान है प्रत्येक व्यक्ति के साथ उचित व्यवहार उसे आता है और वह अपनी और दूसरे की मर्यादा का पूरा निर्वाह करती है। ललित किशोर के साथ उसका प्रेम उसी प्रकार का है जैसे सत्यवान् के साथ सावित्री का उसमें वासना नहीं सात्विक प्रेरणा है इसलिए उसमें धैर्य एवं विश्वास भी है। सतीत्व के कारण ही धर्म अनेक व्यक्तियों के रूप में आकर लीलावती की सहायता करता है और अन्त में ललितकिशोर एवं लीलावती सुख-समृद्धि का गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इसके विपरीत लीलावती की दूर के सम्बन्ध की बहिन कलावती कुछ काल तक तो

१ पृ० ९९
२ 'अंगूठी का नगीना' उपन्यास की भूमिका, पृ० ?

लीलावती के समान ही बनी रही परन्तु सभ्य जीवन की मृगतृष्णा ने उसके मनको भटका दिया फलतः वह लम्पट बालकृष्ण के हाथ पड़ गई, उसने प्रेमी के साथ भाग कर सिविल मैरिज की। जब पति-पत्नी इलाहाबाद चले गये तो इन्होंने 'पूर्ण रीति से विलायती समाज की नकल करनी प्रारम्भ की' बालकृष्ण 'इधर-उधर की हँडिया चाटा ही करता था' कलावती ने भी 'दुखिया के रंग-ढंग की तरफ अपनी नजर फेरी'। कलावती एक नौकर के साथ भाग गई फिर दूसरे आदमी के साथ और फिर तीसरे के साथ। अन्त में कुल-कलंकिनी कलावती बदशकल भिखमंगिन बन गई उसके सारे शरीर में कोढ़ फूट निकला था हाथ-पैर की कई उंगलियाँ गल गई थी नाक भी एक रोग से गल गई और चेहरा बहुत ही भयावना बन गया था[1]। यमुना में डूब कर उसने अपने पापी जीवन का अन्त किया।

नायिका लीलावती और खलनायिका कलावती के जीवन की तुलना करते हुए लेखक ने पाठकों से गम्भीर अपील की है 'अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है और अभी भी अपने समाज की रक्षा हो सकती है यदि अपनी-आप [illegible] और अपने समाज को उसी पुरानी रीति से संस्कृत करें जो वैदिक और वर्तमान-काल के उपयुक्त हों'[2]। इस अपील में 'वैदिक' और 'वर्तमान-काल के उपयुक्त' दो विशेषणों पर ध्यान देना आवश्यक है। जो कुछ वैदिक है वह ज्यों-का-त्यों ग्रहण करने योग्य आज नहीं भी हो सकता उसमें देश काल-पात्र के अनुसार परिवर्तन तो करना ही होगा परन्तु परिवर्तन इतना न हो कि मूल को आत्मसात् कर बैठे। आदर्श सर्वांशतः प्राचीन वैदिक ही होगा परन्तु उसमें यत्किंचित् हेर-फेर हो सकता है। लीलावती और कलावती के जीवन से इस परिवर्तन का भी उदाहरण मिल जाता है। लीलावती का ललितकिशोर से प्रेम उस जाति का है जिसे 'सर्वांगमता' उपन्यास में 'कोर्टशिप' कहा गया है कोर्टशिप भी दो प्रकार की होती है—'विलायती'[3] और देशी। देशी कोर्टशिप सावित्री-सत्यवान्, ऊषा-अनिरुद्ध नल-दमयन्ती का पूर्व-राग इसमें चंचलता नहीं स्थिरता है, वासना नहीं आत्मसमर्पण है। इसके विपरीत कलावती ने बालकृष्ण से जो कोर्टशिप की वह पश्चिमी ढंग की वासनात्मक है उसमें धैर्य नहीं वासना का उबाल है इसीलिए तो अपनी इच्छा का पति प्राप्त करके भी कलावती दूसरे-तीसरे व्यक्तियों के साथ भागती रही। ललितकिशोर के गुणों से आकृष्ट होकर भी लीलावती ने प्रेम-निवेदन नहीं किया और प्रेम-निवेदन करके उस समय तक विवाह न किया जब तक कि उसके विधिपूर्वक सम्पन्न होने की संभावना न थी। परन्तु कलावती आकृष्ट हुई कि घुलमिलकर बात करने लगी प्रेम की बात हुई कि साथ भाग चली माता बदल कर विवाह हुआ कि इधर उधर निगाह फेंकने लगी। उपन्यासकार ने महिलाकुल की प्रमुख विशेषता सतीत्व मानी है जो भार

१ पृ २११   २ पृ १२१

३ भारतवर्ष के अब तक की क्वारी लड़कियों को इस तरह विलायती कोर्टशिप करना नहीं है उसमें लाग नाम करते हैं। (लज्जावती ग्यारहवाँ परिच्छेद पृ १८)

तीय संस्कृति के अनुकूल ही है। इस सतीत्व के स्थान पर 'पूर्ण स्वाधीनता और अयोग्य शिक्षा का प्रचार' वह समाज के लिए घातक समझता है।

उपन्यास में चरित्रों का विकास तो नहीं है परन्तु लीलावती-ललितकिशोर और कलावती-रामकृष्ण दो दम्पतियों के तुलनात्मक चित्र उपस्थित कर 'मध्यसमाज' और सनातन समाज का महत्व आँकने का सफल प्रयत्न किया गया है। इस चित्रण के लिए जितना असम्बद्ध हुआ कथानक लेखक ने बनाया है उसकी भी आवश्यकता नहीं थी। प्रारम्भिक ३ परिच्छेदों तक तो नायिका का नाम भी नहीं है चौथे में केवल एक वाक्य है 'इसी बीच में कालिन्दी को एक लड़की हुई जो इस समय केवल ग्यारह महीने की है, जिसका नाम लीलावती है और यही हमारे उपन्यास की प्रधान नायिका है'। पंचम परिच्छेद से ४०वें परिच्छेद तक मूल कथा है ४१वें से ५१वें परिच्छेद तक का भाग लीलावती के परदादाओं का इतिहास है जो अनावश्यक है। १ – ८ वर्ष के युगलकुमार की सारी कहानी कथानक को शिथिल बना देती है। लेखक का उद्देश्य कथा को पूर्ण बनाना है इसलिए मामरा निवासी परशुराम के वंश की ५ पीढ़ी की कहानी लिखकर सारी घटनाओं का विवरण देकर अन्त में लीलावती को रानी और पुत्रवती बनाकर ही कलावती के जीवन का अन्त दिखाया गया है। युगलकुमार का चमेली से असफल प्रेम एक अलग कथानक का आधार हो सकता था इसी प्रकार राजा विजयकृष्ण और चन्द्रकला का असफल प्रेम भी इस कथानक को बोझिल बना देता है। कथा की दृष्टि से तो ये प्रासंगिक विवरण अनावश्यक एवं व्यर्थ हैं परन्तु लेखक की दृष्टि समाज में सर्वत्र कर्म-फल दिखाने की रही है इसलिए मुख्य कथानक से जिन लोगों का भी सम्बन्ध हो सकता था उन सबके कर्मों का फल भी स्वतन्त्र रूप से लेखक ने दिखा दिया है।

कथानक में ध्यान देने की एक विशेषता यह है कि इसमें घृणित चित्र एक भी नहीं है। किशोरीलाल के उपन्यासों में दो प्रकार के घृणित चित्र पाये जाते हैं वे जो तिलिस्म आदि में भयानक एवं आतंककारिणी घटनाओं का प्रदर्शन करें, और वे जो समाज के वासनात्मक जीवन को अंकित करें। सामाजिक उपन्यास में भी सती नारी को डाकुओं से उठवा मंगा कर, आजीवन कारावास में भाँति भाँति की यातनाएँ देने के वर्णन हैं जैसे 'चपला' उपन्यास में। यहाँ भी लीलावती को चपला के समान ही कष्ट दिलवाये जा सकते थे परन्तु उपन्यासकार ने वातावरण को शान्तिप्रिय बनाया है शायद इसलिए कि इस घटना के समय अंग्रेजी राज्य दृढ़ हो चुका था और अव्यवस्था की सम्भावना बड़े-बड़े नगरों में नहीं रह गई थी। इस अव्यवस्थापूर्ण रोमांचकारी वातावरण के स्थान पर अदालत और मुकदमे का चित्र है, जिसको किसी सीमा तक प्रेमचन्द ने भी अपनाया है। दूसरे घृणित चित्र समाज के वासनात्मक जीवन के भी इस उपन्यास में नहीं आये लेखक बनारस की गलियों में से निकला अवश्य है परन्तु चन्द्रकला का उद्धार करने के लिए या सिंहासनचन्द की दुर्दशा कराने के लिए ही उसके पतन को अंकित करने के लिए नहीं। राजा विजयकृष्ण की परित्यक्ता पत्नी पेट की ज्वाला और कर्ज से परेशान होकर चकले में पहुँच जाती है परन्तु उसकी दिव्य मूर्ति को देखकर कुमारी प्रमोदकुमार उसे बहिन

मानकर उसको अपनी समस्त पूंजी—सौ रुपये—दे देता है—एक ही घटना से दो व्यक्तियों का उद्धार बड़ा आश्चर्यजनक है। परन्तु इस घटना में 'सेवासदन' का संकेत छिपा हुआ है सामाजिक मजबूरियां आम आदमी को पतन के गर्त में ढकेल देती हैं—वेश्या के स्वभाव में वासना और निर्लज्जता हो ऐसी बात नहीं परन्तु उसकी आत्मा के सामने आकर अधकार भी तो उसे शुभ्र जीवन के लिए बाध्य कर सकता है।

'लीलावती' उपन्यास में लेखक ने तीन स्थानों पर उपन्यास कला के विषय में भी लिखा है। पृ० २ पर लीलावती और कलावती के व्यक्तित्व का भेद बतलाते हुए उपन्यासकार ने लिखा है कि कलावती 'शृंगाररस के चुहचुहाते नाटक उपन्यास और काव्य पढ़ती' परन्तु लीलावती नाटक उपन्यासों के बदले अकेले में बैठ कर सुई का काम करती या धर्म सम्बन्धी या ज्ञान की पुस्तकें पढ़ा करती थी'। इस संकेत से विदित होता है कि लेखक की दृष्टि में भी उपन्यास पढ़ना 'भले घर की' लड़कियों के लिए उचित नहीं है क्योंकि वे विशेषतः शृंगार रस के वासनात्मक चित्र होते थे। पृ० ४२ पर उपन्यासकार ने उपन्यास के पाठकों के तीन वर्ग बनाये हैं—(१) जो लोग उपन्यास के पेंचपाच को जानते हैं (२) जो कानून से वाकिफ हैं (३) केवल जिनको न हो शौकीन हैं। 'उपन्यास के पेंचपाच' और 'कानून' के मिश्रण से 'लौकिक घटना का निर्माण होता है। गोस्वामी जी के मत में उपन्यास का कथानक दो प्रकार की घटनाओं से बनता है अलौकिक और लौकिक। अलौकिक घटना दैवयोग कर्मफल और कालचक्र की गति पर निर्भर है लौकिक घटनाएं समाज का व्यावहारिक जीवन है जो धर्म और विधि (कानून) पर निर्भर है। पृ० २१८ पर लेखक ने बतलाया है कि 'उपन्यास में बहुतायत से नायक नायिकाओं के नख शिख का वर्णन रहता है'। इस रीतिकालीन विशेषता का निर्वाह किशोरीलाल गोस्वामी ने स्वयं भी अपने अधिकतर ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों में किया है।

राजकुमारी

'राजकुमारी' किशोरीलाल गोस्वामी का सामाजिक उपन्यास है। यह सन् १९०२ ई० में श्री सुदर्शन प्रेस से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास बहुत पसन्द किया गया। सन् १९१२ में श्रीमती कमलाबाई किबे ने इसका मराठी में अनुवाद किया। सन् १९११ में इसका दूसरा संस्करण (हिन्दी) प्रकाशित हो गया। इस संस्करण में नायिका का सुन्दर चित्र भी आर्ट पेपर पर बना हुआ है। उपन्यास की कहानी मनोरंजक भाषा परिष्कृत एवं वर्णन मनोहर है। परिच्छेदों के शीर्षक हिन्दी में हैं परन्तु प्रत्येक के साथ संस्कृत की एक सूक्ति भी जुड़ी हुई है। मुखपृष्ठ पर 'श्रीशिरस्नानमी' का जो छन्द अंकित है उससे पता लगता है कि उपन्यास का रहस्य यह दिखाना है कि भगवान् की कृपा से ही सद्गुणवती साध्वी[1] भार्या की प्राप्ति होती है।

मुंगेर के जमींदार राजा हीराचन्द बड़े धर्मात्मा और प्रजापालक थे। दीवान

---
१ साध्वी भार्या पुण्यार्थी भगवति मनु हरे स्मरणस्य विपाक।

रामलोचन पर उसका बड़ा विश्वास था। रानी के कोई सन्तान नहीं थी। कुछ दिनों बाद उसके मरी बेटी हुई जिसको गिरिजा ने अपनी बहिन मालती के पुत्र मानिक से चुपचाप बदल लिया—मानिक का बाप पहिले मर चुका था और माँ जन्मते ही मर गई थी। जब रानी को दूसरी सन्तान होने वाली थी एक महात्मा ने गिरिजा को बताया कि अब की बार रानी को जो सन्तान होगी उसका मुँह दस बरस तक राजा को न देखना चाहिए। दैवयोग से रानी के पुत्री जन्मी उसी समय दीवान की पत्नी कमला ने मरे हुए पुत्र को जन्म दिया। गिरिजा ने चुपचाप वही पुत्री मरे पुत्र से बदल डाली। इस प्रकार मानिक राजा का पुत्र बन गया और सुकुमारी दीवान की पुत्री। दीवान का मन राजा से फिर गया उसका सहायक दुर्जनी था। राजा जब शिकार को गये तो उनको आजन्म कारावास में रखकर दीवान ने प्रजा में घोषणा कर दी कि राजा को सिंह उठा ले गया। मानिक बालक था इसलिए रियासत दीवान के हाथ में आ गई। इतनी कथा पूर्वपीठिका के रूप में है।

कथानक का प्रारम्भ मानिक और सुकुमारी के प्रेम-व्यापार से होता है और परिपाक लाट साहब की सहायता से राजा के छुटकारे, राज्य प्राप्ति और मानिक-सुकुमारी के विवाह से। दुर्जनी मारा जाता है और रामलोचन आत्म-हत्या कर लेता है। बीच में एक ब्रह्मचारी और कलकत्ते के सेठ अमीचन्द की सहायता से सारी कथा की कड़ी है। रामलोचन का प्रायश्चित्त और क्षमापूर्ण पत्र बड़ी भावुकता के प्रसंग हैं। 'ढाई-तीन-सौ वर्ष के योगी बाबा' का प्रकट होकर फिर अन्तर्धान होना जितना आश्चर्य-जनक है उतना ही राजा हीराचन्द का हिमालय की ओर चला जाना। मानिक और सुकुमारी ने बालेपन की लाली लगन की गाँठ[1] को बड़े ही हौसले से खोला और जगदीश्वर ने उन सभों के दिन बड़े आनन्द से व्यतीत कराये।"[2]

इस उपन्यास को 'सामाजिक' कहने का यही अभिप्राय है कि लाट साहब मुँगेर और कलकत्ता का नाम होते हुए भी स्पष्टतः किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या घटना से इस कथानक का कोई सम्बन्ध नहीं। कथा-वस्तु समाज की किसी समस्या या किसी अंग का चित्रण नहीं करती प्रत्युत अन्य उपन्यासों के समान इन दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है कि भाग्य के कारण अच्छे-बुरे दिन आते रहते हैं और कर्म का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है। पृष्ठभूमि की कथा में दो बार मरे बच्चों से दूसरे बच्चों का बदलना भी चतुराई की अपेक्षा संयोग पर अधिक आश्रित है। अन्त में रहस्यपूर्ण मकान और पीपल के पेड़ की सुरंग से उसका रास्ता जितना अद्भुत है उतना ही अलौकिक भी और 'यहाँ की सारी वस्तुएँ ही किसी अद्भुत व्यक्ति द्वारा यहाँ ही जमीन के अन्दर'[3] जमा कर पाठक के सामने जादू का सा तमाशा करती हैं। इस उपन्यास के मूल में छिपा कर काम करने का विशेष महत्व है। गिरिजा दो बार राजकुल के

---

१ पच्चीसवाँ परिच्छेद पृ० १०२ २ वही
३ चौंतीसवाँ परिच्छेद, पृ० १६५

बच्चों को बदल देती है और जीवन भर इस बात को कोई नहीं जानता। रामलोचन वर्षों तक राजा को कारावास में रखता है और किसी को कानों-कान खबर नहीं मिलती।

उपन्यास का नाम नायिका की वास्तविकता पर राजकुमारी रखा हुआ है फिर भी पाठक को यह ध्यान नहीं आता कि नायिका सुकुमारी ही राजकुमारी होगी। अन्त में जब रहस्य का उद्घाटन होता है तो कथा में एक नवीन रस उत्पन्न हो जाता है। अन्त के चार परिच्छेद रहस्यों के ही तन्तु हैं। मुख्य कथा माणिक और सुकुमारी के भाग्य का अपूर्व खेल है। पहिले परिच्छेद में ही माणिक कहता है, मैं निर्धन का बेटा हूँ और तुम धनी व बनी की बेटी हो। और सुकुमारी उत्तर देती है "तुम्हारी बातों से मैंने जाना कि तुम गरीब के लड़के नहीं हो तुम्हारे पिता बहुत बड़े आदमी थे"[1] तो कुछ रहस्य की गन्ध आने लगती है। आगे चल कर पाठक सोचता है कि माणिक राजा का पुत्र होगा परन्तु अन्त में सुकुमारी राजा की पुत्री सिद्ध होती है। 'जयमलता या आदर्शबाला' उपन्यास के समान यहाँ भी लेखक ने विवाह-पूर्व प्रेम का चित्रण किया है और इस सीमा तक कि एक तेरह चौदह वर्ष की बालिका और एक पन्द्रह-सोलह वर्ष का किशोर एक दूसरे का हाथ पकड़ हुए नदी तीर पर इधर-उधर टहलते हैं। यह कोर्टशिप का प्रभाव है जिसकी चर्चा ऊपर[2] हो चुकी है परन्तु 'चपला' उपन्यास में जो लेखक इतनी सयानी लड़की के एक साथ भी "सवारी"[3] रखने के पक्ष में नहीं है वह यहाँ इतनी स्वतन्त्रता दे दे—इसे सन्धियुगीन संस्कृति का ही प्रभाव कहा जाएगा।

नायिका की पदवी पर उपन्यास का नाम होने पर भी घटनाओं का नायक दुष्ट रामलोचन है। केवल उसी के चरित्र का विकास या परिवर्तन इस रचना में दिखाया गया है। वह राजा का कृपा-पात्र और हितैषी था परन्तु नीच कुटिनी की कुसंगति से उसके मन में मैल आता गया और उसने नमकहरामी करके राजा के साथ बुरा व्यवहार किया। उसकी पत्नी की तुलना लेखक ने रावण की भार्या मन्दोदरी से की है। कुटिनी की मृत्यु के बाद शायद रामलोचन बदलता परन्तु जो पाप उसने किये उनको छिपाने के लिए वह और भी कठोर होता गया। अन्त में उसके पाप उसको खा बैठे और चारों ओर अन्धकार देखकर रामलोचन ने प्रायश्चित किया और अन्ततः आत्म-हत्या कर ली। उसका पतन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। कुसंगति और स्वार्थपरता किस को नहीं गिरा देते। परमात्मा से डर तो उसको होगा जिसकी आत्मा में बल हो अन्यथा अधिकतर लोग राजभय से पाप नहीं करते और कुछ लोग समाज भय से भी पाप से दूर रहना चाहते हैं। जब राजा अपनी क्रिया-शक्ति सचिव को सौंप देता तो सचिव को किसी के भय की आवश्यकता होगी और उसका मन पक्का नहीं भी हो सकता।

---

१ पहला परिच्छेद पृ० ९ ३. दे० पृ० १४५
२ चौथा भाग पृ० ११

'राजकुमारी' उपन्यास की कुछ विशेषताएं हैं जिनके कारण यह लोकप्रिय बना। इनमें से मुख्य यह है कि इसकी भाषा बहुत ही परिष्कृत एवं परिनिष्ठित है उर्दू का उस पर प्रभाव नहीं है बल्कि पात्रों के सामाजिक स्तर के अनुसार भाषा का स्तर कुछ बदल-सा जाता है। दूसरी विशेषता यह है कि आदि से अन्त तक कहीं भी दुर्गंध का वर्णन भूलकर नहीं किया गया अतः पाठक के ऊपर इस रचना से कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता। तीसरी यह कि यह वस्तुतः सुखान्त है। रामगोपाल की आत्महत्या और जमुना का सती होना—इतना ही दुःख का चिह्न है, परन्तु यह भी व्यर्थ हो जाता है क्योंकि नायिका उनकी पुत्री नहीं है इसलिए उनकी मृत्यु पर दुःखी होने वाला उपन्यास-भर में कोई पात्र नहीं मिलता। पूर्वपीठिका की कष्टमयी स्थिति में एक विषम एवं महान् सुधार करके यह उपन्यास पाठक के मन में सुख की सृष्टि करता है। चौथी इस उपन्यास में तिलिस्म या ऐयारी के भयंकर दृश्य नहीं के बराबर हैं रहस्यमय भवन का दृश्य पीड़ा देने वाला नहीं है। पांचवीं इस उपन्यास का कथानक सुलझा हुआ है केवल एक कथा कोई प्रासंगिक कथा नहीं कोई विशेष भ्रमण अपेक्षित नहीं। अस्तु, जो किशोरीलाल 'लखनऊ की कब्र' जैसा रोमांचकारी और 'चपला' जैसा घृणित दृश्यों से भरा हुआ उपन्यास लिख सकते थे उनके द्वारा से 'राजकुमारी' जैसे साफ-सुथरे उपन्यास की रचना उनकी अपूर्व साहित्यिक प्रतिभा की द्योतक है।

चपला या नव्य समाज चित्र

गोस्वामी किशोरीलाल के सामाजिक उपन्यासों में सबसे मुख्य स्थान 'चपला या नव्य-समाज चित्र' को दिया जाता है। यह उपन्यास सन् १९ ३ में चार भागों में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने स्वयं भी इस उपन्यास को 'वर्तमान समाज की घृणित अवस्था का ज्वलन्त चित्र' माना है आलोचकों का मत है कि चपला का पठन पाठ-पथ युवक-युवती के लिए मंगलमय नहीं। उसमें उच्च वासनाएं व्यक्त करने वाले दृश्यों की अपेक्षा निम्नकोटि की वासना प्रकाशित करने वाले दृश्य अधिक हैं और चटकीले[1] भी। लेखक और आलोचक का मतभेद होने पर यह देखना आवश्यक है कि इस प्रकार का चित्र अंकित क्यों किया गया है। लेखक की दृष्टि में 'नव्य समाज चित्र' और 'वर्तमान समाज की घृणित अवस्था का ज्वलन्त चित्र' एक ही बात है अर्थात् वे 'नव्य समाज' और 'वर्तमान समाज' को एक समझते थे इसकी अवस्था 'घृणित होने में' 'ज्वलन्त' है। यह ऊपर कहा गया है कि समाज के दो भाग हैं—सनातन-समाज (या आर्यसमाज) और नव्य समाज 'नव्य समाज' या आधुनिक समाज' (माडर्न सोसाइटी) वस्तुतः 'सनातन समाज' (ऑर्थोडोक्स सोसाइटी) का विपरीत है। लेखक को उन 'मान्यवर जेन्टलमैन' 'सद्गुण मूर्ति' 'कुल कुठार' 'रिफार्मरों' से चिढ़

---

१ हिन्दी उपन्यास, पृ० ८१

है 'जो स्वयं मार्म्यशोषित से उत्पन्न होकर भी अंग्रेज-बीम्स्लेपिम बनने का दम भरते हैं'[1], जिनमें कुछ भी भारतीयत्व का अभिमान शेष नहीं। भाव और भावना की दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दी का यह 'मध्य समाज चित्र' बंगला का 'नव बाबु-विलास' (सन् १८२१) ही तो है। देशकाल के भेद से दोनों में अपनी संस्कृति से अपरिचित नई फैशन के बाबुओं के विलासोदर-पूर्ति-मय जीवन का घृणित वर्णन पाया जाता है। नई फैशन और पुरानी संस्कृति में अनेक भेद होते हुए भी भारतीय दृष्टि से मुख्य अन्तर यह है कि नई फैशन स्वच्छन्द विहार में विश्वास करती है जब कि पुरानी संस्कृति की धुरी संयम थी। प्रेमचन्द तक के हाथ से २५ ३० वर्ष बाद मध्य समाज के यथार्थवादी चित्र स्त्री-पुरुष के स्वच्छन्द जीवन को प्रधानता देकर ही उभरे हैं, उदाहरण के लिए 'गोदान' में 'मालती और मिस्टर खन्ना' को देखा जा सकता है। परन्तु किशोरीलाल का विश्लेषण यह है कि प्राचीन-साहित्य से अपरिचित और नवीन फैशन के आकर्षण में पड़ कर जब व्यक्ति कर्म-फल से न डर कर धर्म के स्थान पर पाप की शरण जाता है तो जीवन भर कुकर्म करता और उसके फल को भोगता रहता है। कुकर्म का घृणित चित्र खींच कर अन्त में उसके दारुण फल का भी भयावह वर्णन कर लेखक ने पाठक के मन को पाप से हटा कर धर्म में प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है। अतः यह निष्कर्ष गलत होगा कि ये विलासी चित्र नवयुवकों को फँसाने के लिए हैं उनके उद्धार के लिए नहीं। चौथे भाग का उपसंहार करते हुए लेखक ने इस रचना का उद्देश्य कर्म-फल ही माना है —

(क) यह उपन्यास आदि से अन्त तक कैसा लिखा गया और इसमें वर्णित व्यक्ति-विशेषों का उनके कर्मानुसार कैसा परिणाम दिखलाया गया इस विषय के निर्णय का भार हम उपन्यास प्रेमी विज्ञों के ऊपर ही छोड़ देते हैं। (चौथा भाग पृ० ८६)

(ख) कौन कहता है कि संसार में पापियों को उनके पापों के अनुसार ईश्वर दण्ड नहीं देता ? (वही पृ० १०६)

अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इस उपन्यास में 'घृणित अवस्था का चित्र—'यथार्थ चित्र'—है, लेखक तो इस विशेषता की सबसे प्रथम घोषणा कर रहा है। परन्तु देखना यह है कि उस घृणित अवस्था में सक्रिय भाग लेने वालों का परिणाम क्या होता है। अगर परिणाम है अच्छा तो पाठक का मन प्रवृत्त होगा यदि परिणाम बुरा है तो मन उससे घृणा करेगा। किन्तु चमेली पत्नी और कमलकिशोर के जीवन का अन्त स्वयं उपन्यास के उद्देश्य का परिचय देगा।

'चपला' उपन्यास की कथा अवध के सम्पन्न परिवार की कहानी है। संस्कृति और धर्म से दूर रह कर धन-सम्पत्ति का स्वच्छन्दतापूर्वक भोग करने वाले मोहन युवक किन-किन बुराइयों में फंस कर अपने कुल का नाम डुबाते और अपने जीवन को नर्क-

१ मिश्रौ व सौभाग्य मैदी, पृ० १४

रिक्त करके किस प्रकार जीवित नरक भोगते हैं—यही लेखक ने एक यथार्थवादी कथा के माध्यम से दिखाया है। गोरखपुर के राजा राधिकाकिशोर के दो पुत्र थे कमल किशोर और व्रजकिशोर बड़ा पुत्र कमलकिशोर 'बदमाश' और छोटा व्रजकिशोर नेक था। उधर बाबू हरप्रसाद के तीन भाई और तीन बहिनें थीं बहिनों के नाम कामिनी चपला और कादम्बिनी थे। उपन्यास के अन्त में कादम्बिनी का व्रजकिशोर के साथ विवाह हो जाता है। व्रजकिशोर दोनों परिवारों को मिलाने वाला है वह धार्मिक है अपने अग्रज के विपरीत उसका विवाह तीनों में सबसे छोटी बहिन कादम्बिनी के साथ होता है। कमलकिशोर की दुष्टता भी दोनों परिवारों को साथ लाती है वह 'खून खराब फरेब डकैती राहजनी आदि बड़े भयानक भयानक' कर्म करने के साथ-साथ 'भले घर की स्त्रियों को खराब' करता रहता है उसने चपला को अपने चंगुल में फंसाने के लिए तिलिस्मी मकान में बंद रखा। कमलकिशोर की सहायता मुख्यतः पत्नी और सिम्मु नौकर करते हैं पत्नी बड़ी खराब औरत है वह गलत रास्ते पर चलती है और उससे हटना नहीं चाहती उसने निश्चय किया कि उसके जीवन का उद्देश्य पाप और बुराई होगा। (लेट ईविल बी माई गुड) 'तमाम दुनिया को मैं यह बात दिखला दूंगी कि मुझ जैसी बदकार औरत भी मान पाने पर कहां तक क्या-क्या कर गुजरती है'[1]। एक दिन आधी रात के समय हथियार लिए और अपने-अपने चेहरे पर नकाब डाले हुए लबर दरवाजा तोड़कर दस-बारह डाकू घर में घुस पड़े और चपला के मुंह में कपड़ा ठूंस कर उसे उठा कर देखते-देखते गायब हो गये। चपला घनश्याम के साथ विवाह करना निश्चय कर चुकी थी। इसलिए दुष्ट कमलकिशोर ने घनश्याम को भी पकड़ मंगाया और उसे भी तिलिस्मी मकान में बन्द कर रखा। चपला को अनेक प्रकार के लालच दिये गए एक बनावटी कलाई उसके सामने लाई गई जिसके विषय में बतलाया गया कि घनश्याम मर गया है और यह कलाई उसी की है। अन्त में एक ओर तो कमल के पाप का घड़ा भर जाता है 'लखनऊ के मजिस्ट्रेट पुलिस सुपरिंटेंडेन्ट दस गोरे सार्जेन्ट और कोतवाल तथा सौ कान्स्टेबल' आकर उसे गिरफ्तार कर लेते हैं दूसरी ओर चपला एक हाथ में कटार और दूसरे में बेहोशी की गोलियों का कटर लिए अंधकारी कोठरी की राह से नीचे तहखाने में पहुंच कर घनश्याम से मिल जाती है। कमलकिशोर और पत्नी आत्महत्या करते हैं सिम्मु कोढ़ी हो जाता है।

उपन्यास की आधिकारिक कथा राजा राधिकाकिशोर के परिवार की कहानी है। उसके दो पुत्र कमलकिशोर और व्रजकिशोर क्रमशः 'सभ्यसमाज' और 'सनातन समाज' के प्रतिनिधि हैं। लेखक की दृष्टि में उन दोनों के गुणों की विषमता सर्वत्र रही है। कमलकिशोर का घृणित जीवन समाज का गन्दे से गन्दा चित्र उपस्थित करता है दूसरी ओर व्रजकिशोर के आदर्श विचार विजयी होकर पाठक को शान्ति प्रदान करते हैं। कमलकिशोर बड़ा था उसको सम्पत्ति की सारी सुविधाएं प्राप्त थीं उसके चारों ओर

---

१ चौथा भाग पृ० ८८ २ वही, पृ० ९१

खुशामदी और स्वार्थी नीच लोग घिरे रहते थे। उसने मदनमोहन की पत्नी 'चमेली' को खराब किया जो अन्त में 'डाकू पीरबख्श द्वारा बाजारी स्त्री के हाथ बेची' गई। मायापुर में उसने कामिनी और सौदामिनी पर अत्याचार किये। अन्त में चपला पर अत्याचार करने की पूरी कोशिश करके उसके पापी जीवन का अन्त हुआ। पुरुष पात्रों में कमलकिशोर का जीवन सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है। उसका अपना कोई अलग व्यक्तित्व नहीं, वह एक वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि है। उसके चरित्र का विकास या ह्रास उपन्यास में नहीं दिखाया गया, वह बना-बनाया ही पाठक के सामने आता है और दुष्कर्म ही उसको भा जाते हैं। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी इस प्रकार के नायक हैं। अलाउद्दीन और सिराजुद्दौला से कमलकिशोर की तुलना हो सकती है। अन्तर केवल यह है कि ऐतिहासिक पात्र निज का व्यक्तित्व भी रखते हैं, अन्यथा केवल दुर्गुणों की ही मूर्ति हैं।

कमलकिशोर का जीवन मुख्य होने पर भी उपन्यास का नाम नायिका चपला के नाम पर है, क्योंकि कमल के पापों का घड़ा चपला पर अत्याचार करने के प्रयत्न में ही भरता है और चपला का चरित्र इतना दृढ़ है कि लोभ या भय उसको अटल निश्चय से डिगा नहीं सकते। 'चपला' उपन्यास में चपलता हो सकती है परन्तु चपला नायिका में नहीं। वस्तुतः बाबू हरप्रसाद की तीनों ही बहिनें रूप में सुन्दर और गुण में स्थिर मति हैं। चपला के साथ जो दुःख दुर्घटना हुई उस पर तो बेचारी का वश ही क्या, परन्तु उस कठिन परिस्थिति में चपला ने जितनी दृढ़ता, साहस, बुद्धिमत्ता और आस्था का परिचय दिया उतना कम ही महिलाएँ दिखा सकती हैं। इन गुणों में चपला वनवासिनी सीता की ही अवतार है। उसका कारावास, प्रलोभन, यातना, प्रियतम की मृत्यु की झूठी सूचना आदि सब सीता के जीवन से ली गई हैं। अन्तर केवल यह है कि चपला का प्रेम पूर्वानुराग है, पतिव्रत धर्म नहीं, और चपला स्वयं तिलिस्म का रहस्य जानकर साहस दिखाती है, सीता के समान निष्क्रिय नहीं रहती। इस प्रकार चपला में आधुनिकता है जिसका लेखक ने स्वागत किया है। चपला की या प्रतिज्ञाएँ हैं "मैं अब निगोड़ी विपत्ति का सामना दृढ़ता के साथ कर सकूँ और अपने निर्मल शरीर में किसी तरह का भी धब्बा न लगने दूँ"[1] और "किसी बिगड़े-दिल अमीर ने अपनी किसी बाहियात ख्वाहिश के पूरा करने के लिए मुझे मेरे घर से उड़ा मँगाया है, पर अब मेरा नाम चपला है कि जो मैं उसे उसके पाजीपन का पूरा मज़ा चखाऊँ"[2]। उपन्यास में चपला के गुण उन स्त्रियों की तुलना में और भी स्पष्ट हो जाते हैं जिनको कमलकिशोर ने खराब किया था। गोस्वामी जी के अन्य स्त्री पात्रों में चपला की तुलना चंचल तारा से की जा सकती है, परन्तु चपला तारा से भी विकसित है, कठिनाइयों में उसका चरित्र विकसित होता है और वह वर्ग प्रतिनिधिमात्र नहीं है, उसका व्यक्तित्व स्पष्ट और दृढ़ है।

---

१ चौथा भाग १० १२ २ चौथा भाग ६ ११

गोस्वामी जी ने अपने सामाजिक उपन्यासों में चरित्रों का विकास नहीं दिखाया पात्र बने-बनाये ही सामने आते हैं, आगे होने वाली घटनाओं का उनके चरित्र पर केवल हुआ हुआ प्रभाव पड़ता है जगम-जुगम आगे वाला नहीं। किसी व्यक्ति की अच्छाई या बुराई का उपन्यास में कारण नहीं दिखाया गया मानो स्वभाव जन्मजात होता है। सत् में असत् का अंश और असत् में सत् की झलक दिखाकर व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक निर्माण उस युग तक न होता था। कथाएँ अभी बनाई-सी उठा भी जाती हैं उनको स्वयमागत नहीं कह सकते। प्राय उपन्यास की कला कथानक को बड़ी सावधानी से संवारती है परन्तु उस समय इसका कर्तव्य पाठक का कुतूहल शान्त करना भर था। 'चपला' उपन्यास में ये सारी बातें प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

पुनर्जन्म या सौतियाडाह

सन् १९०७ ई० में काशी से गोस्वामी किशोरीलाल का सामाजिक उपन्यास 'पुनर्जन्म या सौतियाडाह' छपा था। यह ९ परिच्छेद और ४२ पृष्ठों का छोटासा उपन्यास है। कथानक में तीन ही पात्र हैं—नायक और दो नायिकाएँ, एक विवाहिता दूसरी रक्षिता। इसकी समस्या नायक का दो स्त्रियों के प्रति प्रेम है विवाहिता स्त्री के प्रति उसका प्रेम प्रणय है अविवाहिता के प्रति स्नेह। कथानक के तीन भाग हैं—प्रथम में कर्तव्यमूलक स्नेह दूसरे में घरेलू संघर्ष तीसरे में विवाह द्वारा समस्या का समाधान। सज्जनसिंह अयोध्या के प्रतिष्ठित जमींदार थे। उनकी पत्नी सुशीला अभिमानिनी मुखरा और कुटिल स्वभाव वाली थी। सज्जनसिंह का स्नेह सुन्दरी से था वह शान्त मधुभाषिणी और स्नेहमयी थी उसके पिता अंग्रेजी सेना में कप्तान थे जो 'गदर में बागी होने के कारण कैद हुए और कैद में उन्होंने आत्महत्या की'। सुशीला का अपने पति के ऊपर अविश्वास प्रारम्भ हुआ जिसके कारण घर में कलह रहने लगा। सुन्दरी सज्जनसिंह को प्रेम करती थी परन्तु घरेलू सुख में कांटा बनना उसे स्वीकार न था उसे विश्वास था कि 'यदि मेरा सच्चा प्रेम तुम पर होगा तो मैं किसी न किसी जन्म में तुम्हारी दासी अवश्य होऊँगी'। एक दिन सुशीला ने उन दोनों की बातें सुनी फलत उसके 'चित्त का कुल भाव बदल गया और वह सुन्दरी तथा सज्जनसिंह में जैसे व्यवहार का होना समझती थी वह भ्रम उसका जाता रहा'। उस दिन उसका 'पुनर्जन्म' हुआ और हठ करके उसने सुन्दरी का विवाह सज्जनसिंह के साथ करा दिया 'इस विवाह में सुशीला ने सुन्दरी को उसी भांति सम्प्रदान किया था जिस प्रकार वासवदत्ता ने रत्नावली को'।

इस छोटे-से सामाजिक उपन्यास का महत्व दो कारणों से है। प्रथम तो सुशीला के स्वभाव में परिवर्तन बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया गया है। सौतियाडाह सदा स्त्री के प्रति होता है और उसका मूल सन्देह है। सुशीला के मन में सन्देह हुआ अत तत्काल ही सुन्दरी के प्रति डाह भी उत्पन्न हो गया। परन्तु जब उसके सन्देह का निवारण हो गया तो फिर डाह कैसा वह सुन्दरी को अपने मार्ग का कांटा नहीं समझती सुशीला सुशीला ही रहेगी सुन्दरी कभी सुशीला नहीं बन सकती। मूल में सुधार करके

हुए उसने हठ करके सुन्दरी का विवाह अपने पति से करा दिया "धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह की व्यवस्था है पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकते हैं"। स्त्री के मन के सत्य का उपन्यासकार ने बड़ी सफलता से चित्रण किया है।

दूसरी विशेषता हिन्दू घरों की मुख्य समस्या का व्यावहारिक सुझाव है। जब एक विवाहित व्यक्ति किसी अविवाहित स्त्री से स्नेह मानने लगे तो पुरानी संस्कृति के अनुसार उसका *परिपाक विवाह में ही होना चाहिए। सभ्य समाज* का पुरुष तो विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त अनेक अविवाहिताओं और परस्त्रियों से प्रेम कर सकता है, परन्तु सनातन समाज विवाह के बिना एक स्त्री और एक पुरुष में प्रेम नहीं चाहता। फिर भी समाज में इस प्रकार के सम्बन्ध विकसित हो जाते हैं। हिन्दू-समाज इसका परिणाम विवाह ही मानता है। ऐसी ही विषम स्थितियों में पुरुष के लिए एक से अधिक विवाहों की व्यवस्था है। उपन्यासकार का भी यही सुझाव है। उसने प्राचीन इतिहास से क्षत्रियों के उदाहरण लेकर इस सुझाव का आपत्काल समर्थन किया है। *'सौतिनें सुशीला और सुन्दरी का सा बर्ताव करें और पुरुष सज्जनसिंह की भांति* धीर नायक का सा आचरण करें—यही उपन्यास का प्रतिपाद्य है।

उपन्यास का नाम बड़ा उपयुक्त है। लेखक के मत में 'सौतियाडाह' की अपेक्षा 'पुनर्जन्म' सराहनीय है विकल्प है 'सौतियाडाह' और 'पुनर्जन्म' में और 'पुनर्जन्म' व्यक्तियों के लिए भी अच्छा है और समाज के लिए भी। 'पुनर्जन्म' सुशीला और सुन्दरी दोनों का हुआ है इसलिए सज्जनसिंह का भी हो गया। सुशीला के सन्देह का जब निवारण हुआ तो वह बिल्कुल बदल गई उसका कायाकल्प हो गया वह सुशीला *मर गई, यह दूसरी सुशीला है"*[2]*। सुन्दरी का तो सज्जनसिंह से 'किसी जन्म में तुम्हारी* दासी बनकर'[3] रहने का प्रण था जब उसका विवाह हुआ तो मानो उसका नया जन्म था। यह 'पुनर्जन्म' मन का बदल कर अनुकूल बन जाना है जो आज के मनोवैज्ञानिक युग में भी आवश्यक लगता है।

इस उपन्यास की भाषा साहित्यिक है बीच-बीच में संस्कृत-साहित्य के भी उद्धरण हैं धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र मात्र से ही नहीं। कथानक अत्यन्त संक्षिप्त और पात्र-संख्या कम है। लेखक की वर्णन में विशेषतः प्रकृति के वर्णन में विशेष रुचि *दिखाई पड़ती है, ऋतुराज की बात में सारी घटनाएं होने से ऋतुराज* का दो बार वर्णन आया है। बीच में गीत और कथोपकथन भी सुन्दर हैं। उपसंहार करते हुए लेखक ने देश के प्राचीन साहित्य का उद्धार करके 'समाज के पुनःसंस्कार'[4] की अपील

---

१ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी भारतीय नारी का यही आदर्श अंकित किया है —
'वे दर्शन हमारे भी हैं
यही ध्यान में लाती हैं। (पंचवटी)

२. पृ० १५ ३ पृ० २

४ पृ० १२

की है और गृहस्थ जीवन का आदर्श चित्र खींच कर ईर्ष्या की ज्वाला को प्रेम के स्रोत से शान्त कर दिखाया है। उपन्यास के प्रारम्भ में एक सुन्दर युवक एक षोडश वर्ष की युवती का हाथ अपने हाथ में लिए हुए उद्यान में टहलता हुआ दिखाया गया है जिस पर भले ही पाश्चात्य संस्कृति का सन्देह हो सकता है परन्तु वस्तुतः वह संस्कृत-साहित्य में वर्णित अन्तःपुर क्रीडाओं से ही प्रभावित है। क्षत्रिया के लिए गान्धर्व विवाह विधेय है जो न्याय के पास रहती है। उनकी अन्तःपुर क्रीडाएं नव्य संस्कृति से प्रेरित नहीं माननी चाहिए। इस उपन्यास में तिलिस्म या जासूसी जैसी रोमांचकारिणी घटनाओं को कोई स्थान नहीं मिला। पारिवारिक उपन्यास की दृष्टि से 'पुनर्जन्म या सौतियाडाह' सफल रचना है।

माधवी-माधव वा मदनमोहिनी

माधवी-माधव उपन्यास दो भागों में सन् १९११ ई० में छपा था। इसको लेखक ने 'सामाजिक उपन्यास' स्वयं लिखा है। मुख पृष्ठ पर महाभारत का एक श्लोक उद्धृत करके लेखक ने धर्म से अर्थ, काम और मोक्ष तीनों की प्राप्ति असम्भव बता कर रचना का मुख्य प्रतिपाद्य धर्माचरण माना है। उपन्यास के दो नाम हैं जो कथानक के दो दम्पतियों के नाम भी हैं— माधवी और 'माधव' नायक और नायिका हैं 'मदन' और 'मोहिनी' क्रमशः उपनायक और उपनायिका हैं। 'सच्ची घटना' को नायक-मुख से 'जीवन चरित्र' के रूप में कहलवा कर कथानक का निर्माण किया गया है। घटना के दो स्थल मुख्य हैं—काशी और दिल्ली। वर्णन सम्पन्न वैश्य-कुल और धर्म परायण ब्राह्मणों का है।

उपन्यास की आधिकारिक कथा माधव और माधवी के पूर्वानुराग से लेकर विवाह तक की है। 'अंकुर' 'पल्लव' 'शाखा' और 'पराग' शीर्षकों से 'पूर्वानुराग' का परिपाक विवाह में हो जाता है। 'यदि समाज में ऐसी ही जोड़ी मिला कर ब्याह शादी होने लगें तो फिर रोना ही किस बात का रहे'[१०]। दिल्ली के लाला रामप्रसाद बड़े सम्पन्न और धर्मात्मा आदमी थे उनका परिवार सम्मिलित कुटुम्ब वाला था। इस परिवार की बड़ी बहू कमला बड़ी कम कर्कशा निकली जिसके घृणित जीवन को देख कर माधव स्त्री जाति से घृणा करने लगा और विवाह का विचार उसने छोड़ दिया। उधर दीवान हरिहरप्रसाद बड़ा दुराचारी था उसके साथ कृष्ण कालिमा वाम विधवा सरस्वती और पापात्मा मुरारी तिवारी मिले हुए थे। मुरारी ने डाकुओं से मिल कर मदनमोहन का स्टेशन से ही कुछ रुपये वसूल करने के लिए गायब करा दिया। बड़ी बहू के दुश्चरित्र और मदन के गायब होने से रामप्रसाद बड़े दुःखी थे। उनकी इच्छा थी कि माधव का विवाह हो जाए तो वे उसे घर का भार सौंपकर तीर्थ यात्रा करें और फिर स्वर्ग सिधारें। पाठक को कुछ देर लगती है परन्तु उनकी भीम हिमर्दा

---

१० दूसरा भाग पृ० ११२

असफल है। दीवान हरिहर और मुरारी का रहस्य खुल गया वे पकड़े गये। मदन वापिस आ गया। इसी बीच माधवप्रसाद का माधवी से परिचय हुआ और उनका प्रेम बढ़ते-बढ़ते विवाह में परिणत हो गया। मदन का विवाह सुशीला मोहिनी के साथ हो गया। पापिनी यमुना पाप-कहानी का प्रचार बड़े जोर से कर[1] के विक्षिप्त-सी हुई और मर गई।

माधव और माधवी का मिलन न तो कोर्टशिप है और न गान्धर्व विवाह। माधवी के पिता समाधान विचारधारा के अनुयायी थे उन्होंने मिडिल पास कर लेने के बाद माधवी का नाम कन्या-पाठशाला से कटवा दिया क्योंकि वे ११ वर्ष की आयु के बाद[2] लड़कियों को स्कूल में पढ़ना पसन्द न करते थे। माधवी ने और भी पुरुष देखे थे परन्तु अपने परिवार के अनिष्ठ माधवप्रसाद को खाना खिलाते समय वह रोमांचित हो गई और उसके हाथ से पंखा गिर गया।[3] माधव ने अब तक स्त्रियों का कल्पित जीवन ही सुना था, आज माधवी को देखकर उसका मन बदल गया, उसने 'अपने में भी ख्याल नहीं किया था कि सुन्दरी स्त्री के देखने मात्र ही से पुरुष के कठोर हृदय का बात की बात में इतना परिवर्तन हो जाता है'[4]। माधवी के पिता ने जब विवाह का प्रस्ताव रखा तो माता रामप्रसाद और नायक माधवप्रसाद दोनों ही खुश थे। इस प्रकार प्रेम-व्यापार के होते हुए भी यह विवाह माता-पिता की इच्छा से ही हुआ है। लेखक ने यह विचार नहीं किया कि यदि माता-पिता सहमत न होते अथवा स्वयं कदम न उठाते तो नायक-नायिका क्या करते वह तो यह मान बैठा है कि जो प्रेम सच्चा है उसकी सुविधा स्वयं विधि जुटा देता है 'धर्म से काम' की भी प्राप्ति होती है। नायक और नायिका भाग्य के हाथ में खेलते हैं उनकी एकमात्र विशेषता 'धर्म' है न कोई अन्तर्द्वन्द्व है न कोई बाह्य विरोध धर्म प्र थ को मान्य करके धैर्य की पगडण्डी पर वे एक-दूसरे को बिना जाने भी चल रहे थे एक दूसरे से परिचित होकर भी बढ़ते जाते हैं और विवाहित होकर भी उस गति से अग्रसर होंगे।

इस कथानक में यमुना और हरिहर की कहानी इसलिए जोड़ी गई है कि यमुना के चरित्र से मानव स्त्री के दोष को चाहिये देख और दूध को बार म—दोष देखने के बाद मन इतना पक्का हो जाता है कि सहसा वह टूट नहीं पड़ता वहां झुकता है जहां वस्तुतः कुछ पाकर ही झुकता है। दुष्टा यमुना और विधवा सरस्वती सत्-मार्ग को सुगम बनाती हैं उनका इतना ही महत्त्व है। हरिहर और मुरारी रामप्रसाद का नमक खाकर भी उनसे साथ दुष्टता का व्यवहार करने वाले हैं। अन्य दुष्टों के जाल में फंसता है वह मुरारी का शिकार है। हरिहर और मुरारी की दुष्टता अलग-अलग स्वभाववालों है। मदन का विवाह उपन्यास को पूर्ण करने के लिए ही दिखाया गया है उसकी आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार मूलतः नायक-प्रधान होते हुए भी यह

१ दूसरा भाग पृ ११८
२ वही पृ० ७८
३ वही, पृ ७८
४ वही पृ ८१

उपन्यास विस्तार पाकर कथा प्रधान हो गया है।

इस उपन्यास में अन्य सामाजिक उपन्यासों के समान पाप की पराजय और धर्म की जय ही दिखलाई गई है। 'पाप कभी भी छिपाए से नहीं छिपता और वह कभी न कभी संसार में प्रगट हो ही जाता है पाप का प्रगट कर देना भी पाप से मुक्त होने का एक प्रायश्चित्त है [1]। लेखक ने तीन प्रश्न और उठाये हैं—स्त्री-शिक्षा समाज का सबसे बड़ा दोष और बाल्यविवाह। यह ऊपर कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी स्त्रियों को स्कूलों में बड़ी अवस्था तक पढ़ाने के पक्ष में नहीं हैं माधवी का मिडिल पास करते ही स्कूल से उठा लेना इसका उदाहरण है १२ वर्ष बाद कन्या रजस्वला हो जाती है उसका कामि भाव स्फुट होने लगता है, फिर उसे पुरुषों के सम्पर्क से अलग रहना चाहिए, वह घर में माता-पिता की देख रेख में रहे। 'अपने माता-पिता के आचरणों से जो कुछ सीखेगी'[2] उसी 'शील भाव आचरण और शुभ क्रिया अमुक की आदर्श' बन जायेगी। इसलिए 'सबसे पहिले कन्याओं के सुधार करने का प्रयत्न' करना उचित है उनको पाठशाला में शिक्षा दिलाकर ग्रेजुएट बनाने से कोई लाभ नहीं। समाज के अंग स्त्री-पुरुष हैं इसलिए उनके पारस्परिक स्वस्थ आचरण से समाज सुसंस्कृत बनता है और अस्वस्थ आचरण से समाज में दोष आते हैं। अतः समाज का सबसे बड़ा दोष स्त्री पुरुष का असंयत जीवन है—स्त्री का कुलटा और पुरुष का व्यभिचारी बनना। कुलटा स्त्री समाज का सबसे बड़ा कलंक है वह कुल को डुबोकर समस्त समाज को उजाड़ देती है, 'देश और समाज को रसातल भेजने के हेतु ऐसी-ऐसी कुलटा स्त्रियाँ ही हैं न कि इन्द्रिय परायण दुराचारी पुरुष क्योंकि यदि स्त्री भली हो तो उसे कोई पापी पुरुष नहीं बिगाड़ सकता'[3]। चपला सौदामिनी आदि के चरित्रों में उपन्यास-लेखक ने यह दिखाया भी है कि यदि स्त्री दृढ़ है तो कोई दुष्ट पुरुष उस पर कलंक का एक धब्बा भी नहीं लगा सकता। और स्त्री के लिए उत्तरदायी हैं उसके माता-पिता। 'माता पिता या अभिभावकों को ही स्त्रियों के बिगड़ने का मूल कारण समझकर उन्हीं को इस दोष का दोषी और इस अपराध का अपराधी समझना चाहिए'[4] यदि वे बालकपन से अपनी पुत्रियों के सामने अच्छे उदाहरण रखें तो उनका जीवन सुमार्ग पर चलकर विकसित हो। मांस भक्षण का खण्डन करने के लिए स्मार्त धर्म के अनुसार पूरी व्याख्या टीका-टिप्पणी के सहित की है जो उपन्यास-कला की दृष्टि से एक दोष है। इस उपन्यास में फलित ज्योतिष स्वप्न-फल सामुद्रिलिपि के पक्ष में और दीपावली पर जुआ खेलने, मांस आदि सेवन करने के विरोध में लेखक ने अपना प्रासंगिक मत प्रकट किया है। मौढ़ोत्तर काल की रचना होने के कारण लेखक की विचारधारा जानने के लिए ये प्रसंग बड़े महत्व के हैं और इसी हेतु इस उपन्यास का भी एक विशेष मूल्य है।

---

१ दूसरा भाग पृ० १६८ ३ वही पृ० २११
२ दूसरा भाग, पृ० १९१ ४ वही, पृ० २११

अंगूठी का नगीना

'अंगूठी का नगीना' उपन्यास सन् १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ था। मुखपृष्ठ पर इसको 'सत्य घटना-मूलक-गार्हस्थ्य उपन्यास' कहा गया है परन्तु प्रथम पृष्ठ पर 'सामाजिक उपन्यास'। 'गार्हस्थ्य उपन्यास' सामाजिक-पारिवारिक उपन्यास का एक उपभेद ही माना जा सकता है। भूमिका से विदित होता है कि 'इस उपन्यास की कहानी बिलकुल सच्ची है और इसमें वर्णित पात्रों के नाम भी सही-सही हैं, केवल जिले और गांव के नाम कल्पित हैं। इस कहानी का समय संवत् १८९४ वैक्रम है'। सन् १९०१ में 'उपन्यास' मासिक पुस्तक के एक विशेष ग्राहक पधारे और अपने घराने की एक सच्ची घटना सुना कर गोस्वामी जी से उसके आधार पर एक उपन्यास लिखने का उन्होंने आग्रह किया। कुछ दिनों में इसके ४ फार्म छप गये परन्तु बीच में कुछ रुकावट आ गई फलतः १६-१७ वर्ष बाद ही यह उपन्यास पुस्तकाकार छप सका। इस उपन्यास का नाम केवल एक ही है, लेखक के अन्य उपन्यासों के समान अतिकल्पक नहीं। इसका कथानक बहुत सुगठित है। घटनाओं में कोई अप्राकृतिक प्रवृत्ति नहीं मिलती। घटना और चरित्र दोनों का समान चित्रण है, एक भी चरित्र दूषित नहीं है। धर्म-पाप का संघर्ष न दिखाकर लेखक ने संयोग के सामान्य चमत्कार का चित्रण किया है।

मगनपुर ग्राम के जमींदार कन्दर्पमोहन का पुत्र मन्मथमोहन कथा का नायक है और उसी ग्राम के स्व० पं० कृष्णगोविन्द की कन्या लक्ष्मी नायिका। पंडित जी की मृत्यु के बाद लक्ष्मी और उसकी माता कालिन्दी बड़ी गरीब हो गईं। उनकी भूमि पर रामशरण पांडे ने कुछ जाल दिखाकर, अधिकार कर लिया। इधर मदन किशोर ही था कि उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई। एक दिन वर्षा में मदन ने लक्ष्मी के घर शरण ली और उसके घर की दशा से वह परिचित हुआ। लक्ष्मी के गुणों से आकृष्ट होकर उसने प्रतिज्ञा की कि वह लक्ष्मी से ही विवाह करेगा। रामशरण पांडे खलनायक है, वह चाहता था कि कालिन्दी मर जाए तो वह लक्ष्मी को अपने घर में डाल ले। उसने कन्दर्पमोहन के कान भर कर उनको इस विवाह के विरोध में कर दिया। मदन को विरह में सन्निपात हो गया। उसकी माता योगमाया और बहिन मालती कारण जानती थीं परन्तु करतीं भी क्या? इधर सहसा गिर जाने से रामशरण और उसकी पत्नी को बड़ी चोट पहुँची। वे मर गये। मरते समय रामशरण ने अपना पाप स्वीकार किया।

रामप्रकाश मिश्र मदन की दिवंगता पत्नी सरस्वती के पिता थे। वे कृष्णगोविन्द के अनन्य मित्र भी थे। जब ग्रामवासियों से तंग आकर कालिन्दी और लक्ष्मी गंगा में कूद पड़ीं तो संयोगवश रामप्रकाश के आदमियों ने उनको बचाया। रामप्रकाश ने स्वप्न देखा कि कृष्णगोविन्द पिछले जन्म में उनके चाचा थे जो सारी सम्पत्ति छोड़ कर सन्यासी हो गये थे, इसलिए रामप्रकाश इस जन्म में उनका ऋणी है। स्वप्न में सरस्वती ने कहा कि पिछले जन्म में लक्ष्मी और वह सौतिनें थीं और मन्मथमोहन उनके पति थे। रामप्रकाश के कोई सन्तान नहीं थी, ज्योतिषियों के कहने से उन्होंने लक्ष्मी को गोद ले लिया और उसका विवाह मदन से कर दिया। मदन तैयार न था

परन्तु माता पिता की आज्ञा उसे माननी पड़ी। विवाह के बाद भेद खुल गया कि राम प्रकाश की दत्तक पुत्री लक्ष्मी वास्तव में मदनमोहन की प्रेयसी लक्ष्मी[1] ही है। पूर्वजन्म और स्वप्न एवं ज्योतिष के प्रमाण से कन्दर्पमोहन भी इस विवाह से प्रसन्न थे।

उपन्यास का नायक मदनमोहन सच्चरित्र व आज्ञाकारी युवक, स्वस्थ एवं सुन्दर है। प्रथम दर्शन से अंतिम मिलन तक उसका चरित्र उज्ज्वल है। संयोगवश लक्ष्मी के घर पहुँच कर मदन उसकी प्राण लक्ष्मी की आँखों में फँस गई थी परन्तु दोनों ओर इतना संकोच है कि पाठक नायक-नायिका के शील की सराहना करता है। मदन ने कालिन्दी की सहायता उदारता वश ही की थी। उसका प्रेम मानसिक सम्बन्ध है, वासना जन्य नहीं। विरह में सन्निपात का भुगतान मदन के चरित्र का एक विशिष्ट प्रकार है। इसके बाद उसके सामने एक विषम परिस्थिति आ गई—एक ओर एकनिष्ठ प्रेम जो प्रकट भी हो चुका है, दूसरी ओर पिता की आज्ञा। यह समय उसके चरित्र को और भी चमकाता है 'मैंने अपनी इच्छा से यह विवाह नहीं किया है केवल पिता की आज्ञा का पालन किया है'[2]। मेरा हृदय किसी दूसरी के पास है, इसलिए अब इस जिन्दगी में *सिवाय उस सुन्दरी के मैं किसी नारी का मुख कभी भी नहीं देखूँगा*[3]। उपन्यासकार ने इस समस्या को एक अलौकिक संयोग की सहायता से सुलझाया है क्योंकि यदि विवाहिता लक्ष्मी कोई और होती तो प्रेयसी लक्ष्मी के लिए पत्नी लक्ष्मी को ठुकराना मदन के चरित्र का दोष माना जाता। अस्तु, विद्यमान कथानक में नायक का चरित्र उज्ज्वल है। अन्य उपन्यासों से भिन्न इस उपन्यास में नायक के चरित्र का कथा के साथ-साथ कुछ विकास भी होता है।

लक्ष्मी उपन्यास की नायिका है। उसमें कुल-शील और रूप-सौन्दर्य दोनों का सुन्दर योग है। वैयाकरण एवं दार्शनिक परन्तु धनापेक्षी पिता की यह पुत्री आदि से अन्त तक भारतीय बालिका है। इसका प्रेम पूर्व-जन्म का संस्कार-मात्र है। बादल उसको छेड़ने के लिए छींटे मारता और पवन उसकी साड़ी सरकाता था[4] परन्तु किसी मनुष्य ने उससे कभी आँख नहीं मिलाई। पूर्व जन्म के पति मदनमोहन को पाकर उसका हृदय मचला परन्तु शील ने उसके मन को बाँध लिया। जब दोनों ने विवाह का निश्चय किया तो मानो लक्ष्मी वाग्दत्ता पत्नी बन गई। मदन को सन्निपात हुआ तो लक्ष्मी

---

१ बंकिमचन्द्र के 'इन्दिरा' उपन्यास में वियुक्त नायक उपेन्द्र और नायिका एक दूसरे से परस्पर और अपरिचित के रूप में मिलते हैं परन्तु संयोगवश वे पति-पत्नी ही निकलते हैं। इसके विपरीत इस उपन्यास में अपनी लक्ष्मी को भी इतर स्त्री (प्रेयसी से भिन्न) समझकर नायक उस की ओर आँख नहीं उठाता—अपनी विवाहिता को भी परस्त्री मानता है क्योंकि यद्यपि उसने पिता की आज्ञा से विवाह कर लिया परन्तु उसने तो प्रेयसी को ही अपनी असली पत्नी मान रखा है।

२ पृ० १०४ ३ पृ० १०६

४ पृ० ६

उसकी सेवा को प्रस्तुत हुई। परन्तु हताश होकर उसने गंगा को आत्मसमर्पण किया। यह आत्महत्या का प्रयत्न उसके मन के संघर्ष का फल है—मदन से प्रेम और समाज से संकोच दोनों की गुत्थी न सुलझ सकी क्योंकि लक्ष्मी भारतीय महिला है। संयोग ने लक्ष्मी के भाग्य को पलट दिया और उसके प्रेम एवं शील दोनों की रक्षा हो सकी। लक्ष्मी के चरित्र का भी इस उपन्यास में विकास हुआ है।

मुख्य कथा और इन दो पात्रों के अतिरिक्त किसी को उपन्यास में कोई विशेष स्थान नहीं मिला। अन्य-नायक रामसरन पांडे संघर्ष को तूल देकर—मदन को सन्निपात-ग्रस्त और लक्ष्मी को समाज के हाथ में पटक कर—मर जाता है। लक्ष्मी के गंगा में कूदने से विवाह तक की कथा में सामाजिक घटना कम है, अलौकिक स्वप्न ज्योतिष और पूर्वजन्म के हाथ मनोयोग ही लेखक को सुलझाता है। विवाह के बाद का कथानक कथा को पूर्ण करने के लिए ही बढ़ाया गया है। मालती-सुभाषचन्द्र, श्यामा-जवाहिर के सुख का वर्णन अनावश्यक है। श्यामा का जवाहिर के साथ विवाह से पूर्व ही मिल जुल कर क्रीड़ा करना पाठक को खटकता है। मदन-लक्ष्मी विवाह से पूर्व जितने संयत मन से मिलते हैं वह उनकी विशेषता तभी मानी जाएगी जब कोई दूसरे प्रेमी (श्यामा जवाहिर) उस दशा में संयत न रह सकें—यह दृष्टि नायक-नायिका को उठाने के साथ-साथ उपनायक उपनायिका को नीचे भी तो गिराती है। लेखक गृहस्थ के सुख को सामाजिक सुख की कसौटी मानता है और गृहस्थ का सुख पति-पत्नी की पारस्परिक तुष्टि है—मानसिक भी और शारीरिक भी। इसीलिए उसकी सब नायिकाएँ गुणवती होने के साथ अनिन्द्य सुन्दरी भी हैं। चरित्रवती को कुरूपा और सुन्दरी को दुश्चरित्रा बनाकर तो उनकी तुलना नहीं हो सकती। विशेषता तो यह कि सुन्दरी होते हुए भी नायिका पूर्णत: शीलवती हो। अत: नायक-नायिका का संयोग-सुख रीतिकाल की परम्परा के अतिरिक्त लेखक के दृष्टिकोण के लिए भी आवश्यक बन गया है।

यह उपन्यास परिच्छेदों में विभक्त है। प्रत्येक परिच्छेद संस्कृत के उद्धरण से सुरभित है। भाषा संस्कृत-मिश्र और साहित्यिक है। कथोपकथन की अपेक्षा वर्णन अधिक मात्रा में है। प्रारम्भ करते हुए ही नायिका का इतना सुन्दर वर्णन है कि पाठक कथा को भूल जाता है। पृ० ८१ पर ब्रजभाषा की एक कविता भी रख दी है। शृंगार का इस उपन्यास में सुन्दर एवं साहित्यिक समावेश है। संयोग शृंगार में एक नई दौर भी आ गया है। ननद भौजाई या 'ननदुल-भनोजाऊ' के परिहास कुछ साहित्यिक नहीं रहे। १८वें परिच्छेद को 'होली' शीर्षक देकर लेखक उसका समर्थन करने लग गया है 'यह होली कुछ नई नहीं बल्कि जब से सृष्टि है तब से होली भी है और यह होली वेदानुकूल पर्व है इसका वर्णन ब्रह्म-सूत्रों में है ——हमारे यहाँ उत्सवों की बहुतायत है और उनमें एक भी उत्सव मुहर्रम की तरह शोक का सूचक या उदासक नहीं है 'खेद है कि आजकल के सभ्यताभिमानी पत्र मास भर न केवल एक दिन भी रंग न डलवाएँगे पिचकारी न भरवाएँगे अबीर न मलवाएँगे और गुलाल न लगवाएँगे' 'जो होली स्वभावत: परम पवित्र है उसे आजकल के नए सभ्य अपवित्र कहते हैं और अपनी

मनमानी 'पविकाहोमी' की बढ़त करके 'रिफार्मर' होने का गर्व दिखलाते हैं"। यह चोट आर्यसमाजियों पर है।

विवाह के बाद जब लक्ष्मी अपने प्रियतम से मिली तो उसने उसको वह नगीना दिया[1] जिस पर मदनमोहन का नाम खुदा हुआ था और जो एक दिन हड़बड़ाहट में लक्ष्मी के घर मदन की अंगूठी से गिर गया था। इसी नगीने को लक्ष्मी ने अपने जीवन की अमूल्य सम्पत्ति समझा और मानो अभिज्ञान के रूप में प्रथम मिलन पर मदन को दिया। इसी घटना के आधार पर उपन्यास का नाम 'अंगूठी का नगीना' रखा गया है, जो अनुपयुक्त नहीं लगता।

लज्जाराम शर्मा के उपन्यास

बिगड़े का सुधार

मेहता प॰ लज्जाराम शर्मा ने 'धूर्त रसिक लाल' (सन् १८८२) 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' (सन् १८९९) और 'आदर्श दम्पति' (सन् १९०४ ई॰) उपन्यासों के बाद 'बिगड़े का सुधार' अथवा 'सती सुखदेवी' उपन्यास लिखा। यह संवत् १९६४ (सन् १९०७) में बम्बई से प्रकाशित हुआ था। 'आदर्श दम्पति' उपन्यास में तो पति पत्नी एक-दूसरे को असीम प्रेम करते हैं परन्तु इस कृति में पति उच्छृंखल होने के कारण पत्नी पर अनेक अत्याचार करता है फिर भी सती सुखदेवी अपना धर्म नहीं छोड़ती और सेवा द्वारा अपने कुमार्गी पति को सुधार लेती है। यही इस उपन्यास की पूर्व-रचना से विशेषता है। उपन्यास के मुखपृष्ठ पर कथानक की कुंजी एक वाक्य में अंकित है "एक दुराचारी पति सती पत्नी के सतीत्व से सदाचारी बन गया"। भूमिका में मेहता जी ने कान्तासम्मित काव्य का एक नया उपयोग माना है "ऐसी दशा में भोग विलास के समय मनुष्य को मनोविनोद के साथ-साथ शिक्षा देना भी आवश्यक है इसी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए काव्यों की रचना हुई है और इसीलिए वे कान्ता-सम्मित शास्त्र कहलाते हैं। उस समय रोचकता उपन्यास की कसौटी थी जिसके लिए लेखक ऐयारी तिलस्म आदि की योजना किया करते थे। प्रस्तुत लेखक ने उन लेखकों को चुनौती देते हुए सामाजिक उपकार अपनी रचना का लक्ष्य ठहराया है। वे 'भूमिका' में लिखते हैं "जिन सुलेखकों को अपने उपन्यासों की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ध्यान दें तो हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते हैं"।

'बिगड़े का सुधार' ९९ पृष्ठ का छोटा-सा उपन्यास है। इसमें दस प्रकरण हैं प्रत्येक का शीर्षक उसके भीतर वर्णित वस्तु का सार है। प्रथम प्रकरण 'बाबू की नास्तिकता' है और अन्तिम 'ईश्वर आस्था' जिससे यह स्पष्ट है कि इस रचना में एक बाबू की नास्तिक से आस्थावान् बनने तक की कहानी है। मनमानी बाबू एम॰ ए॰

---

१ पृ॰ १४८ २. पृ॰ १११

पास थे और वे नई सभ्यता के परम भक्त । उनकी पत्नी मुखदेवी अशिक्षित थी परन्तु उसमें आर्यमहिमा के सब गुण थे । बनमाली को 'पसंद था—भाषा अंगरेजी भोजन अंगरेजी भाव अंगरेजी और मेम अंगरेजी । मुखदेवी उनको बिलकुल पसन्द न थी 'उनका अलता हुआ कमला मूरी आँखों की गोरी मेम बिना ठंडा नहीं हो सकता'¹ था । एक बार 'होटेल की एक नौकरानी से बाबू साहब की आँख लग गई'² निश्चय हुआ कि मद्रास जाकर उससे विवाह करें ऐसा ही हुआ और बनमाली अब 'फोरेस्ट आफिसर' बन गए । मुखदेवी सब सहती रही परन्तु उसके पिता यह सहन न कर सके । वे साथ में वह मम के घर पहुँचे और उन्होंने लाठी से बनमाली पर प्रहार किया । मुखदेवी बीच में आ गई । जब मेम को यह ज्ञात हुआ कि बनमाली ने पहली पत्नी को छोड़ दिया है तो वह बनमाली से बोली "जैसे तुम ने उस पर जुल्म किया है वैसे ही मुझ पर भी किसी दिन करोगे सारी मेरे इकरार के दस हजार रुपए दम मैं अभी जाऊँगी"³ । इन घटनाओं से बनमाली की आँखें खुलीं 'तू स्त्रियों की रानी है । मेरे मन से परदेशीपन का जो भूत घुस गया था वह निकल गया—मुझे दुष्ट के हृदय में ऐसा उत्तम विचार केवल प्यारी के पुण्य से ही उत्पन्न हुआ है'⁴ ।

कथानक में कोई कला नहीं केवल सामान्य घटना का चमत्कार है । यह घटना उस युग में अति सामान्य अवश्य थी और समाज के सामने सबसे बड़ी समस्या बनी हुई थी । नायक अपने युग का प्रतिनिधि है । नायिकाएं दो हैं और दोनों अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं । मुखदेवी सनातन हिन्दू समाज की सामान्य परन्तु उज्ज्वल महिला है वह पति की फटकारें तक अनुपस्थिति में उसके हित की भीख माँगकर स्वयं अन्न ग्रहण करती है कष्ट उसके लिए तपस्या है या उसके पूर्व कर्मों का भोग है । मेम का लेखक ने नाम नहीं दिया वह होटल में काम करती है परन्तु है तो 'कमर में कमर मिला कर नाचने वाली' नारी जाति की । उसने धन इकट्ठा किया और बनमाली को धता बताया । भारतीय नारी और अभारतीय नारी की तुलना करके लेखक इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि प्रतिभाशाली पत्नी बड़े सौभाग्य का फल है यह केवल भारतीय संस्कृति में प्राप्य है, अन्यत्र नहीं । नारी अपनी सेवा के बल पर ही अपने प्रतिकूल पति को भी अनुकूल बना सकती है गृहस्थ जीवन को वह एकमात्र कोमल करती है ।

शर्मा जी ने बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या उठाई है । आज तक हिन्दू गृहस्थ का सब से बड़ा अभिशाप यही है कि पति आधुनिक शिक्षा से परिपूर्ण हो और पत्नी उसे भोली भाली एवं सरल मिले । पति को बाहरी चमक-दमक अधिक प्रभावित करेगी और वह अपनी पत्नी का आदर तो दूर रहा उसका मूल्य भी कम आँकने लगेगा । फलतः पति-पत्नी का पारस्परिक असन्तोष गृहस्थ की नींव को खोखला कर देगा । पति इस बात को नहीं सोचता कि जो स्त्री भाव भंगिमा चाल-व्यवहार से दस आदमियों के

१ १० १
२ १ ११
३ १ ११
४ १ ४२

मन को मोह लेती है उसका उपयोग उतना ही है पत्नी में जिन गुणों की आवश्यकता है वे उस पुस्तक ... औरत म नहीं मिलते। लेखक का सुझाव यह है कि स्त्री अपने गुणों से ही पति को निमग्न बना कर उसे सत्पथ पर लावे। इन परिस्थितियों में इनसे बढ़ कर और कोई सुझाव हो ही नहीं सकता। उस युग मे नवचेतना के कारण सीता सावित्री दमयन्ती और गान्धारी के आदर्श प्रत्येक आदर्श महिला के सामने थे।

लेखक का दृष्टिकोण सनातनी है इसलिए उसने नवीन जागृति का स्वागत नहीं किया। यह निश्चय है कि जिस गृहस्थ में पति से पत्नी और पत्नी से पति सन्तुष्ट रहेंगे वहां सर्वदा कल्याण की वर्षा होगी। परन्तु केवल सौन्दर्य और सेवाभाव ही तो पत्नी के लिए काफी नहीं है उसे शिक्षित भी होना चाहिए और सद्गुणों म किसी भी नारी से कम न रहना चाहिए। लेखक ने कहीं भी स्त्री-शिक्षा का महत्व प्रतिपादित नहीं किया। पति में सुधार होने पर घर में आज तो धूमधाम से होता है परन्तु कन्या पाठशाला की कहीं चर्चा नहीं है। वस्तुत इसी एकांगी दृष्टिकोण के कारण यह पुरानी समस्या आज तक नवीन बनी हुई है। उस समय के सनातनी लेखक स्त्री शिक्षा के पक्षपाती नहीं थे उनका भय था कि शिक्षा से स्त्री स्वतंत्र हो जाती है और स्वतंत्र होकर बिगड़ जाती है।

शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास सन्तोषप्रद है। इसकी भाषा सरल सहज एवं भावपूर्ण एक सी है। पद्य की योजना या बाहरी उद्धरण इस रचना में नहीं। वर्णन और कथोपकथन सन्तुलित हैं। लेखक स्वयं उपस्थित होकर पाठकों से बातें करना आवश्यक नहीं समझता। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कथानक छोटा होता हुआ भी रोचक तथा सफल है।

आदर्श हिन्दू

मेहता लज्जाराम शर्मा ने सन् १९१४ मे आदर्श हिन्दू[1] नाम का उपन्यास तीन भागों में लिखा। पहले भाग में २१ प्रकरण और २४२ पृष्ठ है दूसरे में छब्बीस प्रकरण और दो सौ पैतालीस पृष्ठ एवं तीसरे भाग में अड़सठ प्रकरण और दो सौ चालीस पृष्ठ। इस नवीन उपन्यास में लेखक ने 'तीर्थयात्रा' के व्याज से एक ब्राह्मण कुटुम्ब में सनातन धर्म का दिग्दर्शन हिन्दूपन का नमूना आजकल की बढ़िया राज भक्ति का स्वरूप परमेश्वर की भक्ति का आदर्श और अपने विचारों की बानगी प्रकाशित करने का प्रयत्न[2] किया है। लेखक महोदय को 'जगदीशपुरी की यात्रा का अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ था' उसी यात्रा के अनुभव से इस रचना का बीजारोपण हुआ है। 'भूमिका' में लेखक ने सुखपूर्वक तीर्थयात्रा का श्रेय अंग्रेज सरकार को दिया है व लिखते हैं "हम भारतवासियों को ब्रिटिश गवर्नमेंट की उदार छाया में निवास करके हजारों वर्षों के अनन्तर शान्ति-सुख के सच्चे अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

१　प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा काशी।
२　भूमिका।

'आदर्श हिन्दू' उपन्यास की कथावस्तु सामान्य है। पं० प्रियानाथ इसके नायक और प्रियम्वदा उनकी आदर्श धर्मपत्नी है। कान्तानाथ नायक का अनुज है जिसकी पत्नी सुखदा आदर्श पत्नी नहीं है। आदर्श दम्पति का जीवन तीर्थ-यात्रा आदि सत्कर्मों में बीतता है यद्यपि उन पर कष्ट भी आते हैं जिनको वह दम्पति ईश्वर की आज्ञा समझ कर सहन करता है। इसके विपरीत सुखदा अपनी कुशिक्षा के कारण घर के लिए दुःखदा सिद्ध हुई। एक सहेली के बहकाने में आकर वह पैठ-पैठानी से कलह करती है, छोटी-छोटी बातों पर पति से लड़ती है। उसका मन मार्ग में छूट गया व्यभिचार की ओर वह प्रवृत्त होने लगी। अन्त में सुखदा में भी सुधार हो जाता है। इस प्रकार आदर्श दम्पति के पुण्य से उनका परिवार आदर्श बन जाता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण नहीं है। आदर्श-दम्पति तो मानो सद्गुणों की प्रतिमा हैं, किसी परिवर्तन का वहाँ अवकाश नहीं है। सुखदा का जीवन अवश्य ध्यान आकृष्ट करता है। माता के दुलार ही दुलार में पलकर एक मौजी बेगी आदि बन गई थी। मथुरा की कुसंगति में वह पहले ही कड़वी करेली और फिर नीम चढ़ी[1] बनी। उसकी दुष्टा सहेली ने उसको कुमार्ग पढ़ाया वह पति से असन्तुष्ट है और परिवार से भी। अन्त में वह आत्महत्या करना चाहती है परन्तु ठीक अवसर पर उसे रोक लिया जाता है। इस प्रकार कुशिक्षा और कुसंगति के कारण कुल-वधू भी कितनी पतित हो सकती है—यह सुखदा के जीवन में दृष्टिगत होता है। लेखक ने पुरुष के बिगाड़-सुधार का कोई चित्र नहीं खींचा पुरुष से समाज पर उतना कुप्रभाव नहीं पड़ता जितना स्त्री से क्योंकि स्त्री गृहस्थ का केन्द्र है और गृहस्थ जीवन सामाजिक जीवन की धुरी है इसलिए 'बुरे आदमियों से बुरी औरतें हजार दर्जे बुरी हैं'[2]।

नायक पंडित प्रियानाथ को 'आदर्श हिन्दू' चित्रित करके 'सनातन धर्म की उन्नति और सामाजिक दुर्दशा का सुधार करने के विषय में इनके जो ख्याल हैं वे इस उपन्यास में समय-समय पर स्थान-स्थान में जाप-जप पर व्यक्त किये गये हैं'[3] इस दृष्टि से यह उपन्यास आलोच्य-युग का सबल प्रतिनिधि उपन्यास है। लेखक ने वल्लभ सम्प्रदाय की प्रशंसा की है जितनी बारीकी वल्लभ-सम्प्रदाय में देखी उतनी किसी में नहीं। वास्तव में वह अलौकिक है। इसमें जितने भीतर घुसने जाइये उतना ही गहरा-पन है[4]। उन दिनों आर्यसमाज और सनातन धर्म का तात्त्विक विरोध इस बात का था कि वेद को अपौरुषेय मानते हुए भी आर्यसमाज केवल मन्त्र-भाग को अपौरुषेय मानता था—परन्तु सनातन धर्म मन्त्र भाग के साथ-साथ ब्राह्मण भाग को भी। लेखक ने भी अपना मत इसी पक्ष में अभिव्यक्त किया है मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग अपौरुषेय

---

१ पहला भाग पृ० ११८

२ वही, पृ० १११

३ तीसरा भाग पृ० २०८

४ दूसरा भाग पृ० १५२

है ईश्वर निर्मित है" । हिन्दू समाज में जितनी कुप्रथाएं प्रचलित हैं उनका समर्थन उस साहित्य से होता है जो वेद का अंग न होकर धार्मिक जाति का है सुधारवादियों का अनुमान है कि उस साहित्य की रचना सामाजिक अवनति के अवसर पर हुई थी इसलिए उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता स्वामी दयानन्द इसी विचार के प्रचारक थे । मेहता जी ने स्वामी दयानन्द का नाम लेकर उनके मत का खण्डन[1] किया है वे अन्य सनातनियों के समान संस्कृत में लिखे गये प्रत्येक वाक्य को धर्म-ग्रन्थ मानते हैं ।

श्राद्ध प्रथा पर सर्वप्रथम ध्यान जाता है । महाशय श्यामकिशोर वर्मा के 'काशी यात्रा' उपन्यास[2] में नायक के चाचा दिवाकर की मृत्यु श्राद्ध में अधिक व्यय कर लेने से ही हो गई थी, परन्तु इस उपन्यास का नायक प्रियानाथ श्राद्धविषयक शास्त्रार्थ में अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करके एक सहस्र मुद्रा पुरस्कार में प्राप्त करता है यह उसके जीवन का सबसे बड़ा धर्मकर्म है । श्राद्ध युक्ति-प्रमाणों से वेदादि ग्रन्थों के मत से सिद्ध हो गया शर्त के अनुसार एक हजार रुपया पण्डित प्रियानाथ को दिया जावे[3] । इस शास्त्रार्थ का विस्तृत वर्णन और नायक के व्यक्तित्व का यह उज्ज्वल गुण होने से हम समझ सकते हैं कि लेखक की दृष्टि में श्राद्ध का कितना अधिक महत्व है । धर्म का दूसरा पक्ष जन्म से जाति को स्वीकार करना है । आर्यसमाज यह मानता है कि जाति और वर्ण 'गुण कर्म-स्वभाव' पर निर्भर है जन्म से न कोई ब्राह्मण है और न शूद्र इसलिए गुण एवं व्यवसाय के अनुसार ही जाति बनती है । सनातन धर्म इसका विरोध करके जाति का निर्णय जन्म पर छोड़ता है जो ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ है वह ब्राह्मण है भले ही उसका स्वभाव शूद्र या वैश्य के समान हो । पं० लज्जाराम ने जन्मगत जाति मानने के लिए बड़ा हास्यास्पद तर्क दिया है कि कोई व्यक्ति ब्राह्मण के घर उत्पन्न ही क्यों हुआ इसीलिए न कि भगवान उसको ब्राह्मण बनाना चाहते हैं 'जब आप पुनर्जन्म मानते हैं पूर्वजन्म के शुभ-अशुभ कर्मों से उच्च और नीच जाति में जन्म ग्रहण करना मानते हैं तब आप कैसे इसे नहीं मान सकते'[4] । इसी प्रकार का एक तीसरा प्रश्न अवतारवाद है । आर्यसमाज रामकृष्ण आदि को महापुरुष मानता है भगवान का अवतार नहीं और कृष्ण के सम्बन्ध में रासादि लीलाओं को धर्म का परिहास समझता है । सनातनी सम्प्रदायों ने लीलाओं के दार्शनिक अर्थ किये हैं वे कृष्ण को सोलह कलाओं का अवतार मानते हैं क्योंकि उनमें जीवन-मुक्त की पूर्णता है । मेहता जी ने परनारियों के साथ कृष्ण की लीला का तात्विक समर्थन किया है 'व्यभिचार एक पर-स्त्री का दूसरे पर-पुरुष के सम्पर्क से पैदा होता है किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण जगत्पति उनके परमगति थे'[5] ।

तीर्थयात्रा इस उपन्यास की प्रेरणा भी रही है और इसका वर्ण्य विषय भी ।

---

१ दूसरा भाग पृ ११४

२ वे पृ १६०-१

३ वही पृ २४१

४ वही, पृ ११९

५ दूसरा भाग पृ० १२४

६ पहला भाग पृ १६६

लेखक तीर्थयात्रा को आवश्यक समझता है परन्तु उसमें होने वाले अत्याचारों से वह अपरिचित नहीं। उपन्यास की नायिका प्रियंवदा की तीर्थयात्रा में जो दुर्दशा हुई वह आतंकमयी है। पुरी कल्पवास से प्रियंवदा की गठरी बांध कर सिर पर लादे हुए वह गये वह गये और पंडित जी के ऊपर से देखते देखते गायब हो गये।[1] किसी की जेब कटती है किसी का सामान चोरी हो जाता है, स्त्रियों की नाक और कान की बालियां खींच कर खून टपकाते हुए गुंडे लोग साफ निकल जाते हैं। किन्तु—'इसमें तीर्थों का दोष नहीं है मंदिर वे ही हैं क्षेत्र वे ही हैं और धाम वे ही हैं किन्तु उस समय के से मनुष्य नहीं हैं।'[2] इसीलिए आजकल पहले की सी तीर्थयात्रा नहीं रही। हिन्दू धर्म में जो दोष आ गये हैं वे धर्माधिकारियों के कारण हैं 'इन्हीं मूर्खों की बदौलत हिन्दू धर्म भ्रष्ट भ्रष्ट हुआ जा रहा है'।[3] परन्तु लेखक ने सुधार की कोई योजना नहीं बनाई वह केवल काल को दोष देकर मानो निरपेक्ष द्रष्टा बन गया है।

धार्मिक समस्याओं का तीसरा पक्ष व्यावहारिक प्रश्नों से सम्बन्ध रखता है। लेखक ने बहुत संक्षेप में सम्मिलित कुटुम्ब का समर्थन किया है परन्तु इसको प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं समझी। उस काल में यह समस्या उठ ही रही है इसने कोई निश्चित रूप ग्रहण न किया था। आदर्श दम्पत्ति सम्मिलित कुटुम्ब के पक्षपाती हैं परन्तु कर्कशा सुखदा मैके-बैठकों में समय रहना चाहती है लेखक का अभीष्ट सुखदा की इच्छा नहीं हो सकती। एक बार उसने स्पष्ट शब्दों में सम्मिलित कुटुम्ब का समर्थन भी किया है 'आजकल के लोग चाहे हमारे संयुक्त कुटुम्ब की चाल को नापसन्द करें परन्तु जब तक बूढ़े बाबा के दम में दम रहा सारा घर उनकी आज्ञा के अधीन बना रहा'।[4]

दूसरा प्रश्न वैवाहिक है जिसके अन्तर्गत लेखक ने अन्तर्जातीय विवाह, बाल विवाह और विधवा विवाह पर विचार किया है। अन्तर्जातीय विवाह की कथा एक सामान्य पात्र (स्त्री) के सम्बन्ध में की गई है जो अपने पति से रूठ कर चली आई थी और जिसकी अन्त में दुर्दशा हुई। लेखक ने उसकी दुर्दशा पर विचार करते हुए सन्ताप की सांस ली है 'दोनों की जाति भी एक न थी'।[5] आर्यसमाज बाल-विवाह का विरोधी था उसका मत है कि जब तक वर और कन्या विवाह का उत्तरदायित्व न समझें तब तक उनका विवाह कर देना उनके लिए अहितकर है। सनातनी लोग 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी' की पूंछ पकड़े थे। इस उपन्यास के लेखक ने यह तर्क दिया है कि यूरोप में तो कुमारों का विवाह ठीक है परन्तु हमारे देश में बालकों का ही विवाह देशकालानुकूल है 'उनके यहां जवानी का प्रारम्भ जिस समय होता है उस समय हमारे देश की स्त्रियां दो-चार बच्चों की माता हो जाती हैं।'[6] हमारे देश के रिवाज से कम

---

१ दूसरा भाग पृ० १६
२ पहला भाग पृ० १६०
३ वही, पृ० ४१
४ वही, पृ० २११
५. पहला भाग पृ० ९०
६ वही पृ० १११

शास्त्र की आज्ञा से हिन्दू बालिका का विवाह रजस्वला होने से पूर्व हो जाना चाहिए"[1]। लेखक का मत है कि विवाह हो जाने के बाद स्त्री को यह ज्ञान हो कि विवाह क्या होता है, प्रेम का अनुभव करने योग्य होने से पूर्व उसके प्रेम का निर्दिष्ट पात्र प्रस्तुत रहना चाहिए। 'उनका प्रणय और हमारा परिणय है। उनके यहाँ प्रणय पहले और हमारे यहाँ प्रणय पीछे होता है'। विधवा विवाह का खण्डन पापपूर्ण है। लेखक विधवा-विवाह को व्यभिचार के समकक्ष समझते हैं और उसको तलाक के समान ही दोषपूर्ण सिद्ध करते हैं। 'वह विवाह नहीं है। वह तो व्यभिचार है जो हिन्दू-समाज में विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते हैं"[2]। यह सामयिक चर्चा है फिर भी लेखक का तर्क निराधार उनके रोष का प्रदर्शन मात्र है। विधवा विवाह को तलाक के साथ रखना ही गलत है। दोनों अलग अलग परिस्थितियों के प्रश्न हैं। एक में अकालकवलित पति के बिना किशोरी अबला के जीवन का प्रश्न है, दूसरे में पति-पत्नी की अनबन का हल है। जो लोग विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं वे तलाक के भी समर्थक हों यह आवश्यक नहीं। और विधवा-विवाह व्यभिचार कैसे है? जब पत्नी की मृत्यु के बाद प्रौढ़ पति दूसरा विवाह कर सकता है तो किशोरी विधवा को यह अधिकार क्यों न प्राप्त हो। वास्तव में सनातन धर्म ने समस्त बन्धन स्त्री के लिए स्वीकार किये हैं, पुरुष पर कोई बन्धन नहीं। यह तो धर्म का नाश है—यह मात्र शासन द्वारा नारी को धर्मपथ पर रखना स्वयं चाहे जिधर फिरा करे। मेहता जी का यह उपन्यास धार्मिक समस्याओं की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है। जितनी समस्याएं इसमें हैं उतनी अन्य उपन्यासों में नहीं।

उपन्यास कला की दृष्टि से 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास का विशेष महत्व नहीं है, परन्तु समकालीन धार्मिक जीवन का जैसा सर्वांगपूर्ण विस्तृत वर्णन इस उपन्यास में है वैसा हिन्दी के किसी उपन्यास में नहीं। यदि इसको 'उपन्यास' न कह कर सामाजिक विवरण कहा जाय तो अनुचित न होगा। सभी मुख्य तीर्थ इसके अन्तराल में आ गये हैं और लगभग सभी धार्मिक प्रश्नों का लेखक ने अपने दृष्टिकोण से उत्तर दिया है। धार्मिक जिज्ञासा या किञ्चित् श्रद्धा के बिना यह उपन्यास मनोरंजन नहीं कर सकता। जितनी गहराई से श्राद्ध आदि पर विचार किया गया है उतनी सामान्य पाठक को अभीष्ट नहीं। धार्मिक दृष्टि भी मेहता जी की सीमित है। अछूत समस्या उठाई ही नहीं गई, पतित स्त्री-पुरुषों की शुद्धि का प्रश्न भी नहीं है। तीर्थों के दोषों का निवारण किस प्रकार हो यह लेखक ने नहीं बताया। अच्छी शिक्षा की कोई रूप-रेखा प्रस्तुत नहीं की गई। मुसलमानों और ईसाइयों के मोर्चे का लेखक ने कोई हल नहीं निकाला। इस प्रकार लेखक की दृष्टि में आर्यसमाज की सुधारवादिता से सनातन धर्म को बचाना ही धार्मिक पुरुषार्थ है। खटकने वाली एक बात और है कि सन् १९१४ में कोई भी लेखक विदेशी शासन की इतनी प्रशंसा नहीं करे। ऐसा प्रतीत होता है कि जलियाँवाला बाग काण्ड (सन् १९१८) से पूर्व परतन्त्रता की वेदना समाज-सुधारकों को कचोटती नहीं थी।

---

१ वही पृ० ८ २. वही
३ वही पृ० १५

पुस्तक की भाषा गम्भीर, सरल परन्तु तत्सम शब्दों से युक्त है। कहीं-कहीं पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग है। बन्दर चौबे का हास्य मथुरा की विशिष्ट भाषा के बिना उतना सफल न हो पाता। ठीकों की ठगी जिस भाषा में वर्णित है उसमें वास्तविकता नहीं। लेखक ने स्वामी दयानन्द का नाम देकर ऐतिहासिक रंग भरने का प्रयत्न किया है। बीच-बीच में संस्कृत और हिन्दी के भक्तिभावपूर्ण पद्य सुसम्मिलित हैं। इस उपन्यास में कथोपकथन बहुत कम है, विवरण मात्रा में अत्यधिक। कथा कहते-कहते लेखक पाठकों से भी बात करने लगता है परन्तु अस्वाभाविकता नहीं आ पाती। रचना का उद्देश्य सनातन धर्म की जय और इतर की दुर्दशा दिखलाना है।

प्रस्तुत उपन्यास के तीसरे भाग में लेखक ने रेनाल्ड तथा रेनाल्ड से प्रभावित साहित्य का प्रभाव विशेषतः नारी-जाति के लिए घातक मानकर स्वच्छ एवं स्वस्थ उपन्यास पढ़ने और लिखने की अपील की है। 'आदर्श दम्पति' 'हिन्दू गृहस्थ' 'बिगड़े का सुधार' 'विपत्ति की कसौटी' 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' आदि अनेक ग्रन्थ आपको मिलेंगे। रेनाल्ड के नावेलों को फेंक दीजिए, वे आपके चरित्र को बिगाड़ने वाले हैं[1]। 'हिन्दी के कितने सुलेखक महाशय डिटेक्टिव कहानियाँ लिखने और अनुवाद करने के बाद यदि पंडित दीनबन्धु जैसे सच्चे [illegible] का किसी उपन्यास में चरित्र अंकित करें तो अधिक उपयोगी हो सकता है। लेखक की यही प्रार्थना है[2]।

गंगाप्रसाद गुप्त के उपन्यास

लक्ष्मीदेवी

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त[3] ने 'गृहस्थ स्त्रियों पुरुषों युवतियों और युवकों के पढ़ने योग्य' 'एक बहुत रोचक और शिक्षाप्रद उपन्यास' 'लक्ष्मीदेवी'[4] लिखा। यह दस परिच्छेद और चौंसठ पृष्ठ की एक छोटी-सी पुस्तक है। 'लक्ष्मीदेवी' उपन्यास हमारे आलोच्य काल में दूसरी बार छपने लगा था। इस मुखपृष्ठ पर सन् संवत् अंकित नहीं है परन्तु '[illegible] वैदिक पुस्तकालय दिल्ली' की १८।१।२२ की मुहर लगी हुई है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह उपन्यास 'दूसरी बार' सन् १९२० ई० तक छप गया होगा।

काशी के बाबू मनोमोहनदास की मृत्यु के बाद उनकी सन्तान दोनों पुत्रियों श्यामा और लक्ष्मी देवी के नाम सौ-सौ रुपये की पेन्शन सरकार की ओर से नियत हो गई। श्यामा को इलाहाबाद के गर्ल्स स्कूल में डाक्टरी पढ़ने के लिए भेज दिया गया। पढ़ते समय श्यामा पर विलायती स्वतन्त्रता का प्रभाव पड़ गया और वह बिगड़ती चली गई। उसने मोतीलाल नामक व्यक्ति से विवाह कर लिया। परन्तु एक-दूसरे से मन भर जाने के कारण अलग हो गई। तब वह विश्वम्भरनाथ नामक काश्मीरी युवक की पत्नी

---

१ तीसरा भाग पृ० ८०   २ वही पृ० २११

३ भूतपूर्व प्रधान सम्पादक श्री वेंकटेश्वर-समाचार, मतवाला, भारतजीवन, 'हिन्दी-बंगवासी' और 'हिन्दी-केसरी'।

४ प्रकाशक बाबू निरंजनचन्द वर्मा, [illegible] द्वारा प्रकाशित प्रति।

बनकर रहने लगी। कुछ दिनों बाद उसने एक बंगाली बाबू से प्रेम कर लिया जिसने विश्वम्भर से उसको खूब पीटा। फिर श्यामा अपने अस्पताल के एक क्लर्क के साथ ही भाग गई तब क्रोध में आकर विश्वम्भर ने गले में उसकी नाक काट ली। श्यामा की नौकरी बदचलनी के कारण छूट गई और वह दर-दर की मोहताज बन गई। उधर लक्ष्मीदेवी योग्य, सरल और कार्यकुशल डाक्टर सिद्ध हुई। उसका विवाह जन्मकुण्डली मिलाकर अपनी जाति के डा० भागवतप्रसाद के साथ हुआ। लक्ष्मीदेवी ने सुखी गृहस्थ जीवन बिताते हुए चिकित्सा द्वारा देश और समाज की बड़ी सेवा की और पथ-भ्रष्ट युवतियों के सम्मुख उच्च आदर्श रखा।

इस उपन्यास का कथानक एक परम्परात्मक कहानी है जिसका उद्देश्य स्त्री स्वातन्त्र्य के दोष दिखाना है। एक माता-पिता की एक ही घर में पली हुई दोनों बहिनें दो भिन्न मार्गों पर क्यों चलीं—यह लेखक ने नहीं बतलाया। परन्तु दोनों को दो संस्कृतियों का प्रतिनिधि बनाकर उनके जीवन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है। किशोरीलाल के 'लीलावती वा आदर्श सती'[1] उपन्यास में भी यही रूपरेखा है। परन्तु कलावती और लीलावती सगी बहिनें नहीं हैं इसलिए उनके संस्कारों को उनके चरित्र के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। चतुरसेन श्यामा की नाक कटने और बदचलनी के कारण नौकरी छूटने पर उपन्यास से हटा देते हैं परन्तु किशोरीलाल की कलावती का अंग-अंग गल जाता है और उसके शरीर से भी उसके चरित्र के समान ही दुर्गन्ध निकलती है। इस लेखक ने पापिनी को पाप का दण्ड दिलवाया है ईश्वर की ओर से कोढ़ और समाज की ओर से नाक कटना मानो ऐसे घोर पातक का विहित दण्ड है।

श्यामा और लक्ष्मी दो वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं। लेखक का दृष्टि उनके केवल एक गुण पर है—स्वतन्त्रता। जिस समय आर्यसमाज महिलाओं को पर्दे से बाहर निकाल कर उनको सामाजिक सम्मान का अधिकारी सिद्ध कर रहा था उस समय पुराण पंथियों ने 'न नारी स्वातन्त्र्यमर्हति' का शंखनाद प्रारम्भ कर दिया। वे सोचते थे कि नारी पर विश्वास किया ही नहीं जा सकता। यूरोप की नारी स्वतन्त्र है परन्तु भारत में स्वतन्त्रता से धर्मसंकट उपस्थित होगा। नारी और धर्म को एक दूसरे का पर्याय मानने की धारणा बहुत ही संकीर्ण है। जिस समाज में नारी का जितना सम्मान होगा उतना ही वह उच्च माना जाएगा। प्राचीन भारत में नारी की बड़ी महिमा थी। अत्याचारी रावण सीता के सतीत्व से भस्म हो गया। पाञ्चाली के प्रति दुर्व्यवहार करने वाले कौरवों का सर्वनाश हुआ। सावित्री के तेज से आतंकित यम उसके पति के प्राण न हर सका। मध्ययुग में नारी पुरुष की दासी थी। वह पर्दे में रहकर भय से प्रभावित होती थी। सर्वोदय के साथ नारी का भी सम्मान बढ़ा जिसको कबीर के कबीर सहन न कर सके। वस्तुतः नारी को पुरुष के समान ही आदर देने की भावना शुद्ध भारतीय है। जीवन में स्त्री और पुरुष दोनों का समान अस्तित्व है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। उनमें तब

---

[1] रचना-काल १९१०

योगी की भावना होनी चाहिए, स्वामी और सेवक की नहीं। पर्दे का आदर्श न केवल नारी की कैद ही है प्रत्युत उसके व्यक्तित्व का अपमान भी है। प्रस्तुत लेखक ने बड़ी कठोर मर्यादा निश्चित की है 'पर्दे का यथार्थ मतलब तो यही है कि जहाँ तक सम्भव हो न तो सूरत दिखाई जाय और न आवाज सुनाई जाय और इसी प्रकार यथासम्भव न परपुरुष का मुख देखा जाय न शब्द सुना जाय'[1]।

पर्दे के अतिरिक्त लेखक ने सनातनी दृष्टि से स्त्रियों के विषय में कुछ दूसरी बातों पर भी प्रकाश डाला है। 'लड़कियों को चौदह वर्ष की उम्र तक क्वाँरी रखना' ही जनक को आशंकित कर देता है 'जमाना बड़ा खराब है लोग क्या कहेंगे?'[2] विवाह आदि के लिए वरकन्या की योग्यता 'कुल, जाति और जन्मकुण्डली पर निर्भर है'। डा० लक्ष्मीदेवी के विवाह के लिए सबसे पहले कुण्डली ही मिलाई जाती है। चरित्र के सम्बन्ध में लेखक सर्वप्रथम महत्त्व 'कुल-जाति' को देते हैं तदनन्तर 'देश और धर्म' का। लक्ष्मी देवी के शब्दों में 'अपने कुल, जाति, देश और धर्म के विरुद्ध कोई काम'[3] न करना चाहिए। यदि संयोगवश कोई व्यक्ति भ्रष्ट हो जाय तो उसके प्रति सद्-आत्मा का क्या कर्तव्य है—इसका उत्तर लेखक के शब्दों में ही देखिए 'यदि मनुष्य का कोई अंग किसी कारण से सड़ जाय तो जिस तरह उस अंग को काट कर दूर कर देना आवश्यक होता है क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो उसके संसर्ग से और अंगों के भी सड़ जाने का डर होता है उसी प्रकार परिवार भर को कलंकित करने वाले किसी महा दुश्चरित्र के दूर कर देने में भी जिसका किसी तरह सुधार या प्रायश्चित न हो सकता हो कोई हर्ज नहीं है'[4]। यह शुद्ध मध्ययुगीन दृष्टि है जिसका विधर्मियों ने बहुत अधिक दुरुपयोग किया है।

गंगाप्रसाद गुप्त और किशोरीलाल गोस्वामी की समान समस्याओं की दृष्टि से तुलना करने पर गोस्वामी जी समय की गति को समझने वाले और उदार दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने पर्दे पर इस प्रकार का जोर नहीं दिया, प्रत्युत नायक नायिका को स्वतन्त्र होकर अपना जीवन-साथी खोजने की अनुमति दी है। अवश्य ही स्त्री के लिए सतीत्व अमूल्य गुण है साथ ही सत्पुरुष के लिए सच्चरित्र भी रहना ही आवश्यक है। गोस्वामी जी ने परीक्षा-क्रम से शुद्धि का समर्थन[5] किया है, गुप्त जी पतित को त्याग कर आगे बढ़ जाते हैं। गोस्वामी जी के पुरुष और नारी जीवन का सामना करते हैं और दृढ़ होकर विजयी बनते हैं, गुप्त जी ने संयम रख कर उनको नवीनता से अछूता दिखाया, जीत कर पारमाम्बित नहीं होने दिया।

गंगाप्रसाद गुप्त उपन्यासकार नहीं थे। सनातन धर्म के प्रचार की दृष्टि से उन्होंने उपन्यास का कल्पित स्वरूप ले लिया। अपने उपन्यास में वे बाबू वृन्दावन की प्रशंसा करते हुए उनकी 'म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर, ऑनरेरी मजिस्ट्रेट, राय बहादुर की पदवी' योग्यताओं के बाद लेखक कहते हैं कि इतना ही नहीं आप बड़े

१ पृ० ६   २ पृ० ६   ३ पृ० २८
४ पृ० २८   ५ पृ० १०६, १३२

की देश में न्यूनता आदि-आदि अनेकानेक कारणों से अपने देश की स्त्रियाँ अत्यन्त दुरवस्थाग्रस्त हैं और इतना सब सहन करते हुए भी बाल्यावस्था में जो नारी तुम समान अपना जीवन हिन्दूधर्म एवं समाज की रक्षा करते हुए व्यतीत कर रही हैं वे धन्य-धन्य हैं।'[1]

पुष्पा बालिका से किशोरी बनने तक हमारे सामने रहती है एक बार खोई हुई भारी तलाश कर देने वाले कमल से वह इतनी प्रसन्न हुई कि मातामही की अनुमति से उसने 'भगवान को चढ़ाई पुष्पमाला स्वयं न पहनकर कमल को ही पहिना दी। वह सरला है परन्तु 'मा कुछ दूर निकल गयी ऐसी ज्ञान बालिका भी पपीहे से इतना कह कर बीच बस दी—प्यारे पपीहा बस फिर तुम इसी स्थान पर मिलना'[2]। यहाँ उसके जीवन में उत्कण्ठा का रूप स्पष्ट रहा है। जब मृगनाथ-यात्रा में कमल ने उसकी रक्षा की तो पुष्पा कितने अवर्णित वाक्य कहती है—'मेरी प्राण विधाता ने रक्षा आपके ही पवित्र हाथ में सौंप कर दी—और प्राण—अपना इस भविष्य जीवन को आपके चरणों की सेवा में ही अर्पण कर संसार में इतरस्य होने का साहस करूँ और आपको अब प्राणनाथ कहके पाति हूँ'[3]। लेखक ने गान्धर्व विवाह ही दिखा दिया है परन्तु शायद किशोरीलाल गोस्वामी के समान वे इस पद्धति का आधुनिक 'कोर्टशिप' से भिन्न समझते थे। इस में प्रणय के अनन्तर रूप है रूप के अभाव में वह न तो पूर्ण है और न विषम है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि गान्धर्व विवाह अभी कुमारियों के लिए ही शास्त्रोचित माना गया है।

लेखक ने 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' के भाव को लेकर इस पुस्तक की रचना की है। इसमें नर्मदा-तटवर्ती प्रदेश का बड़ा भावपूर्ण वर्णन है। लेखक का उद्देश्य कथा या चरित्रचित्रण तो है ही नहीं वातावरण का अंकन भी नहीं है। वह तो धर्म शिक्षा अथवा ईश्वर भक्ति का उपदेश देना चाहता है और उस प्रसंग में धार्मिक स्थानों का उन्होंने अति भावपूर्ण वर्णन किया है। 'पुष्पाकुमारी' उपन्यास रूप से अधिक सफल न भी हो इसकी दो विशेषताएँ हैं। एक तो इसके वर्णन बड़े भावमय एवं सात्त्विक हैं। दूसरे इसका घटना-स्थल मध्यप्रदेश का नर्मदा-तट है जो सामान्यतः अन्य सामाजिक उपन्यासों में नहीं मिलता।

रुद्रदत्त शर्मा के उपन्यास

स्वर्ग में महासभा

समाज-सुधार के लिए 'विधवा विवाह' (सन् १८८४) 'पाखण्ड मूर्ति' (सन् १८८८) तथा 'आर्यमत मार्तण्ड' (सन् १८९२) नाटक लिखकर 'सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा' ने पौराणिक मतों पर चुटकी लेते हुए एक छोटी-सी व्यंग्य कथा लिखी जो 'लक्ष्मी मशीन प्रिंटिंग प्रेस मुरादाबाद' में छपी थी। लेखक ने इसको उपन्यास या कहानी

१ पृ० १६
२ पृ० १६
३ ,, ८०

नाम तो नहीं दिया और स्वर्ग की कल्पित घटनाओं से पूर्ण होने के कारण इस कृति में आधुनिक उपन्यास के गुण नहीं माने जा सकते। फिर भी सामयिक जीवन और उसकी सामाजिक समस्याओं के स्वर्ग की महासभा में यथार्थ चित्र रहने के कारण हम इस रचना को उपन्यास-कोटि में स्थान दे सकते हैं। 'महासभा' शब्द 'पब्लिक मीटिंग' का अनुवाद'[1] है लोकतंत्रीय संसदीय शासन प्रणाली पर भी इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है।

संसार में बहुत गड़बड़ देखकर जब देवता लोग घबरा गये और उनका कोई वश न चला तो एक दिन उन्होंने एक पब्लिक मीटिंग की। कुमार षडानन उसके सभापति चुने गये। सब देव अपनी-अपनी शिकायत सभा के सम्मुख रखने लगे। उनका कहना था कि भूतल के लोग उनका नाम ले-लेकर अनेक प्रकार का मिथ्याचार फैला रहे हैं। एक के बाद दूसरा प्रस्ताव लाया जाता गया। अन्त में 'मोहम्मद साहब ने यूरोपीय लोगों को अपनी टेक दिखाकर समझाया कि आप लोग कैसे बन्दे खुदा हैं जो खुदा की इबादत में खलल डालना चाहते हैं'[2]।

इस पुस्तक का उद्देश्य है कि 'जगत् में ईश्वर की भक्ति बढ़े और मनुष्यों की श्रद्धा सत्य धर्म में बढ़े'[3]। अब धर्म के विषय में जो 'फ़ाल्स-रिपोर्ट'[4] दी जाती है उन पर सभा में विचार किया गया है। सबसे प्रथम कर्मफल है। भारतीय दर्शन कर्मफल में विश्वास करता है, परन्तु पैगम्बरी मत देव-विशेष की दया से सुगति और कोप से कुगति मानते हैं, फलतः उनके अनुयायी अच्छे कर्म आवश्यक नहीं मानते प्रत्युत विशिष्ट सम्प्रदाय की रक्षा के लिए बुरे से बुरा काम करने को तैयार रहते हैं। सभा में इस पैगम्बरवाद का खण्डन करके कर्मफल पर जोर दिया गया है 'सुकर्म और कुकर्म करने वालों को स्वर्ग में एक ही स्थान मिलता है तो हम लोग क्या सुकर्म करते'[5] । यह आक्षेप इस्लाम और ईसाइयत पर है, वे न पुनर्जन्म मानते हैं और न कर्मफल उनका एकमात्र सहारा तो ईश्वर का दूत अथवा ईश्वर का पुत्र है जो अपनी कृपा से अपने अनुयायियों को अक्षय स्वर्गभोग एवं दूसरों को घोर नरक में स्थान दिलाता है।

दूसरा आक्रमण पुराणवादियों पर है। 'इन देव-कुल-कलंककारी पुराण पुस्तकों को इतिहासों की लिस्ट से खारिज कर दीजिए'[6]। इनके मिथ्या प्रचार से ईश्वर भी भयभीत है आप लोग पुराणों को खारिज कीजिए नहीं तो मैं ईश्वरपन से इस्तीफ़ा देता हूँ'[7]। एक ओर 'सनातन धर्म की रीति'[8] और दूसरी ओर सुधारवादिता यही तो उस युग का संघर्ष था। सनातन धर्मी पौराणिक मतों को ही सनातन एवं आर्य धर्म मानते थे वे पुराणों को वेद से भी अधिक महत्त्व देना चाहते थे। परन्तु पुराणों के वर्णन बुद्धिसंगत नहीं थे। इसलिए बुद्धिवादी आर्यसमाजियों को पुराणों की 'गपशपों'[9]

---

१ पृ० २ २ पृ० ६६ ३ पृ० २
४ पृ० १६ ५ पृ० ३ ६ पृ० ४
७ पृ० ७२ ८ पृ० १६ ९ पृ० ३

स्वीकार्य न थी। 'नारद पचरात्रादि पुस्तक रद्दी खाने में फेंक दिये जायें'¹ यह सभा का निश्चित मत लेखक ने प्रकट किया है। अस्तु, पैगम्बरियों के बाद पौराणिक के प्रति भी लेखक का रोष इस पुस्तक में अनेक स्थानों पर व्यक्त हुआ है।

प्रसंगवश लेखक ने अंग्रेजी राज्य पर भी कटाक्ष किया है जो उस युग के लिए सामान्य बात नहीं थी। 'रिपब्लिकन गवर्नमेंट'² अथवा प्रजातन्त्र के साथ-साथ लेखक ने 'साम्यवाद' भी स्वीकार किया है जिससे उसका अभिप्राय जन्म से ही ऊँच-नीच जाति अथवा वर्ग को न मानकर मानव-मात्र के प्रति समभाव से है। युग के अनुकूल वह प्रजातन्त्र का समर्थन करता है और प्रत्येक नागरिक को एक वोट का अधिकार देना चाहता है। अंग्रेजी शासन की तुलना उसने असुरराज बलि के शासन से की है। राजा बलि का साम्राज्य विस्तृत था उनकी प्रशंसा दान के लिए की जाती है। यहाँ लेखक ने अंग्रेज सम्राट को राजा बलि बताकर विदेशियों का असुरों के समकक्ष तो रख ही दिया यह भी संकेत कर दिया है कि उनका अकिंचित्कर उपकार (रेलगाड़ी आदि) आपको तो प्रत्यक्ष बलि न मिले हैं भारतीय समझते हैं कि अंग्रेजों ने जीवन की नवीन सुविधायें देकर देश का बड़ा उपकार किया है वे यह भूल जाते हैं कि इनकी वेदी पर भारत का बलिदान हो गया—उसका व्यापार, उसकी कला उसका साहित्य उसकी संस्कृति सब कुछ ही तो स्वाहा होता गया है। अतः देश ने स्वराज्य को सर्वसम्मति से स्वीकार किया है 'जैसी उन्नति हम आप लोगों की कर सकते हैं वैसी उन्नति विदेशीय राजा बलि नहीं कर सकते'³।

सामाजिक चित्र के नाते 'स्वप्न में महासभा' एक उपयोगी पुस्तक है। इसकी भाषा सर्वसाधारणोपयोगी एवं शैली व्यंग्यमयी है। यद्यपि इसको कहानी अथवा उपन्यास के घेरे में रखना निर्विवाद न होगा फिर भी तात्कालिक जीवन के यथार्थ चित्रों की रूपरेखा इसमें भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पन्न भाषाभाषी पत्रकार थे। उनकी लेखनी से समाज की धार्मिक दुर्दशा का चित्र आकर्षक एवं प्रभावशाली बन गया है।

इस पुस्तक को पढ़ते हुए सहसा 'यमलोक की यात्रा' तथा 'स्वप्न में विचार सभा का अधिवेशन' निबन्धों की याद आ जाती है। सन् १८८ ई० के 'सार सुधा निधि' में प० राधाचरण गोस्वामी ने 'यात्रा' का लिखना प्रारम्भ किया था उसमें राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर व्यंग्य है गोस्वामी जी सुधारवादी सनातन धर्मी थे। स्वप्न में महासभा का अधिवेशन भारतेन्दु का निबन्ध है जिसमें 'उन्होंने स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्रसेन के प्रति अपनी धारणा को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है'⁴। भारतेन्दु का निबन्ध भी हिन्दू समाज में फैली हुई कुरीतियों और अन्ध विश्वासों का वर्णन करता है। रुद्रदत्त शर्मा ने प्रथम तो उस शैली को पुस्तक-रूप दिया है दूसरे धार्मिक विवेचन करते हुए अवैदिक मतों का खण्डन किया है।

१. पृ० २
२. पृ० ५
३. पृ० ५
४. भारतेन्दु युग पृ० ४८

श्यामकिशोर वर्मा के उपन्यास

काशी यात्रा

केवल धर्म प्रचार की दृष्टि से लिखे गये उपन्यासों में महाशय श्यामकिशोर वर्मा का 'काशी यात्रा' भी है। यह सन् १९१६ में लाहौर से प्रकाशित हुआ था। मुख पृष्ठ पर ही इसको 'एक धार्मिक उपन्यास' लिखा गया है। प्रारम्भिक वचन' में वर्मा जी ने लिखा है कि ईसाई धर्म की उन्नति के यहाँ और कई कारण हैं वहाँ एक कारण यह भी है कि धर्म के प्रचार के लिए वह अपने ट्रैक्ट उपन्यास और कथा शैली पर ऐसे मनोरंजक और रोचक छपवाते हैं कि जिनको पढ़कर जनता का मन ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हो जाता है—इस समय जब कि लोगों के मनों में धर्म-ग्रन्थों से अरुचि हो रही है यह विधि बहुत ही उत्तम है और इसी का अनुकरण करते हुए यह ट्रैक्ट जिसमें सत्य सनातन वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की महिमा दर्शाई गई है जनता की भेंट किया जाता है। इस वचन से यह स्पष्ट है कि इस उपन्यास का उद्देश्य समाज में से उन दोषों का बहिष्कार है जिनके कारण ईसाई हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन कर अपने में मिला लेते हैं।

'काशीयात्रा' पाँच परिच्छेद और ६६ पृष्ठ का उपन्यास है। पौराणिक चाचा शिवशंकर और आर्यसमाजी भतीजे रामनारायण की कथा के ब्याज से हिन्दू-समाज में उन अंधविश्वासों का वर्णन है जिनके कारण हिन्दू ईसाई बनते चले जा रहे हैं। रामपुर ग्राम में शिवशंकर नाम का एक ब्राह्मण था जिसके भतीजे का नाम रामनारायण था। शंकर अपने भतीजे को उत्तम उत्तम कथा सुनाया करता था और देश की कुरीतियों पर घंटों उसके साथ वार्तालाप किया करता था।[1] 'धर्म' और 'कुरीति' का शंकर का अपना पोपलीला वाला मत था। उसके मत में बुद्धि का विकास करने वाली सभी बातें 'कुरीतियां' हैं और बाबा-परम्परा से चलने वाली प्रथाएं ही 'धर्म' हैं। वह कहता है कि 'रेल तो मानो अपने पहियों के बीच हमारे धर्म और नियमों को कुचलती है' या 'ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को इस वास्ते बनाया कि वह इस संसार में और जातियों पर शासन करें'।[2] अन्त में अति भोजन के कारण चाचा की मृत्यु हो गई तब भतीजा अनाथ हो गया। आर्यसमाज ने उसको अनाथालय में रखा और योग्य विद्वान् पंडित बनाया। रामपुर से काशी तक की यात्रा में चाचा की मृत्यु और भतीजे का अनाथ बनकर रहने का ही चित्रण है।

उपन्यास-कला की दृष्टि से तो नहीं परन्तु सामाजिक समस्याओं की दृष्टि से 'काशी यात्रा' का भी विशेष महत्व है। लेखक ने छोटी-छोटी चर्चाओं द्वारा जिन कुरीतियों का वर्णन किया है वे ही आर्य जाति के पतन का कारण हैं। इन कुरीतियों को पाँच वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम है ब्राह्मणत्व का पतन। जब वर्ण या जाति कर्म के स्थान पर जन्म से निर्धारित किए जाने लगे तभी से समाज का पतन

१ पृ० ४

२. पृ० ११

हुआ—इस पतन में ब्राह्मणों का विशेष स्थान है। ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर ही जब कोई व्यक्ति ब्राह्मण कहला सकता है तो उसे योग्य बनने की क्या आवश्यकता है। अस्तु, मूर्ख पेटू दुर्व्यसनी तथा अहंकारी ब्राह्मणकुलांगारों ने समाज को डुबो दिया। ये मूर्ख यजमान के घर जा-जाकर उनको स्वर्ग का प्रमाण-पत्र देने लगे। शास्त्र की रचना केवल पेट भरने के लिए हो है। ब्राह्मण भूखा मरेगा चोरी करेगा परन्तु मजदूरी नहीं कर सकता। इस उपन्यास में इन्हीं दुर्गुणों का चित्र है। कुरीतियों का दूसरा वर्ग अज्ञान से सम्बन्ध रखता है। जिसके कारण स्वयं वेद-शास्त्र पढ़ने में असमर्थ हिन्दू कपोल-कल्पित किस्सों में विश्वास करने लगा है। उसके देवी-देवता अशक्य और विचित्र हैं। गणेश हाथी है तो हनुमान बन्दर। कोई बलि चाहता है तो कोई श्मशान-सेवन। तीसरा वर्ग अन्धविश्वासों का है जिसके अन्तर्गत शकुन एवं शुभाशुभ विचार है। चतुर्थ वर्ग सामाजिक कुप्रथाओं का है जिनमें से इस पुस्तक में केवल मनुष्य के प्रति दुर्व्यवहार का वर्णन है। अन्तिम वर्ग नवीन वैज्ञानिक सुविधाओं को धर्म के धक्के से बहा देना है। लेखक ने केवल रेल-यात्रा की चर्चा की है। ध्यान देने की एक बात है कि स्त्री-सम्बन्धी किसी कुरीति पर यहाँ प्रकाश नहीं डाला गया *न विधवा-समस्या है न बाल विवाह न परित्यक्ता ललना है न अन्तर्जातीय सम्बन्ध।* लेखक समाज के मोटे-मोटे दुर्गुणों को देख सका है उसके सूक्ष्म तन्तुओं को नहीं। उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयों से अपने धर्म को रक्षित करने की युक्ति बतलाई है, परन्तु शुद्धि की कहीं चर्चा नहीं की। सारांश यह उपन्यास कुपथगामी की आँख खोलने के लिए लिखा गया है।

इन कुरीतियों का उपचार 'राजकुमारी देवी आर्य्यजाति का विवाह यद्यपि वेद के विरुद्ध ब्राह्मसमाज से कर'[1] देना है। लेखक के मत में 'सर्पों' से भयंकर और विदेशी संसार के सर्पों में से एक यह क्रिश्चियनिटी भी है—इस सर्प से डसा हुआ मनुष्य अपने धर्म को तिलांजलि देने के साथ ही अपने इस लोक और परलोक दोनों ही का नाश कर बैठता है'।[2] 'एक अति बलवान् विद्या-धुरन्धर, बालब्रह्मचारी वैद्य इस *जाति में था जोकि वेद रूपी औषधि से इस कराल विष को हरता था'*।[3] अस्तु वैदिक ज्ञान का प्रचार ही समाज की कुरीतियों को दूर कर सकता है यही लेखक का निष्कर्ष है।

श्यामकिशोर वर्मा की भाषा सरल तथा सहज है। उनकी शैली में शक्ति है। कथोपयोगी कल्पना उनके पास थी। परन्तु उनकी रचना में भाषण का *गुण वर्णन की अपेक्षा अधिक है। जिस जनता के लिए यह उपन्यास लिखा गया है* उसकी दृष्टि से सफल है।

---

१ ७६   २ पृ ११   ३ पृ १८

रामजीदास वैश्य के उपन्यास

धोखे की टट्टी

सन् १९०१ में 'फूल में कांटा' उपन्यास द्वारा यह दिखाकर कि 'लाड़ चाव से बालकों के लड़के कहां तक बिगड़ जाते हैं' 'और जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है' ग्वालियर निवासी बाबू रामजीदास ने दूसरा सामाजिक उपन्यास 'धोखे की टट्टी' सन् १९०७ में लिखा। 'निवेदन' में लेखक ने बतलाया है कि 'अंग्रेजी में बहुत से ऐसे उपन्यास मौजूद हैं जिनमें विद्योपार्जन के समय किस प्रकार विद्यार्थियों को रहना चाहिए—यह बतलाया गया है। परन्तु हिन्दी भाषा में इनका अभाव है। किसी भी समाज के लिए विद्यार्थी-जीवन बड़ा महत्वपूर्ण है इस अवस्था में जो आदतें पड़ जाती हैं वे आमरण नहीं छूटतीं जो लोग इस जीवन को चतुराई से बनाते हैं वे भविष्य में सुखी रहते हैं। इसी लिए लेखक ने 'एक छोटी सी पुस्तक अपने विद्यार्थी भाइयों को भी मनोरंजन रूप में भेंट की है। जिससे वे उत्साहित होकर नायक का अनुकरण करते हुए जीवन को ईमानदारी और परिश्रम से सुन्दर बनाने में प्रयत्नशील बनें।

'धोखे की टट्टी' १४१ पृष्ठ का छोटा-सा उपन्यास है। यह १२ परिच्छेदों में विभक्त है, प्रत्येक परिच्छेद का गद्य या पद्य में शीर्षक भी लिख दिया गया है। समस्त कथानक युवक विद्यार्थियों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करता है। कथा का मुख्य क्षेत्र कालेज जीवन है। कैलाश मदन और नगेन्द्र तीनों सहपाठी थे। कैलाश गरीब घर का परन्तु परिश्रमी और सच्चरित्र था। नगेन्द्र बड़े घर का परन्तु अहंकारी एवं नीच था। कैलाश नायक है और नगेन्द्र खलनायक दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। कैलाश सदा कक्षा में प्रथम आता है फिर भी विनयशील निरभिमान एवं गम्भीर है। नगेन्द्र सदा कैलाश से जलता है परन्तु कभी भी उसकी बराबरी न कर सका। मदन दोनों का सुपरिचित था पहिले वह नगेन्द्र से अधिक प्रभावित था परन्तु नगेन्द्र को धोखे की टट्टी समझने के बाद उसकी घनिष्ठता कैलाश से हो गई।

कालेज जीवन समाप्त होने पर दो घटनाएं और महत्वपूर्ण हैं। कैलाश को विलायत जाने का वजीफा मिला और अपने गुणों के कारण उन्नति करते करते वह डिप्टी कलक्टर बन गया। नगेन्द्र घूम-घूम कर भी सौ रुपये मासिक की नौकरी पर पड़ा रहा। जो स्पर्धा और द्वेष छात्र जीवन में था वह अन्त तक चलता रहा और नगेन्द्र ने भविष्य में भी उसी प्रकार के छल-कपटों से काम लिया। दूसरी घटना विवाह की है। मदनमोहन की बहिन सरस्वती उपन्यास की नायिका है। प्रारम्भ में वह नगेन्द्र से प्रभावित थी परन्तु नगेन्द्र का व्यवहार अच्छा न देखकर वह उससे घृणा करने लगी अन्त में कैलाश के साथ उसका विवाह हो गया। यह नगेन्द्र के जीवन का सबसे बड़ा आघात और कैलाश के सद्गुणों का दूसरा पुरस्कार था।

कैलाशचन्द्र उपन्यास का नायक है। जगत-चक्र पर कठिनाइयों के आघात से कुभावों को बचाते हुए, आदर्श को जिस व्यक्तित्व में ढाल दिया है वही कैलाशचन्द्र

है। उसके 'पिता नहीं माता नहीं कोई कुटुम्ब नहीं'[1]। गंभीरता परिश्रम और सचाई उसके जीवन की कर्त्री है। मदन के परिवार से उसका परिचय हुआ और उसको स्नेह मिला — "आप मिले मुझ पर प्रेम बढ़ाने लगे धीरे-धीरे मित्रता बन्धुभाव में बदल गई आपने मेरा उत्साह बढ़ाया सच्चा साथ दिया और मेरे हृदय को जीवन भर के लिए हृतज्ञ बना दिया"[2]। कैलाश का जीवन दुर्बलताओं से रहित एक पूर्ण आदर्श है। लेखक ने उन कमियों का चित्रण नहीं किया जो ऐसे सम्पन्न जीवन में स्वत ही उत्पन्न हो जाती हैं। दुर्गुणों के लिए तो नरेन्द्रनाथ का सृजन है। वह धनी माता-पिता का अहंकारी पुत्र है। बाहरी बनावट से वह अपने को कैलाश से बढ़कर दिखाता है परन्तु सत्य के सामने असत्य टिकता नहीं 'भाग भेद खुल जाता है और नरेन्द्र की सब चालाकियाँ निष्फल'[3] हो जाती हैं। उसकी बोलने की टट्टी एकदम टूट जाती और उसके पाप का घड़ा शीघ्र भर जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका व्यक्तित्व स्वाभाविक है। पारिवारिक सम्पन्नता ने उसको अहंकार तो सिखाया परन्तु तदनुकूल परिश्रम नहीं। इसीलिए उसके जीवन में पतन और कष्ट है जो जीवन भर बढ़ती ही रहती है। दोनों पात्र आदर्श हैं, अपने-अपने गुणों में। अन्तर्द्वन्द्व किसी के भी जीवन में नहीं मिलता।

दो पुरुष-पात्रों के अतिरिक्त किसी तीसरे का चरित्र महत्त्वपूर्ण नहीं है। मदन और सरस्वती का कथानक में विशेष स्थान होते हुए भी उनका चित्रण लेखक को अभीष्ट नहीं है। नायक और खलनायक के स्नेह-सम्बन्ध में मदन बिन्दु है तथा प्रणय सम्बन्ध में मदन की बहिन सरस्वती। प्रेम-धर्म में प्रसार और प्रतिक्रियात्मक ईर्ष्या मदन को लक्ष्य करते हुए सरस्वती में पर्यवसित हो जाते हैं। मदन और सरस्वती एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। दो पुरुषों की प्रतिद्वन्द्विता के लिए, मदन स्नेह-बिन्दु है और सरस्वती प्रणय-बिन्दु। मदन वह बीज है जिसका फल सरस्वती है। जो ईर्ष्या मदन के साथ कैलाश के स्नेह से जगी वह सरस्वती के साथ कैलाश का विवाह होने पर परिपक्व हो गई। लेखक ने इन सम्बन्धों का विकास नहीं दिखाया एक-सा भावी-भाव चित्रित कर दी है। सरस्वती के मन का द्वन्द्व मनोविज्ञान का अभीष्ट होता परन्तु लेखक ने उसकी उपेक्षा कर दी है।

इस उपन्यास में सामयिक प्रभाव है। तत्कालीन मनोवृत्ति के दर्शन स्थिति की योजना में होते हैं। वर्णन बड़ा कुतूहल-वर्धक है। अंग्रेजी हिन्दी और संस्कृत के पद्य बीच-बीच में मनोरंजन एवं नीति के लिए आ गये हैं। धर्म और पाप का संघर्ष एवं धर्म की जय तथा पाप की पराजय युग के अनुकूल ही चित्रित है। अन्तर्द्वन्द्व रहित आदर्श चरित्र इस उपन्यास के प्राण हैं। लेखक ने अपने प्रथम उपन्यास के समान इसमें भी वातावरण बड़ा स्वच्छ रखा है। उस युग में अधर्म का चित्र प्रायः जनता में आकर्षक बन जाता था। रामलोचन ने अधर्म का चित्र नहीं बनाया उसका संकेत कर दिया था। इसलिए यह रचना युवकों का सुधार ही करेगी उन पर कोई कुप्रभाव नहीं

1. पृ० १०७ 2. पृ० १०८ 3. पृ० १४२

जाग सकती ।

लेखक ने इस उपन्यास का उद्देश्य निवेदन में स्पष्ट कर दिया है। उपन्यास के प्रथम में कुछ सामाजिक समस्याओं पर भी प्रकाश है। भूत-चुड़ैल के भय को लेखक मेसमेरिज्म के प्रभाव द्वारा समझाता है। जिस प्रकार मेसमेरिज्म के प्रभाव में व्यक्ति के मन में नई-नई वस्तुएं बन जाती हैं उसी प्रकार भूत चुड़ैल आदि मन की कल्पना हैं जहाँ मन हो वहाँ जाकर देख लेना चाहिये जिससे मन से भय का निवारण हो सके (पृ० ८)। दूसरा प्रस्ताव 'ब्याह शादी में बुरे गीतों का गाना और बाजार में सीठने गाते हुए' जिनसमें के विरोध में है आर्थिक प्रश्न को लेकर रामजीदास ने जापान की प्रशंसा की है 'जापान ही एक ऐसा देश है जहाँ सुन्दरता कमखर्ची और आराम तीनों जुटे हैं'। लेखक ने शिक्षा का उद्देश्य अपने देश के कला-कौशल व्यापार व्यवसाय अध्यवसाय का बढ़ाना। अपने शरीर, कुटुम्ब की चिन्ता के साथ अपनी जन्मभूमि की चिन्ता रखना[1] माना है। अंग्रेजी लेखकों के उद्धरण देकर उपन्यासकार ने यह विश्वास प्रकट किया है कि वैवाहिक जीवन का सुख पारस्परिक सन्तुलन में है पति और पत्नी एक-दूसरे को सुख देकर ही स्वयं सुखी हो सकते हैं और उनका सम्मिलित सुख समाज और राष्ट्र को सुखी बना सकता है पत्नी को चाहिए कि वह पति के सदा अनुकूल रहे और पति पत्नी का सदा ध्यान रखते हुए सब प्रकार की व्यवस्था करे। (पृ० ११४)।

इस उपन्यास की भाषा सरस साहित्यिक एवं प्रवाहमयी है। लेखक ने कला की दृष्टि से इसे 'मनोरंजन' से पूर्ण बनाने के साथ-साथ गम्भीर रचना में सफलता प्राप्त की है। बीच-बीच में लेखक पाठकों से बातें भी करता जाता है जो सामान्यतः आकर्षक कही जा सकती है

'क्या करूँ मालूम न था कि ऐसा मकान मिलेगा नहीं तो छोटी 'कमरा' लाकर उसकी तस्वीर उतार लेता—और पाठकगण आप उस कोठी के बाहरी हिस्से का अपने हृदय में ही फोटू खींच लीजिए। (पृ० ७)

ऐसे स्थल अनेक हैं जो केवल वर्णन के लिए आये हैं और वर्णन उभार का नहीं प्रकृति का है। लेखक यह मान कर चला है कि उसके पाठक अंग्रेजी जानते होंगे इसलिए अंग्रेजी कवियों के उद्धरण उसने यत्र-तत्र दे दिये हैं। युग की नाटकीयता इस उपन्यास को भी प्रभावित कर रही है।

'फूल में काँटा' नामक उपन्यास की अपेक्षा 'भोले की टट्टी' अधिक विकसित रचना है। इसका कथानक अधिक सामान्य है और नायक आदि का जीवन समाज में अधिक प्रतिबिम्बित मिलता है। इस उपन्यास में दो भाइयों का तुलनात्मक जीवन या इसमें दो महत्ताएं थीं। उसमें एक पारिवारिक कहानी थी दूसरा सामाजिक। इस उपन्यास का कथानक अधिक परिमार्जित रुचि का द्योतक है कल्पना को अधिक विस्तृत क्षेत्र यहाँ मिल पाता है। यहाँ नवीन युग का प्रभाव अधिक है और लेखक उनका

१ पृ० ११

२ पृ० ११२

तिरस्कार नहीं करता। इसका नायक उच्च शिक्षा प्राप्त कर विदेश जाता है और लौट कर देशोन्नति का सफल प्रयत्न करता है। साथ ही उसने सरस्वती के साथ नवीन ढंग का विवाह किया यद्यपि प्रस्ताव माता-पिता का है परन्तु भाई-बहिन पहले से ही इस विवाह के लिये योजना बना रहे थे। इस प्रकार यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि उपन्यास-लेखक 'नई रोशनी' के विरोधी नहीं थे। सरस्वती को वेश्या बनाकर कैलाश और नगेन्द्र का स्थायी प्रतिद्वन्द्विता सुन्दर मनोवैज्ञानिक प्रयास है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास

अधखिला फूल

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' या 'देवबाला' (सन् १८९९) उपन्यास में सवर्णता के कारण सम्पन्न अनमेल विवाह के कुपरिणाम चित्रित करने के बाद पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने दूसरा मौलिक उपन्यास 'अधखिला फूल' (सन् १९०७) लिखा। सन् १९१४ में यह उपन्यास 'दूसरी बार' छपा था। इसमें दो सौ पचास पृष्ठ और सत्तावन पंखड़ियाँ हैं। उपाध्याय जी के ये दोनों उपन्यास सामाजिक हैं परन्तु इनका मुख्य उद्देश्य भाषा की समता है।[1] 'ग्रियर्सन की अंग्रेजी'[2] भूमिका में इसी तथ्य का समर्थन होता है। प्रथम उपन्यास के समान इसमें भी प्रायः दो प्रकारों के तत्सम शब्दों का प्रयोग है अपवाद-रूप में तीन प्रकारों के दो-चार शब्दों का। 'अधखिला फूल' में तद्भव शब्द 'अचरज नेह बयार निहोरा सुघर, सजीला अमीमी बापुरे, सुघराई, सरवस अनोखा निबारती मेरे बनेरे घेरे इत्यादि' का प्रयोग है। भाषा का एक सामान्य उदाहरण देखा जा सकता है —

जिन जीवों की कमाई पूरी हो जाती है जिनका पुन्न चुक जाता है वह सब फिर सरग से धाकर धरती में जनमते हैं ऐसे ही जीव यह सब रात के टूटते हुए तारे हैं। (पृ० ४७)

इस उदाहरण में 'पुन्न' 'सरग' और 'जनमते' ध्यान देने योग्य हैं। इनके तत्सम रूप बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। 'अधखिला फूल' उपन्यास से पच्चीस वर्ष पूर्व 'परीक्षा गुरु' में इन तथा इनके समकक्ष शब्दों का तत्सम प्रयोग है ग्यारह वर्ष बाद 'राधाकान्त' में भी इनको तत्सम रूप में अपनाया गया। फिर भी अयोध्यासिंह ने ठेठपन की प्रतिज्ञा के कारण इनका तद्भव रूप स्वीकार किया। पर साहित्यिक भाषा के लिए उपाध्याय जी का यह आदर्श मान्य नहीं हो सकता। भाषा को जान-बूझकर कठिन न बनाना चाहिए परन्तु प्रत्येक 'बाहरी' शब्द को छाँट-छाँट कर बाहर निकाल देने से भी यह विकृत हो जाती है।

---

१ [illegible]
[illegible]।

२ भूमिका पृ० १४

अपराजिता फूल' उपन्यास नायिका प्रधान है। सुन्दरी देवहूती के रूप पर रीझ कर लम्पट कामिनी मोहन ने वासमती मालिन की सहायता से यह प्रपंच रचाया कि यदि एक मास तक नियमपूर्वक देवहूती प्रतिदिन एक अपराजिता फूल देवी पर चढ़ावे तो उसका प्यारा भाई रोगमुक्त हो सकता है। फूल अपराजिता 'सूरज डूबते-डूबते' ही मिल सकता है। लम्पट खलनायक की यह चाल थी जो अन्त में सफल न हुई। देवी को प्रसन्न करने की बात के आधार पर उपन्यास का नाम भी 'अपराजिता फूल' पड़ गया। कथा में उत्सुकता जगाने के लिए और उपन्यास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना पर आश्रित होने के कारण यह नाम उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस उपन्यास का कथानक सरल एवं सीधा है। पार्वती का पति वृद्ध था उस के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री देवहूती युवती थी परन्तु उसका पति देवस्वरूप कहीं चला गया था। देवहूती पर दुष्ट कामिनी मोहन कुदृष्टि रखता था उसकी सहायक वासमती मालिन थी। एक बार देवहूती का प्रिय भाई बहुत रुग्ण हुआ। पार्वती ने पति के मना करने पर भी ओझा को बुलाकर जोर-टटका दिखाया। वासमती ने ओझा से बातें कर ली थीं। इसलिए ओझा ने बताया कि यदि देवहूती प्रतिदिन एक अपराजिता फूल मन्दिर में चढ़ावे तो एक मास में उसका भाई स्वस्थ हो सकता है। देवहूती सन्ध्या समय जा कर फूल चढ़ाने लगी। वासमती ने देवहूती को बातों में फंसाया "तुम्हारा जन्म यों ही निकला जाता है, तुम्हारा यह रूप यह जीवन। और कोई प्यार करने वाला नहीं। जैसा चाहिए वैसा आदर नहीं"[1]। "देवहूती यह बात से नहीं बनी है जो उसको भी है कहाँ तक वह इन फन्दों से बच सकती"[2]। एक दिन एक फूल को सूँघ कर देवहूती अचेत हो गई, कहारों ने आकर उसको पालकी में डाला और एक कोठरी में पहुँचा दिया। परन्तु अन्त में 'धरम का बेड़ा पार'[3] हुआ। वासमती तड़प-तड़प कर मर गई। कामिनीमोहन के भी अन्तिम दिन आ गये। मरते हुए उसने प्रायश्चित किया "मैं पहले देवहूती को प्यार की डीठ से देखता था पर आज मैं उसको एक देवी समझता हूँ"[4] देवहूती अपनी माँ और भाई के साथ आकर घर में रहे और फूलकुँवर और वह मिलकर सारी सम्पत्ति सम्हाल करें, मेरे जी की प्यारी चाह यही है"[5]। देवस्वरूप भी घर वापिस आ गये और उन्होंने गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए समाज-हित के अनेक काम किये।

मुख्य पात्र तीन हैं—देवहूती देवस्वरूप और कामिनीमोहन। जैसे नाम हैं वैसे ही गुण भी। दोनों पुरुष-पात्र अपने-अपने गुणों की साक्षात् मूर्ति हैं। देवस्वरूप वस्तुतः देव-स्वरूप है वह संसार में अधिक अनुरक्त न होने के कारण घर छोड़कर चला गया था परन्तु प्रेरणा प्राप्त करके वह यथावसर वापिस आ जाता है। देवस्वरूप बहुत दिन इस धरती पर रहे उनके हाथों देश का देश के लोगों का बहुत कुछ भला हुआ देवहूती

१ पृ० ७२ २ पृ० ८२ ३ पृ० १०७
४ पृ० १०० ५ पृ० १०५

तिरस्कार नहीं करता। इसका नायक उच्च शिक्षा प्राप्त कर विदेश जाता है और लौट कर देशोत्पत्ति का सफल प्रयत्न करता है। साथ ही उसने सरस्वती के साथ नवीन ढंग का विवाह किया यद्यपि प्रस्ताव माता-पिता का है परन्तु भाई-बहिन पहले से ही इस विवाह के लिये योजना बना रहे थे। इस प्रकार यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि रामजी-दास 'नई रोशनी' के विरोधी नहीं थे। सरस्वती को केन्द्र बनाकर कैलाश और नगेन्द्र का स्वाभी प्रतिद्वन्द्विता सुन्दर मनोवैज्ञानिक प्रयास है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास

अधखिला फूल

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' या 'देवबाला' (सन् १८९९) उपन्यास में सफलता के कारण सम्पन्न अनमेल विवाह के कुपरिणाम चित्रित करने के बाद प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने दूसरा मौलिक उपन्यास 'अधखिला फूल' (सन् १९०७) लिखा। सन् १९१५ में यह उपन्यास 'दूसरी बार' छपा था। इसमें दो सौ अठारह पृष्ठ और सत्ताइस पंखड़ियाँ हैं। उपाध्याय जी के ये दोनों उपन्यास सामाजिक हैं परन्तु इनका मुख्य उद्देश्य भाषा की क्षमता है।[1] जार्ज ग्रियर्सन की अंग्रेजी[2] भूमिका से इसी बात का समर्थन होता है। प्रथम उपन्यास के समान इसमें भी प्रायः दो अक्षरों के तद्भव शब्दों का प्रयोग है अपभ्रंश-रूप में तीन अक्षरों के या-चार शब्दों का। 'अधखिला फूल' में तद्भव शब्द 'ऊमस मेह बयार, निहोरा सुघर, सलोना अनोखी बापुरे, सुघराई, सरबस सलोना निबारती मेरे बसेरे बेरे इत्यादि' का प्रयोग है। भाषा का एक सामान्य उदाहरण देखा जा सकता है —

जिन चीजों की कमाई पूरी हो जाती है जिनका पुन्न चुक जाता है वह सब फिर सरग में आकर धरती में जनमते हैं ऐसे ही जीव यह सब रात के टूटते हुए तारे हैं। (पृ ४७)

इस उद्धरण में 'पुन्न' 'सरग' और 'जनमते' ध्यान देने योग्य हैं। इनके तत्सम रूप बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। 'अधखिला फूल' उपन्यास से पच्चीस वर्ष पूर्व 'परीक्षा गुरु' में इन तथा इनके समकक्ष शब्दों का तत्सम प्रयोग है ग्यारह वर्ष बाद राजाकान्त में भी इनको तत्सम रूप में अपनाया गया। फिर भी अयोध्यासिंह ने ठेठपन की प्रतिज्ञा के कारण इनका तद्भव रूप स्वीकार किया। आज साहित्यिक भाषा के लिए उपाध्याय जी का यह आदर्श मान्य नहीं हो सकता। भाषा को जान-बूझकर कठिन न बनाना चाहिए परन्तु प्रत्येक 'बाहरी' शब्द का छाँट-छाँट कर बाहर निकाल देने से भी वह विकृत हो जाती है।

---

१ दी ठैम स्टौरोटाइपी हुए टैड बा इक टेटो इ ताम्प फोनीटैक्टी एवड पद दि ईव ग्राम स्टो-न्सी इन हिन्दी सिटाम्प ट्रैनिंग इ भूक पोरैस वर्ष स।

२ भूमिका पृ० ११

'मधखिला फूल' उपन्यास नायिका प्रधान है। सुन्दरी देवहूती के रूप पर रीझ कर लम्पट कामिनी मोहन ने वासमती मालिन की सहायता से यह प्रपंच रचाया कि यदि एक मास तक नियमपूर्वक देवहूती प्रतिदिन एक मधखिला फूल देवी पर चढ़ावे तो उसका प्यारा भाई रोगमुक्त हो सकता है। फूल मधखिला सूरज डूबते-डूबते ही मिल सकता है। लम्पट खलनायक की यह चाल थी जो अन्त में सफल न हुई। देवी को प्रसन्न करने की शर्त के आधार पर उपन्यास का नाम भी 'मधखिला फूल' पड़ गया। कथा में उत्सुकता जगाने के लिए और उपन्यास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना पर आश्रित होने के कारण यह नाम उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस उपन्यास का कथानक सरल एवं सीधा है। पार्वती का पति वृद्ध था उस के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री देवहूती युवती थी परन्तु उसका पति देवस्वरूप कहीं चला गया था। देवहूती पर दुष्ट कामिनी मोहन कुदृष्टि रखता था उसकी सहायक वासमती मालिन थी। एक बार देवहूती का प्रिय भाई बहुत रुग्ण हुआ। पार्वती ने पति के मना करने पर भी ओझा को बुलाकर जोर-टटका दिखाया। वासमती ने ओझा से बातें कर ली थी। इसलिए ओझा ने बताया कि यदि देवहूती प्रतिदिन एक मधखिला फूल मन्दिर में चढ़ावे तो एक मास में उसका भाई स्वस्थ हो सकता है। देवहूती सन्ध्या समय जा कर फूल चढ़ाने लगी। वासमती ने देवहूती को बातों में फंसाया 'तुम्हारा समय यों ही निकला जाता है तुम्हारा यह रूप यह जीवन! और कोई प्यार करने वाला नहीं! जैसा चाहिए वैसा आदर नहीं'[1]! 'देवहूती लहू मांस से नहीं बनी है जो उसको भी है "कहां तक वह इन फन्दों से बच सकती"[2]। एक दिन एक फूल को सूंघ कर देवहूती अचेत हो गई कहारों ने आकर उसको पालकी में डाला और एक कोठरी में पहुंचा दिया। परन्तु अन्त में 'धरम का बेड़ा पार'[3] हुआ। वासमती तड़प-तड़प कर मर गई। कामिनीमोहन के भी अन्तिम दिन आ गये। मरते हुए उसने प्रायश्चित्त किया "मैं पहले देवहूती को प्यार की डीठ से देखता था पर आज मैं उसको एक देवी समझता हूं"[4] देवहूती अपनी मां और भाई के साथ जाकर घर में रहे और फूलेफलें और वह मिलकर सारी नगर सम्हाल करे, मेरी जी की प्यारी चाह यही है"[5]। देवस्वरूप भी घर वापिस आ गये और उन्होंने गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए समाज-हित के अनेक कार्य किये।

प्रधान पात्र तीन हैं—देवहूती देवस्वरूप और कामिनीमोहन। जैसे नाम हैं वैसे ही गुण भी। दोनों पुरुष-पात्र अपने-अपने गुणों की साक्षात् मूर्ति हैं। देवस्वरूप वस्तुतः देव-स्वरूप है वह संसार में अधिक अनुरक्त न होने के कारण घर छोड़कर चला गया था परन्तु प्रेरणा प्राप्त करके वह यथावसर वापिस आ जाता है। देवस्वरूप बहुत दिन इस धरती पर रहे उनके हाथों देश का देश के लोगों का बहुत कुछ भला हुआ देवहूती

---

१ पृ० ७५ २ पृ० ८२ ३ पृ० १०४
४ पृ० १०० ५ पृ० १०५

भी उनकी छाया थी जितने भले काम देवस्वरूप ने किये उन सबमें उसका हाथ था'[1]। वस्तुतः घर से चले जाने के कारण देवसरूप कथा में एक-दो बार ही छिपकर पाठक के सामने आते हैं। इनका महत्व तो नायिका के उत्तर-चरित में ही है, परन्तु प्रसन्नायक आदि से अन्त तक कमालके की पूरी बना रहा है। लेखक ने उसके विविध चरित्र का प्रकाशन नहीं किया परन्तु नायिका के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बनाकर उसके व्यक्तित्व की सच्ची छाया प्रस्तुत कर दी है। कामिनीमोहन को 'सभ्यसमाज' का प्रतिनिधि कहना चाहिए। वह लम्पट है और बहु-बेटियों को फँसा कर उनका धर्म भ्रष्ट करने में ही अपने जीवन का सफल मानता है। मालिन वासमती और बाम्हा हरमाल उसके विषय तक है। कई बार कामिनीमोहन सफल रहा होगा परन्तु देवहूती के साथ उसका प्रयत्न सफल परभित हुआ। प्रायश्चित करते हुए उसका कायाकल्प हुआ और मृत्यु की सकभोर से काई के समान मलिनता के हट जाने पर उसका चरित्र निर्मल जल के समान स्वच्छ दिखाई पड़ने लगा। दुष्ट पात्र में सुधार की संभावना यद्यपि दैवयोग से चित्रित की गई है फिर भी चरित्रचित्रण का यह एक स्वस्थ प्रयास है।

देवहूती उपन्यास की नायिका है। अगर उसमें सीता की एक कला मानें तो देवसरूप में राम की और कामिनीमोहन में रावण की एक-एक कला माननी पड़ेगी। देवहूती में मध्ययुगीन नायिका की भी कुछ छाया है पति के प्रवास-काल में लम्पट पुरुष उसको अपने चंगुल में फँसाना चाहता है। इन दो के अतिरिक्त नायिका में आधुनिकता भी है वह युवती है पहले उसके मनमें कामना का कुछ चिन्ह नहीं होता पीछे धीरे-धीरे उसकी एक भलक-सी दिखाई देती है'[2]। एक और कामिनीमोहन और वासमती उसको कुमार्ग पर ले जाना चाहते हैं दूसरी ओर पार्वती और प्रच्छन्न देवसरूप उसे साव धान करते हैं। भाई के प्रेम ने उससे पार्थिव के फूल का व्रत कराया परन्तु दुष्टों ने उस की दुर्बलता से लाभ उठाना चाहा। अन्त में देवहूती अपनि धारा-व्रत में सफल हो गई। उसके पुण्य से उसका वियुक्त पति वापिस आगया और वह सपरिवार सानन्द रहने लगी। लेखक ने दुर्बलता को अंकित कर देवहूती को मानवी दिखा दिया है परन्तु व्रत में सफल सिद्ध होकर वह देवी बन गई है दुष्ट कामिनीमोहन ही सर्वप्रथम उसको एक देवी समझता' है और 'उसके आगे मत्था नवाता'[3] है। यदि स्त्री पतिव्रता है तो उस पर संकट सफल नहीं हो सकता पतिव्रता के तेज से दुष्ट का भी कायाकल्प सम्भव है।

प्रस्तुत रचना एक सोद्देश्य सामाजिक उपन्यास है। नायिका-प्रधान होने के कारण इसमें नारी-जीवन की समस्या का ही अंकन है। लेखक का विश्लेषण है कि नारी मानवी है इसीलिए उसमें दुर्बलताओं का निवास स्वाभाविक है, दुर्बलता पर विजय केवल पतिव्रत की शान से ही संभव है विजयिनी बनकर नारी देवी बन जाती है तब समस्त सिद्धियाँ (पति प्राप्ति आदि) उसका अनुकरण करती है ऐसी देवी देश और समाज का भूरि-भूरि कल्याण कर सकती है—राष्ट्र को ऐसी ही देवियों की

१ पृ० ९८
२ पृ० १७७
३. पृ० १४५

भावसमन्वता है। 'प्रियप्रवास' की राधा भी ऐसी ही बनी है। यौवन और पति का चिरप्रवास फिर घरेलू परिस्थिति मन को चंचल करने के लिए पर्याप्त है। उस बढ़ती हुई प्यास में ओस के चमकीले बिन्दु मन को क्षण भर के लिये बुझा सकते हैं। जिसने अब तक धर्म-पालन किया है उसकी अन्तरात्मा किसी न किसी माध्यम से पतन को चेतावनी देती हुई और प्राय गिरने से बचा लेती है। यही व्रत है जिसके पुरस्कार स्वरूप पति भी लौट आता है आकर्षण लुप्त हो जाते हैं धन-धान्य की प्रचुरता हो जाती है। 'पति अनुकूल सदा रहु सीता' ही लेखक का आदर्श है यदि उसने क्षण भर को भी पति की आज्ञा का उल्लंघन किया तो उसपर कष्ट आ सकता है, पार्वती के मन में पछतावा है जो अपने पति की बात नहीं मानती उसका भला कभी नहीं होता पति ने कहा था जिस घर मौसा का पाँव पड़ा वहीं घर चौपट हुआ।¹

इस उपन्यास का दूसरा उद्देश्य धार्मिक अन्धविश्वासों का कुपरिणाम दिखाना है। गोस्वामी किशोरीलाल के समान उपाध्याय अयोध्यासिंह यह तो नहीं मानते कि समाज में जो कुछ विद्यमान है वह ठीक है परन्तु उनका विश्वास है कि हमारी शास्त्रीय परम्पराएँ स्वस्थ एवं हितकारिणी हैं उनके विपरीत लौकिक परम्पराओं में काफी अनर्थक मसाला भर गया है। जब तक संस्कार न होगा समाज सुधर नहीं सकता। पतिव्रत शास्त्रीय परम्परा है इसके बिना नारी का हित सम्भव नहीं। परन्तु मन्दिर और तीर्थ ओझा और सयाने परम्परा से विकृत हो चुके हैं। ओझा तो जहाँ जायगा घर को बर्बाद कर देगा। मन्दिरों में पत्थर की देवी न मानव (देवहूती) के हृदय को समझ पाती है और न मानव (कामिनीमोहन) के मन को। समाज-कल्याण के लिए हमें पत्थर की देवी (फूलदेवी) के स्थान पर हाड़-माँस की देवी (देवहूती) की स्थापना करनी होगी पति को ईश्वर मानने वाली मानवी ही इस जगत के लिए पूजनीया 'देवी' है।

'अधम का बेड़ा पार'² तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि सज्जन को पुण्य का पुरस्कार मिलने के साथ-साथ दुर्जन को पाप का दण्ड न मिले। इसीलिए खलनायक और दूती का अन्त करुण है। मृत्यु के अंजन से कामिनीमोहन की आँखें खुल गईं क्योंकि उसके संस्कार अच्छे थे उसका सुधार लेखक की उस परम्परा में नैतिक योजना है सम्भव है इस योजना की प्रेरणा देवहूती को अतुलित सम्पत्ति की स्वामिनी बनाना ही हो। बासमती दूती-साहित्य-परम्परा से आई है मालिनें दूती रूप में बड़ी योग्य मानी गई हैं इसका नाम ही इसकी जाति का सूचक है—(बासमती)। उसके चरित्र से जो 'बास' आती है वह 'सुवास' नहीं दुर्गन्ध है। उसकी तुलना 'अपरा' उपन्यास की 'पत्नी' से की जा सकती है। लेखक ने इसके अन्त को दुर्गन्धिमय नहीं दिखाया शायद इसलिए कि इसके कुकृत्य कभी सफल नहीं हुए, खलनायक की अधमयोजना कभी कहीं उपन्यास में यथार्थ मनःरूप जो नहीं है।

---

१ पृ ८८ २ पृ २०४

मनसा वाचा और कर्मणा तीनों ही प्रकार से जैसा कर्म हम करते हैं वैसा ही तो उसी अनुपात हमें उसका फल भोगना पड़ता है।

उपन्यास रचना और वैचारिक दृष्टिकोण की दृष्टि से इस उपन्यास में कतिपय विशेषताएँ हैं। लेखक की दृष्टि में साहित्य-निर्माण का लक्ष्य भाषा एवं समाज का सुधार है। उसका उपन्यास शिष्ट एवं सभ्य समाज के लिए है उसको आदर्श की ओर ले जाने वाला उसका मनोरंजन करके उसे पथ भ्रष्ट करने वाला नहीं। इसलिए भारतीय नारी सीता (या राधा) की छाया से ही नायिका वैजयन्ती का निर्माण उसने किया है। वह कथा के माध्यम से समाज विशेषतः हिन्दू नारी को सन्मार्ग की ओर ले जाना चाहता है। कथा में भी यह उपन्यास अपने काल से आगे बढ़ा हुआ है। इसमें भाषा की एक निश्चित नीति है। अन्य लेखकों के समान संस्कृत आदि के उद्धरण या ब्रज भाषा की कविताएँ इस रचना में नहीं हैं। कथोपकथन कम है वर्णन अधिक। लावनियों और गीतों की योजना अपनी विशेषता है। कथाकार की अपेक्षा लेखक का कवि-रूप यहाँ अधिक चमकता है वर्णन बड़े रम्य एवं भावुकता-पूर्ण हैं। अन्तिम अध्याय केवल आशीर्वाद के लिए है कथा के हेतु नहीं। वर्णनों का बाहुल्य इस उपन्यास को सरसता प्रदान कर सका है।

रामप्रसाद सत्याल के उपन्यास

किरणशशि

घटनात्मक उपन्यास प्रेमलता लिखने के बाद बनारस के पुरोहित रामप्रसाद सत्याल[1] ने सन् १९०१ में 'किरण शशि' नाम का एक 'औपदेशिक उपन्यास' लिखा। ८२ पृष्ठ और दस परिच्छेद की यह कहानी आत्मकथात्मक शैली में कही गई है। नायक मनमोहन के जन्म से लेकर सन्यास ग्रहण तक की इस कथा में स्त्रियों के भिन्न-भिन्न रूप चित्रित किये गये हैं और यह संकेत किया गया है कि पुरुष के जीवन की कुञ्जी रहस्यमयी स्त्री के हाथ में है।

काशीवासी नारायणसिंह पत्नी की मृत्यु के बाद कुछ विरक्त रहने लगे। पुत्र मनमोहन के बहुत कहने पर भी काफी दिन तक उन्होंने विवाह नहीं किया। परन्तु पटना निवासी महेशनाथ की सम्मति मानकर उन्होंने चुपचाप महाश्वेता से विवाह कर लिया। मनमोहन अपने बालसहचर मन्मथकुमार के साथ बम्बई गया हुआ था। वहाँ कुमारी 'किरण सुन्दरी' पर वह मोहित हो गया किरण सुन्दरी ही उपन्यास की मुख्य नायिका 'किरण शशि' है। किरण शशि भी नायक पर मुग्ध थी। कुछ समय बाद पुरुष-वेष में उसने नायक की सहायता की और असली रूप प्रकट कर उससे विवाह कर लिया। बम्बई में नायक पर दूसरी स्त्री उर्वशी मोहित हो गई, परन्तु नायक के उपदेश से उसको ज्ञान हुआ और वह सन्यासिनी बन गई, सन्यासी होने पर नायक उससे

---

१ सत्याल' अथवा सन्याल

मिलता है। नायक के जीवन में तीसरी स्त्री सुकेशी आई जो उसके अभिन्न मित्र मन्मथकुमार की अनुजा थी। सुकेशी के माता-पिता उसका विवाह नायक से कर देना चाहते थे परन्तु सुकेशी विवाह किसी और प्रेमी से करना चाहती थी और नायक के साथ भी अपना सम्बन्ध बना रखने की इच्छुक थी। सुकेशी को उसके उस प्रेमी¹ ने छोड़ दिया तब वह नायक की पत्नी बनने को आई परन्तु नायक ने उसे स्वीकार न कर के किरणशशि से विवाह किया। इस पर एक दिन सुकेशी ने नायक पर छुरी से प्रहार किया जिसको बीच में सहकर किरणशशि ने प्राण त्याग दिये। इन घटनाओं से नायक का मन विरक्त हो गया और वह सन्यासी होकर बदरीनारायण चला गया।

यह उपन्यास एक युवक के भाग्याधीन अनुभवों का वर्णन है। चार स्त्रियां उस के भरे-पूरे जीवन को यहां तक लाने में कारण बनीं। सबसे प्रथम नायक की सौतेली माता महाश्वेता है जिसने अपने पति को भी तंग कर रखा है नायक पर वह चोरी का अपराध लगाती है अन्त में सारी सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त करके वह उत्पात से हट जाती है। वह उस स्त्री की प्रतिनिधि है जो ढलते हुए यौवन में किसी प्रौढ़ पुरुष को अपने चंगुल में फंसाकर उसके पहले पुत्र को सम्पत्ति से वंचित करने का जाल बिछाया करती है। नायक के जीवन में तीन स्त्रियां और आईं, वे तीनों नायिकाएं हैं। किरण शशि लेखक का आदर्श है वह जिस व्यक्ति पर मुग्ध हो गई उसको वर्षों तक खोजकर उसकी पत्नी बनती है और उसके लिए हंसते-हंसते अपने प्राण त्याग देती है। नारी का यह आदर्श अपनी उज्ज्वलता में अनुपम है। उर्वशी नारी का प्रभावपूर्ण चित्र है। यदि किरणशशि प्रवृत्ति है तो उर्वशी निवृत्ति नायक के लिए एक पत्नी है दूसरी शिष्या। जिस कामोत्तेजना से वह नायक के पास आई उसी वेग से उसने संसार त्याग दिया बद्रिकाश्रम में कहे गये उसके शब्द स्मरणीय हैं "जगमोहन! भाग्य में लिखा नहीं मिटता। चलो संसार की तरफ से चित्त हटा लिया अच्छा ही है। सच पूछो तो संसार के फन्दे में रहने वाले मनुष्य को कभी सुख नहीं मिलता है"¹। सुकेशी नारी का विकृत रूप है, उसकी कुछ कुछ तुलना कविवर मैथिलीशरण गुप्त की शूर्पणखा (पंचवटीकाव्य) से हो सकती है। उसके सिद्धान्त कितने भयावह हैं "जब स्त्रियां कुछ किया चाहती हैं तो उसे रोक ही कौन सकता है। प्यारे, शादी ही मैं क्या धरा है जो तुम घबरा रहे हो? शादी (दूसरे के साथ) होने पर भी मैं तो तुमसे इसी तरह मिला करूंगी।

चोरी का प्रेम मीठा और मन को लुभाने वाला होता है। मैं भी पढ़ी-लिखी हूं और सब कुछ जानती हूं द्रौपदी के पांच पति थे वह तो कभी भ्रष्टा नहीं कहलाई। मेरे तो उपेन्द्रचन्द्र और जगमोहन केवल दो ही हैं "²। अन्त में पापिष्ठा और प्रणयकाम्यिता सुकेशी नायक के प्राण लेने पर उतारू हो गई। शूर्पणखा के समान वह स्वच्छन्द है भीतर से कलुषित होते हुए भी अपनी माया के कारण रूप-सौन्दर्य में अतीव आकर्षणमयी है। इन तीन नायिकाओं का 'स्त्री चरित्र' ही उपन्यास का मुख्य वर्ण्य विषय है। नायक के शब्दों में ही नायिकाओं की तुलना देखने योग्य है 'जब मैं सुकेशी का

१ १ ७७ २ पृ० ४१

नहीं पढ़ाती तो कभी मुमकिन नहीं था कि आज चम्पा प्रशंसनीय चम्पा बन जाती"[१]। दूसरी ओर सुनहरी के शब्दों में 'यदि मेरे भाई रुपये के लालच में पड़कर तेरे वृद्ध पिता के साथ मेरा ब्याह न करते तो कदापि मेरी ऐसी दशा नहीं होती। मेरे कुकृत्यों को याद करके लोग वृद्ध विवाह करने से बचेंगे और तेरी सहनशीलता उदारता और क्षमापरायणता को देख सब अपनी पुत्रियों को शिक्षिता बनावेंगे"[२]। "जिस घर में स्त्री सुशिक्षिता और उत्तम स्वभाव वाली होती है उस घर में भी दु:ख के कारण आने पर भी प्राय: विशेष शोक व्याप्त नहीं होता।"[३]

वृद्ध-विवाह और अशिक्षा के अतिरिक्त लेखक ने प्रसंगवश कन्याविक्रय पर्दा और ओझा-स्याने आदि कुरीतियों पर भी प्रकाश डाला है। कन्या-विक्रय की स्वयं सुनहरी ने निन्दा की है। पर्दे के भीतर रहने वाली सुनहरी की दुर्दशा पर लेखक ने विचार किया है। सन्तान के लिए ओझा या स्याने की बात मान कर कलंकित होना मनोहरलाल के जीवन का अभिशाप है। लेखक का विश्लेषण है कि समाज की उन्नति शिक्षा से होगी और स्त्री-शिक्षा भारत को स्वर्गधाम बना सकती है। स्त्री को लिखने-पढ़ने सीने पिरोने कसीदा निकालने और उत्तम-भोजन बनाने की शिक्षा देने के अतिरिक्त आध घण्टे के लगभग सर्वदा व्यायाम भी"[४] किया जाना चाहिए।

इस उपन्यास में चार पात्र हैं—दो स्त्रियाँ और दो पुरुष। नायिका चम्पा और उसकी सौतेली माता सुनहरी दो वर्गों की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं एक वर्ग शिक्षिता उत्तरदायित्वपूर्ण महिलाओं का है दूसरा अशिक्षित कर्कशा स्त्रियों का। दो पुरुष पात्र बड़े दुर्बल एवं नगण्य हैं। इन पुरुषों के विषय में किसी ने कहा 'पुरुष इतने हल्के नहीं हो सकते'[५]। वृद्ध मनोहरलाल उसकी भार्या के हाथ में ऐसा नाचता है कि अन्त में अपना प्राण भी खो बैठता है उसकी निश्चेष्टता निन्दनीय है वह जान ही न सका कि पत्नी और पुत्री में से कौन सच्ची है और चम्पा का पति

यद्यपि बहुत दिनों से उसको प्रेम करता चला उससे अपनी

पत्नी की दशा सुधारने का यत्न नहीं किया में पढ़ने वाला

इतना निष्क्रिय क्यों है, यह लेखक ने भी से पूर्व

विषय में कुछ सोचना या कुछ कर सकना तक

हो सका जब तक कि चम्पा को पिता न

गई। शिक्षिता चम्पा जितनी कुशल है नि

का चित्रण करते हुए लेखक ने पुरुष क

चम्पा उपन्यास का लेखक

जन-समाज की दशा सुधारने का

कठिनाइयाँ कीर्तिकरण से आ गई हैं।

और वर्णन बहुत अधिक है। लेखक को

---

१ पृ ११ २. पृ ७७

४ पृ ७८ ५

उसके चित्रांकन में सूक्ष्मता है। घटनाओं का नियोजन विश्वसनीय है। उपदेश का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देकर भी लेखक की यह प्रथम कृति कथानक की दृष्टि से रोचक एवं प्रभावशालिनी है।

अन्य सुधारवादी उपन्यास

राधा

आर्यसमाजी दृष्टि से रचित उपन्यासों में 'राधा' उपन्यास का विशेष महत्त्व है। इसमें २४८ पृष्ठ और ६ परिच्छेद हैं। पौराणिक स्थान मथुरा एवं पौराणिक पात्र नन्दकिशोर, वासुदेव, राधा, कृष्ण आदि को नवीन सुधारवादी रूप इस कल्पित कथा के माध्यम से दिया गया है। नायिका राधा के व्याज से आर्यसमाजी महिला की कठिनाइयाँ और उनके आदर्श स्वरूप इस उपन्यास में वर्णित हैं। आद्यन्त लेखक की दृष्टि आदर्श चित्रण पर रही है। सुधारक आर्यसमाजी एवं पौराणिक सनातनी जीवन का अबाध संघर्ष इस रचना का वर्ण्य विषय है। अनेक प्रसंगों की अवतारणा एवं दृष्टान्तों के द्वारा लेखक ने अधिक से अधिक सुधारों को अपने प्रचार का विषय बनाया है।

पंडित नन्दकिशोर के पुत्र का नाम वासुदेव और पुत्री का नाम राधा था। पंडित जी का विश्वास था कि 'वह लोग बड़े मूर्ख हैं जो अपनी सन्तान को शिक्षा से हीन रखते हैं'[1]। वे जानते थे कि 'सन्तान न होने पर स्त्रियाँ कहीं शीतला पोजती हैं कहीं पीपर, पेड़ के साथ मिल रही हैं कोई मसानों या टोना करने वालों के फन्दे में फँस रही हैं'[2] 'ऋषि मुनियों की आज्ञानुसार पच्चीस साल की आयु न विवाह करे और ब्रह्मचारी रहकर विद्या पढ़ें तो यह उपद्रव संसार से आज दूर हो जाएँ'[3]। अस्तु उन्होंने राधा को 'सत्यार्थप्रकाश स्वामीजी कृत ग्रन्थ सब पढ़ा दिये'[4]। समय पर विवाह की समस्या आई। विवाह में पाँच शर्तें थीं —

(१) विवाह वैदिक रीति से होगा

(२) स्त्रियों के गन्दे गाने न होंगे

(३) गन्दे गानों की जगह पर मैं मंगलगान

(४) रंडी भांडों का अपव्यय बन्द और

(५) आतिशबाजी तथा बागबाड़ी पर धन नहीं खर्च किया जायगा।

इस विवाह में मूर्तियाँ नवग्रह आदि—कोई पूजन नहीं हुए बकरे का कान तक चीर के वेदी पर नहीं बैठे'[5] प्रत्युत एक हजार रुपये वैदिक संस्थाओं को दान दिये और विधवाओं तथा अनाथों को भी दान दिया'[6]। यह सब शिक्षा के प्रताप से ही हुआ।

'राधा आमजाया में बड़ाई आदि रच लती थी' वह बड़ा अच्छा व्याख्यान देती तथा रोचक दृष्टान्त भी सुनाती थी। फिर भी राधा 'घर का प्रबन्ध बनाने' में बड़ी कृपण थी। उसने गुणों से अपनी सास को अपने वश में कर लिया। धीरे-धीरे घर के

१ पृ० ११ २ पृ० २२ ३ पृ० २१ ४ पृ० २४

५ पृ० ३१ ६ पृ० ६२ ७ पृ० ६७

को काले पानी की सजा मिली। सब लोग पाप के खुलने पर एक दूसरे को समझ गये। गिरिजा ने कहा 'मैं तो प्रभु किसी को दोष नहीं देती प्रारब्ध ही सब की जड़ है जो नसीब में लिखा है उसको कोई मिटा नहीं सकता'।

इस उपन्यास का कथानक बहुत सुलझा हुआ है और यदि यह मौलिक है तो कला के विकास का द्योतक है। हिन्दुओं में बहु विवाह की प्रथा कदाचित् सन्तान के ही लिए चली होगी। आदिकाव्य से लेकर आज तक के साहित्य में यह समस्या हरी भरी बनी हुई है। केवल हिन्दू-समाज में ही पितृऋण का इतना महत्त्व है कि सन्तान प्रत्येक व्यक्ति का धर्म बन गया है। सन्तान के लिए धर्मात्मा व्यक्ति भी दूसरा विवाह कर सकता है। रामप्रसाद जी भी यही दशा हुई। बन्ध्या बड़ी पत्नी से छोटी युवती पत्नी सदा पति की दृष्टि में अधिक स्नेह की भाजन रही है। और सौतों में सद्भाव रह ही कैसे सकता है जबकि पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं 'भात बांटा जाता है जबकि भतार नहीं बांटा जाता'[1]। अस्तु, जिस घर में दो पत्नियां होंगी उसमें शान्ति नहीं रह सकती और उस अशान्ति का शिकार बेचारा पति ही होता है। ऐसी अशान्ति में सहयोग देने वाली पड़ोसिनों की भी समाज में कमी नहीं रेखा मिसिराइन उनकी प्रतिनिधि है आग बुझाने के बहाने वह हाथ सेंकने लगी। दुर्बल चमेली चालाक रेखा की शिष्या बन गई और उसी के इशारे पर पति को अपने वश में रखने के उसने अनेक उपाय किये। एक ओर जादू-टोने ऐसी स्त्रियों का शिकार करते हैं। दूसरी ओर उनकी बढ़ती हुई मांगों से पति को घर से भयभीत रहना पड़ता है। चमेली के जीवन में दोनों हैं। अन्त में वह गिरिजा को विष देने लगी। परन्तु अन्त उलटा हुआ और वह विष उसने पी लिया। गृहस्थ जीवन की यह घटना आज भी ज्यों की त्यों देखी जा सकती है। इस कथानक में कोई प्रासंगिक कथा नहीं है कोई भी अनावश्यक प्रसंग जोड़ा नहीं गया। लगता है कि कथानक ही लेखक का मुख्य उद्देश्य है समाज की आलोचना गौण।

'जवस बीबी' उपन्यास में नायक के अतिरिक्त चार पात्र मुख्य हैं और चारों मध्यवित्त-समाज की हिन्दू महिलाएँ हैं। 'किरणशशि'[2] उपन्यास में भी एक नायक और चार नायिकाएँ इसी वर्ग की हैं परन्तु वहां नारी का केवल प्रेयसी रूप ही चित्रित मिलता है। यहां गिरिजा और चमेली तथा माता और मिसिराइन एक दूसरे के विपरीत हैं। गिरिजा में पत्नी का आदर्श और चमेली में दुर्बल नारी का यथार्थ रूप अंकित रहा है यदि गिरिजा भला है तो चमेली बुरा है। माता और मिसिराइन भी एक दूसरे के विपरीत हैं परन्तु माता दुर्बल भोली है और मिसिराइन चालाक लेखक ने रेखा मिसिराइन को 'रेखा बुआ' भी कहा है। रामप्रसाद की माता भोली है वह बन्ध्या पुत्र वधू से सन्तुष्ट नहीं थी 'परन्तु रामप्रसाद की मां ने अपने हाथ से जो बीज बोया है थोड़े ही समय में उनको उसका फल भोग करना'[3] पड़ा। जब पुत्र हाथ से निकलने लगा तो माता ने घर से बाहर उसकी बातों की उसे स्वयं नहीं समझाया। यह एक मनोवैज्ञानिक भूल है। जो अपना है उसे हमारी गलती बतलानी चाहिए न कि बाहर

---

१ पृ० १२१   २ पृ० ११८   ३ दे० पृ० १०२   ४ पृ १०

फँसाकर हमको बदनाम करना चाहिए। अस्तु 'रामप्रसाद ने मन में ठाना कि जब माँ हमारी घर घर बदनामी करती है तब घर चाहे मिट्टी में मिल जाए मैं उससे बात भी नहीं करूँगा'[1]। 'बेटे ने समझ लिया कि माँ का मुझ पर अब पहले का कुछ भी स्नेह नहीं रहा माँ ने भी समझा कि बेटे की पहिली मातृभक्ति अब कुछ भी माँ पर नहीं है।'[2] अस्तु, दुर्बल माता का स्थान चालाक पड़ोसिन को मिल गया। रेखा कुमा बड़ी खराब नारी है वह 'साँप-रूप से काट कर बैद्यरूप से दवा करने'[3] वाली है। वह जिस घर में जाती है उसका सर्वनाश करती है। सहानुभूति दिखाने वालों में 'रेखा की सबन माया ही सबसे अधिक'[4] रहती है। लेखक ने स्वयं भी कहा है धन्य रेखा मिसिराइन। धन्य तुम 'धन्य तुम्हारी माया'।[5]

दुर्बल रामप्रसाद उपन्यास का नायक है। जननी वर्ग और जाया वर्ग की दो दो स्त्रियों के हाथ में खेलता हुआ वह अन्त में अपनी पतिप्राणा पत्नी द्वारा ही सराय पर लाया जाता है। विशेषता यह है कि इस उपन्यास में रामप्रसाद के चरित्र का विकार अंकित किया गया है प्रारम्भ में वह मातृभक्त सच्चरित्र तथा पत्नीव्रती था परन्तु अन्त तक आते-आते वह शराबी वेश्यागामी विक्षिप्त तथा पैसा उड़ानेवाला बन गया। माता के कहने से उसने दूसरा विवाह किया दूसरी पत्नी के कारण उसने पहली पत्नी और माता को छोड़ा। नई पत्नी के आभूषणों के लिए उसने गबन किया। घर से तंग आकर वह शराबी बना और मन बहलाने के लिए वह सुन्दर भान के घर जाने लगा। एक दशा आकर वह पागल-सा बन गया। लेखक के शब्दों में 'हम भी लिखते लजाते हैं कि इतने बड़े लिखे-पढ़े पण्डित रामप्रसाद नारीप्रसाद हो गये'।[6] 'जिसका एक बार पाँव फिसलता है वह क्या फिर सम्भल सकता है'। रामप्रसाद पर दया करके अबला गिरिजा के प्रताप से ही लेखक ने उपन्यास को सुखान्त बना दिया है 'परमेस्वर ने जैसे उनका दिन फेरा वैसा सब का फेरे'[7]।

इस उपन्यास में कथोपकथन अधिक नहीं है परन्तु भाषा आकर्षक है। 'सबल बीबी' नाम में गंभीरता नहीं है परन्तु उपन्यास की कथावस्तु चरित्र चित्रण शैली तथा उद्देश्य गम्भीर है। प्राय भाषा साहित्यिक है परन्तु गिरिजा नायिका की भाषा घरेलू है 'सब धर्मों को नाक की नोक पर चढ़ा कर बोलना'[8] मुनिया का स्वभाव था रेखा ग्राम्य वर्ग की भाषा बोलती है और जज साहब का निर्णय-वाक्य अंग्रेजी में है। लेखक के कुछ वाक्य बड़े मार्मिक हैं —

(१) भारत में महिलाओं का यह धर्मवार प्रेम हिन्दू-गृहस्थ के दिव्याकाश का अमरता लोप कर रहा है। (पृ० २१)

(२) लेकिन रामप्रसाद डर के मारे भिनक कर छोटा हो गये वह खबरदार क्या होते? (पृ० ११)

१ पृ० ४७ ४ पृ० ५५ ७ पृ० ५१ १० पृ० १९०
२ पृ० १११ ५ पृ० ११ ८ पृ० ८१
३ पृ० १४१ ६ पृ० ११

(३) बिजली सी हँसी पर एक भयानक मेघ दिखाई दिया। फिर टपाटप बूँदें पड़ने लगीं। (पृ० ८०)

(४) हजार हो तो मा का प्राण है बेटे के अमंगल की बात सुनकर कहां स्थिर रह सकती है। (पृ० ११८)

सामान्यतः इस उपन्यास में दूसरे विवाह के कुपरिणाम दिखाये गये हैं। साथ ही दुर्बल व्यक्तियों के पतन का इतिहास भी है। मकरन्द दुष्टा रेखा और आदर्श पत्नी चित्रा के अतिरिक्त शेष तीनों पात्र दुर्बल एवं यथार्थ हैं। उद्देश्य यह भी दिखाना है कि 'इस संसार में सब कुछ जाना जा सकता है लेकिन आदमी का स्वभाव नहीं समझा जा सकता। जगत् में जितने आदमी हैं उतने ही तरह के उनके स्वभाव भी हैं ''। लेखक ने मानो पाठकों को चेतावनी दी है कि 'खबरदार रहो। यह संसार बड़ा विकट स्थान है। एक बार भूलने से भी रक्षा नहीं है। खूब सावधान होकर चलना चाहिए'[१]। चमत्कार पाने की कामना ने ही रामप्रसाद से भजन कराया इसी समस्या का पूर्ण विकास 'पतन' उपन्यास में हुआ है। घर की अशान्ति से सम्भ्रान्त युवक भी किस प्रकार दुर्व्यसनी बन जाते हैं यह रामप्रसाद के जीवन से सीखा जा सकता है। चमेली और रेखा का बुरा अन्त दिखाकर लेखक ने कर्मफल में विश्वास प्रकट किया है। कथा-शैली भी अन्य सामान्य सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा प्रौढ़ है। यहां कोई भी अविश्वसनीय अथवा अवांछनीय दृश्य नहीं मिलता। आर्यसमाज और सनातन धर्म के संघर्ष में न पड़ कर लेखक ने हिन्दू गृहस्थ की एक सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण समस्या को उठा कर उसे आदर्श की तूलिका से अंकित किया है। कला की दृष्टि से यह उपन्यास प्रौढ़ तथा सफल है।

ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास

राधाकान्त

बंगीय साहित्य की मार्मिकता से प्रभावित होकर बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने प्रेमचन्द-पूर्व-काल के अंतिम दिनों में कुछ सुन्दर एवं भावुक उपन्यास हिन्दी को दिये। इनमें से 'लालचीन' 'सौन्दर्योपासक' तथा 'राधाकान्त' विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं। 'लालचीन' ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें लालचीन नामक दास अपने स्वामी का सब नाश कर देता है। 'सौन्दर्योपासक' में दुःखान्त प्रेम का भावात्मक वर्णन है। 'सौन्दर्योपासक' का नायक स्वच्छन्द प्रेम का उपासक है। अपने विवाह के अवसर पर ही वह अपनी साली के रूप पर रीझ गया और उससे प्रेम करने लगा। साली भी उससे प्रेम करने लगी परन्तु उसका विवाह एक दूसरे व्यक्ति के साथ हो गया। फलतः दोनों घरों में भावुकता-जन्य अशान्ति रहने लगी। दोनों बहिनें घुल घुलकर मर गयीं और नायक रोने के लिए बच रहा। इस उपन्यास की समस्या सामाजिक और मनोवैज्ञानिक

---

१ पृ० ५१   २ पृ० ५८

दृष्टि से बड़ी स्वाभाविक है। यदि माधवी (मालती) का विवाह दूसरे के साथ न हो जाता तो किशोरीलाल गोस्वामी के 'पुनर्जन्म वा सौतियाडाह'[1] उपन्यास की छाया में दोनों बहिनें एक ही घर में आकर जीवन बिता सकतीं। परन्तु मालती किसी दूसरे की पत्नी है इसलिए आत्मघात में प्राण देने के अतिरिक्त उसके पास और कोई मार्ग शेष नहीं बचता। लेखक ने समाज की ज्वलन्त समस्या का कवित्वपूर्ण चित्रण किया है।

ब्रजनन्दन सहाय का सर्वश्रेष्ठ 'सामाजिक उपन्यास' तो 'राधाकान्त'[2] है जिसका प्रकाशन 'सौन्दर्योपासक' के अनन्तर हुआ था। इसकी 'भूमिका' पर दिनांक १०-७-१२ लिखा हुआ है परन्तु प्रकाशक के नाम के साथ 'सन् १९१८ ई० मुद्रित छपा है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस उपन्यास की रचना तो 'सौन्दर्योपासक के साथ ही प्रायः' सन् १९१२ ई० में हो गई थी परन्तु लेखक ने इसका प्रकाशन उस समय कराया जब 'सौन्दर्योपासक का रसिकों ने यथोचित आदर किया'। यह उपन्यास दो खण्डों में विभक्त है। 'बंग नाटककार गिरीशचन्द्र घोष कृत 'चांदाम' नाम्नी एक छोटी-सी कहानी के आधार पर इस उपन्यास के प्रथम खण्ड की रचना स्वतन्त्र रूप से की गई है किन्तु दूसरे खण्ड में कहीं से सहायता नहीं ली गई है।'[3] प्रथम खण्ड 'राधाकान्त की आत्मकहानी' है और द्वितीय खण्ड में हरेन्द्र की आत्मकहानी है।

'राधाकान्त' उपन्यास की 'भूमिका' बड़े महत्व की है। उसमें तत्कालीन हिन्दी उपन्यास की परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। एक वाक्य में लेखक ने आलोचना कर दी है कि 'आजकल उपन्यासों का बाजार इतना गरम है कि कभी-कभी लोगों को उपन्यास का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़नी पड़ती है। उपन्यास नाम से जितनी ही पुस्तकें छपती हैं 'जिनके देखने में जो समय लगता है वह व्यर्थ ही जाता है। क्योंकि अधिकतर उपन्यास तो 'घटनापूर्ण अश्लीलतामय चरित्रनाशी रसीली कहानियाँ' मात्र ही हैं। इन तथाकथित उपन्यासों की तीन कमियाँ हैं—लेखकों में धर्मशीलता का अभाव अंग्रेजी उपन्यासों का अनुकरण तथा पात्रों की अवहेलना कर के घटना पर दृष्टि जमाना। लेखक के ही शब्दों में—

(क) भविष्य में उपन्यास आदि ही के सहारे लोग समाज देश तथा जाति की रीति-नीति एवं आचार विचार से अवगत होते हैं। 'उपन्यास लेखकों को उपन्यास बहुत सोच-विचार कर लिखने उचित है।

(ख) यह कभी नहीं चाहिए कि अंग्रेजी उपन्यासों के आधार पर, जिसके जी में आवे लिख बैठे[4]।

(ग) आजतक के उपन्यासों में विशेष ऐसे ही हैं कि जिनमें पात्रों का चरित्र तथा भाव भली भांति वर्णन करने का कष्ट नहीं उठाया गया।

---

१ दे० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास
२ प्रकाशक—हरदास एण्ड कम्पनी, मथुरा
३ आलोचना उपन्यास विशेषांक पृ० ७०
४ 'राधाकान्त' की भूमिका
५. 'राधाकान्त' की भूमिका

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस काल के अधिकतर उपन्यास सामान्य पाठकों के लिए सामान्य लेखकों द्वारा लिखे जाते थे। मनोरंजन के साथ उनका ध्यान सामाजिक उत्थान की ओर प्रायः नहीं था।

उस बरसाती प्रवाह में 'रामलाल' उपन्यास एक स्वच्छ एवं गंभीर स्रोत के समान है। भाषा एवं शैली के अतिरिक्त इसकी तीन विशेषताएँ और हैं—आदर्श चरित्र छात्रों की सहायता तथा सामाजिक कुरीतियों की आलोचना। लेखक ने 'भूमिका' में इन विशेषताओं की स्वयं भी विज्ञप्ति की है —

(क) जब घटना-पूर्ण अश्लीलतामय चरित्रनाशी रसीली कहानियाँ पढ़ते पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जाय तब आप लोग इसे अपने हाथ में लीजियेगा और देखियेगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है या नहीं। आप लोग कुछ शान्ति इसमें अनुभव करते हैं या नहीं।

(ख) घटना की ओर विशेष ध्यान न देकर निबन्ध रूप से इसमें वर्णना की गई है। इसका मतलब यह है कि स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों को भी निबन्ध लिखने में इससे किंचित् सहायता मिल सके।

(ग) आधुनिक भावों और घटनाओं का इसमें यथेष्ट समावेश है। जिसमें परोक्ष रूप से सामाजिक कुरीतियों पर साधारण आलोचना की गई है।

केवल 'भूमिका' में ही नहीं उपन्यास की कथावस्तु में भी लेखक ने ऐसे प्रसंग की योजना की है जिससे हिन्दी के तत्कालीन उपन्यास-साहित्य तथा आलोचना प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। यह निश्चय है कि पाप बुरी वस्तु है और समाज से पाप का उन्मूलन होना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि साहित्यकार इस उन्मूलन में किस प्रकार सहयोग दे। समाज का दूषित स्वभाव चित्र अंकित करने वाले कहते हैं कि साहित्य के भीतर पाप का चित्र देखकर पाठक उसको जड़ से उखाड़ना सीखता है प्रत्युत यह कहना अधिक उचित होगा कि दूषता के सभी कलाकार अपनी कला का चरम लक्ष्य कुत्सा का सर्वनाश ही बतलाते हैं। यह सिद्धान्त भ्रामक है। 'पाप की अद्भुत आकर्षण शक्ति होती है। दूर भागने पर पाप पीछा नहीं करता किन्तु निकट जाने पर लिपट कर घेर लेता है'[1]। यदि कोई यह कहे कि 'प्रकाशकों के लिए अर्थ-लोभ से जो जब मन में आता है लिख मारता हूँ। मेरी रुचि स्वतंत्र नहीं है। मूल्य दाम पाकर, प्रकाशकों के आज्ञानुसार मैं अश्लीलता को लिखा करता हूँ'[2] तो वे लेखक भी इस अपराध के भागी अवश्य हैं जो अपनी रचना के द्वारा अपने पाठकों और दर्शकों को इस कुमार्ग पर चलने में सहायता देते हैं'[3]। क्योंकि हिन्दी में 'सहस्र रजनी-चरित्र'[4] के समान ऐसी *अनेक पुस्तकें हैं जिनका पाठक पर बुरा चारित्रिक प्रभाव पड़ता है। पाठक को उनकी* बुरी बातें ही आकृष्ट करती हैं। 'गुलाम बख्शीर अपनी भगिनी के संग इश्क का इस

---

१ पृ० १८ ३ पृ० १९

२ पृ० १९ ४ पृ० ११

नगाड़ा बजाकर गाया"[1]। बाबू व्रजनन्दन सहाय ऐसे लेखकों को साहित्यनाशक एवं समाज ध्वंसक समझते हैं। "कहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे उच्च आदर्श का मार्ग चलने वाले कलाकार और कहाँ बरसाती मेंढकों के समान नये-नये अपस्वान निकालने वाले अधम्य उपन्यासकार। लेखक ने अत्यन्त खेद के साथ लिखा है, "स्वयं भारतेन्दु ने उत्तमोत्तम नाटकों की रचना की। श्रीनिवासदास का भी परिश्रम निष्फल हो गया"[2]। भारतेन्दु की महाप्रमता से सब लोग परिचित हैं। श्रीनिवासदास ने भी अपने नाटकों और उपन्यास से जो उच्च आदर्श प्रस्तुत किया था उसकी (विशेषतः 'परीक्षागुरु' के उच्च सामाजिक स्तर को) लेखक ने महत्ता स्वीकार की है और श्रीनिवासदास को भारतेन्दु के बाद सर्वोच्च स्थान दिया है।

हमारे आलोच्य-काल की एक विशेषता यह थी कि लोग मौलिक न होने पर भी मौलिकता का दावा करते थे। बड़े-बड़े लेखकों के विषय में भी यह विचारणीय समस्या है कि उनको किस अंश में मौलिक माना जाय। व्रजनन्दन सहाय ने एक स्थान पर इस विशेषता की बड़ी स्पष्ट आलोचना की है, "साधारणतः आजकल के उपन्यास इसी ढंग से लिखे ही जाते हैं। मैंने तो एक साधारण लेखक की छाया ली है। लोग तो ऐसे हैं जो बंकिम आदि प्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकों का अविकल अनुवाद करके भी स्वतन्त्र ही लेखक गिने जाते हैं। अपने ग्रन्थों में लोग यह स्वीकार करने का कष्ट नहीं उठाते हैं कि अमुक ग्रन्थकार की अमुक पुस्तक के आधार पर उन लोगों ने लिखा है या अमुक पुस्तक का अनुवाद किया है। बात खुल जाने पर यह कहते हैं कि संयोग से भाव टकरा गया है। नाम तो हमने इस पुस्तक का नहीं देखा था।"[3] लेखक का यह कथन अक्षरशः सत्य नहीं मानना चाहिये। परन्तु इतना सत्य है कि उस युग में ज्ञान कम होने के कारण इस प्रकार का भ्रम किसी सीमा तक सुगम न बन जाता था। क्योंकि "अभी तक हिन्दी भाषा में यथार्थ समालोचना की प्रथा नहीं चली। जो समालोचना हम प्रायः देखते हो वह विज्ञापन-मात्र है। समालोचना करते समय प्रायः पुस्तकों की ओर ध्यान न देकर मात्र व्यक्ति-विषय की ही आलोचना करने लगते हैं"[4]। फलतः साहित्य के बाजार में सस्ता सौदा भरता जा रहा था और दुकानों पर कम समझ ग्राहकों की भीड़ लगी रहती थी। उपन्यास के विषय में तो सबसे पहले यह कहा जा सकता है कि "जो कोई पुस्तक-विशेष किसी विशेष उद्देश्य से लिखी गई हो तो वह दूसरी बात है, किन्तु साधारणतः इस भाषा की पुस्तकें पाठकों के चित्त-विनोदार्थ ही लिखी जाती हैं"[5] और यह निश्चय है कि "जो काम केवल आमोद ही के लिए किया जाता है जिस कार्य का कोई उच्च लक्ष्य नहीं होता वह कदापि वैसा उत्तम नहीं हो सकता"[6]। बाबू व्रजनन्दन सहाय के ये आलोचनात्मक विचार आलोच्य युग के साहित्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

---

१ पृ १५ २ पृ २१ ३ पृ० १०७
४ पृ० ११२ ५ पृ० १११

अब 'राधाकान्त' उपन्यास की कथावस्तु पर आइये। जैसा कि ऊपर कहा जा
का है इस उपन्यास के दो 'खण्ड' हैं प्रथम खण्ड १२ परिच्छेद और ८१ पृष्ठों में
धाकान्त की आत्मकहानी कहता है द्वितीय खण्ड में १२ परिच्छेद तथा ६० पृष्ठों
हरेन्द्र की आत्मकहानी कही गई है इस प्रकार सब मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास में
ल १४० पृष्ठ हैं। प्रथम खण्ड पर एक बंगीय कहानी की छाया है परन्तु द्वितीय
ण्ड स्वतन्त्र एवं मौलिक है। राधाकान्त और हरेन्द्र दोनों सहपाठी थे। राधाकान्त
र्धन था और हरेन्द्र धनी। धनी मित्र के साथ रहकर राधाकान्त का पतन होता गया
। अन्त में उसने वैराग्य ले लिया। हरेन्द्र माया के आकर्षण को जानता था इसलिए
ह सरल जीवन की ओर आकृष्ट हुआ। वह सुख जीवन बिताता हुआ अपने परिजन
रजना के साथ स्नेहमय व्यवहार करता है राधाकान्त के माता पिता को अपने माता
ता के समान आदर और सम्मान प्रदान करता रहता है। इन दो नायकों के अतिरिक्त
था में दो पात्र और मुख्य हैं दोनों दुश्चरित्र—एक पुरुष सुखदेव और एक स्त्री
भाभी कलाभी की हत्या करके सुखदेव आत्मबल प्राप्त करता है। इस प्रकार कथानक
रल एवं स्पष्ट है। इसका विकास आदर्श उपदेश तथा निर्मलता में होता है। द्वितीय
ण्ड के ग्यारहवें परिच्छेद में थोड़ी-सी जासूसी आ गई है। महात्मा ज्ञानानन्द की कई
वतो पर सहायता कुछ अस्वाभाविक-सी भी बन गई है।

प्रथम खण्ड में राधाकान्त की आत्मकहानी इस प्रकार प्रारम्भ होती है मैं एक
किसान का लड़का हूँ और मेरा घर देहात में है मैं साधारण कुल का बालक हूँ[1] फिर
ह हरेन्द्र से अपनी तुलना करता हुआ कभी कृष्ण-सुदामा का दृष्टान्त याद करता है
भी ईश्वर के विषम वितरण कभी अन्याय पर विचार करता है कभी उसके मन में
ौभाग्य-लाभ का विश्वास जमता है कभी प्रारब्ध की प्रबलता उसके हृदय में बैठ जाती
। अन्त में वह संसार से पलायन करता है "पृथिवी में अब कोई मेरा पता नहीं
वेगा मुझे ढूँढ़ने की चेष्टा मत करना"[2]। हरेन्द्र की कहानी प्रथम खण्ड से ही मिलने
गती है। हरेन्द्र की परिस्थिति को देखकर राधाकान्त को अपनी दशा और भी खलने
गी "क्यों किसी को दैवात् अनन्त धन दूसरे से मिल जाता है और वह बिना कुछ
ाम-काज किये सुख से अपने दिन बिताता है और दिन-रात परिश्रम से अपनी हड्डियों
ो तोड़ कर भी मैं सुख से भर पेट खा नहीं सकता"[3]। हरेन्द्र अपनी स्थिति को समझता
"सब मेरी सम्पत्ति को चाहते हैं मुझे कोई नहीं चाहता"[4]। ग्राम में जाकर मानो
सकी आँखें खुल गईं "पहले मुझे अनुभव नहीं था किन्तु अब समझता हूँ कि जो पवित्रता
वच्छता सरलता नीरोगता तथा आनन्द यहाँ राज्य करता है वह स्वप्न में भी हम लोगों
ो नगर में प्राप्त नहीं हो सकता"[5]। द्वितीय खण्ड में हरेन्द्र सुखदेव तथा कलाभी की
हानी है। यहाँ हरेन्द्र की आस्तिकता तथा सद्गुण अंकित किये गये हैं। कामार्त
लाभी मानो पश्चिम के भोगवाद की प्रतीक है नायक भारतीय संयम का। अन्त में

---

१ पृ २ २ पृ ८१
३ पृ ५ ४ पृ ४८ ५ पृ ४०

ईश्वर प्रार्थना पश्चाताप और सत्पथ से सब लोग शान्ति प्राप्त करते हैं।

इस उपन्यास में एक ओर 'चित्रलेखा' के बीज छिपे हैं दूसरी ओर 'गोदान' के। संसार का भोगकर जो उसे निस्सार मान त्याग देता है उसके बराबर शान्ति किसी को नहीं मिलती परन्तु जिसको संसार मिला नहीं वह उसके आकर्षण से पराभूत रहता है। अतः प्रेमचन्द के रायसाहबों के समान सम्पत्तिशालियों का मन प्रायः सम्पत्ति की बेड़ियों में छटपटाया करता है सुरेन्द्र ऐसा ही आदर्श पात्र है। राधाकान्त 'चित्रलेखा' उपन्यास के कुमारगिरि के समान या 'राज्यश्री' नाटक के शान्तिभिक्षु के समान जन्म से ही वंचित होने के कारण सम्पत्ति के चकाचौंध से स्तम्भित है। अन्त में उसे त्याग से ही शान्ति मिलती है। उपन्यास के नाम तथा कथावस्तु में महत्त्व को देखते हुए राधाकान्त ही मुख्य नायक है। वस्तुतः चारों पात्र चार वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सर्वोत्तम है सुरेन्द्र—आदर्श दुर्बलता-रहित दूसरा है नायक राधाकान्त सच्चरित्र दुर्बल तीसरा है सुखदेव दुश्चरित्र और चौथी है लक्ष्मी—पाप की प्रतिमा। लेखक ने आदर्श की झोंक में नारी के उज्ज्वल चरित्र की अवहेलना कर दी है पुरुष की सम्पटता के लिए भी नारी को उत्तरदायी मानना न तो नवजागरण के अनुरूप है और न लेखक के गम्भीर उत्तरदायित्व का पालन ही माना जा सकता है। 'एक परम सुन्दरी सजनी'[1] का अपने पड़ोसी से यह कहना कि 'आप के निकट मैं धर्म-शिक्षा लेने नहीं आई हूँ आप मुझे प्रेम की शिक्षा दीजिए'[2] 'चित्त-विनोदार्थ' ही लिखा गया है उसमें सचाई एवं गंभीरता नहीं है। वस्तुतः नारी का मध्ययुगीन चित्रण इस उपन्यास की एक त्रुटि है।

'राधाकान्त' उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें कथोपकथन की अपेक्षा वर्णन का प्राधान्य है। बीच-बीच में आकर पाठकों से बात करने की अपेक्षा पात्रों के मुख से अपना मत प्रकट करने में प्रौढ़ता की सूचना मिलती है। घटनाएँ स्वाभाविक एवं विश्वसनीय हैं। पात्र वर्ग-प्रतिनिधि हैं उनमें भावुकता एवं विकास है। घटनाएँ पात्रों का अनुवर्तन करती हैं। उपन्यास का विभाजन खण्ड एवं परिच्छेदों में है। यथावश्यकता नीति के दोहे (तुलसी अथवा रहीम आदि के) उद्धृत कर दिये गये हैं। साधारणतः भाषा साहित्यिक एवं प्रांजल है। एक उदाहरण देखिए —

'पूर्व दिशा में कुछ प्रकाश हो आया था किन्तु अभी तक आकाश बादलों से ढका था। सामने की छत और छप्पर पानी से तर थे। वृष्टि बन्द हो गयी थी किन्तु रह रह कर बूँदें ओरियों से टपक पड़ती थीं। एक बार ज़ोर से हवा चली। सामने का निम्ब वृक्ष हिल गया। (पृ० ११)।

प्रस्तुत उपन्यास का अन्त राधाकान्त को आदर्श मित्र घोषित करता है 'आज मैं ठीक जान गया कि राधाकान्त 'आदर्श मित्र' है'। साथ ही आस्तिकता-पक्ष के सभी सद्गुण यहाँ प्रतिष्ठा के अधिकारी रहे हैं। ईश्वर के न्याय में विश्वास पवित्रता-स्वच्छता सरलता की प्रशंसा प्रारब्ध देखना तथा धर्म में श्रद्धा पश्चात्ताप तथा कृतज्ञता का

१ पृ० ६१
२ पृ० १००

प्रचार लेखक का मुख्य उद्देश्य है। पूरी पुस्तक पढ़ लेने पर मन को प्रसादपूर्ण शान्ति की उपलब्धि होती है। कुछ उपदेशात्मक वाक्य इस उपन्यास के प्राण हैं —

(क) भगवान् से प्रार्थना करना और उनकी कृपा के लिए धन्यवाद देना यही मूल मन्त्र है। इसी के द्वारा मनुष्य की सब मनोकामनाएँ सिद्ध होती हैं। (पृ. ७२)

(ख) धन्यवाद देने से मन में शान्ति आती है, एहसान का बोझ कम होता है, चरित्र उन्नत होता है और अधिक कृपा मिलने की आशा रहती है। (पृ. १०३)

(ग) पाप के द्वारा कोई कभी सुखी नहीं हो सकता। शारीरिक सुख सुख नहीं है। सुख का सम्बन्ध केवल मन के साथ, धर्म के साथ और आत्मा के साथ है। (पृ. ११९)।

मन्नन द्विवेदी के उपन्यास

रामलाल

हमारे अध्ययन-काल के अन्तर्गत ही मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने 'रामलाल'[1] तथा 'कल्याणी'[2] दो सामाजिक उपन्यास लिखे। 'रामलाल' का प्रकाशन सन् १९१७ में हुआ परन्तु इसमें लेखक की अपनी भूमिका १८-११-१४ की है। 'इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्र खींचा गया है। नगर और नागरिक लोग भी कहीं-कहीं आ गये हैं लेकिन मुख्य पात्र और घटनाएँ गाँवों से सम्बन्धित हैं'[3]। मुखपृष्ठ पर भी इसको 'ग्रामीण जीवन का एक सामाजिक उपन्यास' लिखा गया है। कल्याणी 'एक शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास' है। इसमें 'भूमिका' का दिनांक ७-१-१२ है, जिससे स्पष्ट है कि 'कल्याणी' हमारे अध्ययन-काल में नहीं लिखा गया, फिर भी लेखक के दृष्टिकोण को समझने के लिए कुछ दिन बाद रचे गये इस उपन्यास से बड़ी सहायता मिलती है।

'रामलाल' से पूर्व लिखे गये उपन्यासों में से कुछ उपन्यासों के घटना-स्थल ग्राम भी हैं, परन्तु उनमें ग्रामीण जीवन चित्रण का विषय नहीं बना। प्रस्तुत उपन्यास में प्रथम बार सामयिक परिस्थितियों के अन्तराल में ग्रामीण जीवन पर उदार एवं सहृदयतापूर्ण दृष्टिपात किया गया है। यही विशेषता आगे चलकर प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्राण बनी। दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द के ग्रामीण उपन्यासों के समान इस उपन्यास में भी पूर्वी उत्तरप्रदेश के ग्रामों से प्रेरणा एवं सामग्री ग्रहण की गई है। इसमें भाषा वैविध्य को महत्व नहीं दिया गया, परन्तु 'पुलिस और अदालत', पटवारी और पोस्टमैन, [illegible] और साहूकारों का व्यंग्यपूर्ण चित्र मन्नन द्विवेदी की लेखनी से खूब उतरा है। प्रेमचन्द की तुलना में सामाजिकता की दृष्टि से मन्नन द्विवेदी के चित्रण का एक विशेष

---

१ प्रकाशक—इण्डियन प्रेस प्रयाग, प्रथम बार सन् १९१७ ई.।

२ प्रकाशक—सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय [illegible] कलकत्ता, प्रथमावृत्ति सन् १९१२ ई.।

३ भूमिका।

अन्तर है कि इनमें देशभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति का भी निनाद है एवं ग्रामीण दुर्दशा का हल खोजते-खोजते वे 'उधार धर्म' के दोषों पर आ पहुँचते हैं। प्रेमचन्द ने कुत्सित् तथाकथित धर्म का खोखलापन दिखाते हुए भी सामाजिक दुर्दशा का मूल कारण आर्थिक-राजनीतिक दुर्व्यवस्था को ही ठहराया गया है।

गोरखपुर जिले के गिरधरपुर ग्राम में भगतसिंह का घराना बड़ा प्रतिष्ठित था। गाँव के लोग भी इनको दउआ कहकर पुकारते थे। प्लेग में दउआ और दाई राम लाल तथा गिरधरपुर को अनाथ करके चल बसे। ममेरू भगत और इकबाल पटवारी ने जाल रचकर रामलाल के घर की रत्ती-रत्ती चीज कुर्क करा ली। रामलाल की धर्म-बहिन कलारिन धनरजिया के अतिरिक्त अब ग्राम भर में उसका कोई अपना न रहा। 'दुर्भाग्य का सताया रामलाल अपना दुख दूर करने के लिए आनन्दमय प्रयाग में आया'। श्री सनातन धर्म सभा, 'आर्यसमाज', 'सरयूपारीण सभा' तथा 'कान्यकुब्ज सभा' आदि से उसको कोई सहायता न मिली परन्तु 'ईसू प्रभु का एक दास' रामलाल को अपने साथ ले गया। वहाँ एनी साहबजादी रामलाल के गुणों पर मुग्ध हो गई। यही उपन्यास की नायिका है। साहबजादी रामलाल को ईसाइयों के जाल से निकाल कर उसकी सेवा में जीवन बिताना चाहती थी परन्तु रामलाल उसके प्रेम को ठुकरा कर चला गया—'रामलाल ईसाई हो गया एक स्त्री के लिए ईसाई हो गया यह बात मुझसे कैसे सही जाएगी'। भाग कर रामलाल भागलपुर पहुँचा वहाँ उसने सेठ शिवदास के कोयले के कारखाने में नौकरी कर ली। जब घाटा हुआ तो सेठ ने हिम्मत छोड़ दी परन्तु रामलाल अकेला ही कारखाना चलाता रहा और उसने सारा मुनाफा सेठ के नाम जमाकर दिया। इस व्यवहार से शिवदास और रामलाल भाई बन गये। आगे चलकर रामलाल के प्रयत्न से धनरजिया का विवाह शिवदास के साथ हो गया। उपन्यास के अन्त में साहबजादी के उच्च प्रेम एवं त्याग से प्रभावित होकर रामलाल उसे खोजने के लिए निकल पड़ा। परन्तु आज तक उसका कोई पता नहीं लगा। 'कुछ लोग नैपाल की सरहद पर त्रिवेणी-स्नान करने गए थे—उन्होंने ठीक रामलाल की शक्ल के एक सन्यासी को अकेला पहाड़ के पास जंगल में देखा था—कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उन्होंने सन्यासी जी के स्थान से एक मील की दूरी पर एक योगिनी की कुटी देखी है। साहबजादी ध्यान में मग्न रहती हैं और किसी से कुछ बोलती चालती नहीं है'[1]।

दुर्भाग्य के सताये हुए नायक रामलाल की दुःख-सुखात्मक जीवन-गाथा ही उपन्यास की कथावस्तु है। मुख्य घटना-स्थल ग्राम गिरधरपुर है जहाँ से समाज की धार्मिकता के शिकार तीन प्राणी (रामलाल, धनरजिया तथा हीरा) भाग्य की ठोकरें खाते हुए आगे चलते जाते हैं। नायक रामलाल की गाथा में साहबजादी की ममतामयी भावना भी जुड़ गई है। लेखक ने उपन्यास में उसका पटाक्षेप कर दिया है। धर्म और प्रेम की धूप-छाँह का यह चित्र नायक और नायिका का उज्ज्वल चित्रण दिखलाता है। यदि रामलाल को साहबजादी के सच्चे प्रेम का ज्ञान हो जाता तो वह उसके साथ

१ आत्मोद्धार पृ २२५

प्रचार लेखक का मुख्य उद्देश्य है। पूरी पुस्तक पढ़ लेने पर मन को प्रसादपूर्ण शान्ति की उपलब्धि होती है। कुछ उपदेशात्मक वाक्य इस उपन्यास के प्राण हैं —

(क) भगवान् से प्रार्थना करना और उनकी कृपा के लिए धन्यवाद देना यही मूल मन्त्र है। इसी के द्वारा मनुष्य की सब मनोकामनाएँ सिद्ध होती हैं। (पृ० ७२)

(ख) धन्यवाद देने से मन में शान्ति आती है, ऐहसान का बोझ कम होता है, चरित्र उन्नत होता है और अधिक कृपा मिलने की आशा रहती है। (पृ० १८३)

(ग) पाप के द्वारा कोई कभी सुखी नहीं हो सकता। शारीरिक सुख सुख नहीं है। सुख का सम्बन्ध केवल मन के साथ, धर्म के साथ और आत्मा के साथ है। (पृ० ११६)।

मन्नन द्विवेदी के उपन्यास

रामलाल

हमारे आलोच्य-काल के अन्तराल में ही मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने 'रामलाल'[1] तथा 'कल्याणी'[2] दो सामाजिक उपन्यास लिखे। 'रामलाल' का प्रकाशन सन् १९१७ में हुआ परन्तु इसमें लेखक की अपनी भूमिका १८-११-१४ की है। 'इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्र खींचा गया है। नगर और नागरिक लोग भी कहीं-कहीं आ गये हैं लेकिन मुख्य पात्र और घटनायें गावों से सम्बन्धित हैं'[3]। मुखपृष्ठ पर भी इसको 'ग्रामीण जीवन का एक सामाजिक उपन्यास' लिखा गया है। 'कल्याणी' 'एक शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास' है। इसमें 'भूमिका' का दिनांक ७-१-२० है, जिससे स्पष्ट है कि 'कल्याणी' हमारे आलोच्य-काल में नहीं लिखा गया, फिर भी लेखक के दृष्टिकोण को समझने के लिए कुछ दिन बाद रचे गये इस उपन्यास से बड़ी सहायता मिलती है।

'रामलाल' से पूर्व लिखे गये उपन्यासों में से कुछ उपन्यासों के घटना-स्थल ग्राम भी हैं, परन्तु उनमें ग्रामीण जीवन चित्रण का विषय नहीं बना। प्रस्तुत उपन्यास में प्रथम बार सामाजिक परिस्थितियों के अन्तराल में ग्रामीण जीवन पर उदार एवं सहृदयतापूर्ण दृष्टिपात किया गया है। यही विशेषता आगे चलकर प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्राण बनी। दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द के ग्रामीण उपन्यासों के समान इस उपन्यास में भी पूर्वी उत्तरप्रदेश के ग्रामों से प्रेरणा एवं सामग्री ग्रहण की गई है। इसमें भाषा वैविध्य को महत्त्व नहीं दिया गया, परन्तु पुलिस और अदालत, पटवारी और पोस्टमैन, भगत और साहूकारों का व्यंग्यपूर्ण चित्र मन्नन द्विवेदी की लेखनी से खूब उतरा है। प्रेमचन्द की तुलना में सामाजिकता की दृष्टि से मन्नन द्विवेदी के चित्रण का एक विशेष

---

१ प्रकाशक—इण्डियन प्रेस प्रयाग, प्रथम बार सन् १९१७ ई०।

२ प्रकाशक—सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय बेलनगंज आगरा, प्रथमावृत्ति सन् १९२ ई०।

३ भूमिका।

स्पष्ट है कि इसमें देशभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति का भी निर्वाह है एवं ग्रामीण दृश्य का इन नोकते-झोंकते में 'उधार धन' के दोषों पर आ पहुँचते हैं। प्रेमचन्द ने यद्यपि तथाकथित धर्म का खोखलापन हुए भी सामाजिक दुर्दशा का मूल कारण आर्थिक-राजनीतिक दुर्व्यवस्था को ही ठहराया गया है।

गोरखपुर जिले के गिरधरपुर ग्राम में गंगासिंह का घराना बड़ा प्रतिष्ठित था। गाँव के लोग भी इनको दद्दा कहकर पुकारते थे। प्लेग में दद्दा और दादी राम शरण तथा गिरधरपुर को अनाथ करके चल बसे। मंगल भगत और हुकुमलाल पटवारी ने दाव देखकर रामलाल के घर की रत्ती-रत्ती चीज कुर्क करा ली। रामलाल की धर्म-रहित कर्मागिन धनरजिया के अतिरिक्त अब ग्राम भर में उसका कोई अपना न रहा। 'दुर्भाग्य का सताया रामलाल अपना दु:ख दूर करने के लिए आगन्मय प्रयाग में गया'। श्री सनातन धर्म सभा 'आर्यसमाज' 'सरयूपारीण सभा' तथा कान्यकुब्ज सभा आदि से उसको कोई सहायता न मिली परन्तु 'ईसू प्रभु का एक दास' रामलाल को अपने साथ ले गया। वहाँ एनी शाहजादी रामलाल के गुणों पर मुग्ध हो गई। यही उपन्यास की नायिका है। शाहजादी रामलाल को ईसाइयों के जाल से निकाल कर उसकी सेवा में जीवन बिताना चाहती थी परन्तु रामलाल उसके प्रेम को ठुकरा कर चला गया—'रामलाल ईसाई हो गया एक स्त्री के लिए ईसाई हो गया यह बात मुझसे कैसे सही जाएगी'। भाग कर रामलाल भागलपुर पहुँचा वहाँ उसने सेठ शिवदास के गोयनें के कारखाने में नौकरी कर ली। जब घाटा हुआ तो सेठ ने हिम्मत छोड़ दी परन्तु रामलाल अकेला ही कारखाना चलाता रहा और उसने सारा मुनाफा सेठ के नाम जमाकर दिया। इस व्यवहार से शिवदास और रामलाल भाई बन गये। आगे चलकर रामलाल के प्रयत्न से धनरजिया का विवाह शिवदास के साथ हो गया। उपन्यास के अन्त में शाहजादी के उच्च प्रेम एवं त्याग से प्रभावित होकर रामलाल उसे खोजने के लिए निकल पड़ा। परन्तु आज तक उसका कोई पता नहीं लगा। 'कुछ लोग नेपाल की सरहद पर त्रिवेणी-स्नान करने गये थे—उन्होंने ठीक रामलाल की शक्ल के एक सन्यासी को अकेला पहाड़ के पास जंगल में देखा था—कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उन्होंने सन्यासी जी के स्थान से एक मील की दूरी पर एक योगिनी की कुटी देखी है। माताजी ध्यान में मग्न रहती हैं और किसी से कुछ बोलती चालती नहीं हैं'[1]।

दुर्भाग्य के सताये हुए नायक रामलाल की दुःख-सुखात्मक जीवन-गाथा ही उपन्यास की कथावस्तु है। मुख्य घटना-स्थल ग्राम गिरधरपुर है जहाँ से समाज की कुरीतियों के शिकार तीन प्राणी (रामलाल धनरजिया तथा बीरा) भाग्य की ठोकरें खाते हुए आगे चलते जाते हैं। नायक रामलाल की गाथा में शाहजादी की भावनामयी अवस्था भी जुड़ गई है। लेखक ने उपन्यास में उनका पत्रव्यवहार कर दिया है। धर्म और प्रेम की धूप-छाँह का यह चित्र नायक और नायिका का उज्ज्वल विराम दिखलाता है। यदि रामलाल को शाहजादी के सच्चे प्रेम का भान हो जाता तो वह उसके साथ

---

१ उम्मीदार पृ० २१२

विवाह करके समाज कल्याण का प्रवृत्तिपरक जीवन बिता सकना था जैसा कि 'कल्याणी' उपन्यास में श्यामनारायण और कल्याणी ने बिताया। इस उपन्यास का अन्त सन्यास में दिखाकर लेखक को यह अनुभव हुआ होगा कि व्यक्तिगत साधना में समाज का अधिक कल्याण नहीं हो सकता परस्पर प्रेम द्वारा संचालित किये हुए ब्याह के कारण गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाते हुए उचित रीति से देश-सेवा[1] ही पढ़े लिखे युवकों का लक्ष्य होना चाहिए। अतः 'कल्याणी' उपन्यास में श्यामनारायण 'सुख वैभव और सौभाग्य' का जीवन बिताते हुए 'नायक जाति के उद्धार का अपना जीवन-संकल्प पूर्ण'[2] करता है। यद्यपि द्विवेदी जी के दोनों उपन्यास आदर्शोन्मुख हैं फिर भी दोनों का लक्ष्य भिन्न है और फलस्वरूप से कथा की परिणति भी भिन्न हो गई है। 'कल्याणी' का नायक श्याम सामान्य ग्रामीण परिवार का अनाथ शिशु है पढ़ने में उसकी रुचि थी परन्तु उसके अभिभावक मामा-मामी इस बात को पसन्द न करते थे। वह घर से भागा, संयोग ने उसको एक मुख्तार साहब के घर नौकर करा दिया। वृद्ध मुख्तार की पांचवीं युवती पत्नी श्याम को पढ़ाने लगी। श्याम ने धीरे-धीरे शास्त्री पास कर ली और नवकन्या (कल्याणी) से उसका विवाह हो गया। 'रामलाल' का उद्देश्य समाज की दुरवस्था का चित्रण है, 'कल्याणी' का लक्ष्य श्याम के जीवन का चित्रण प्रथम उपन्यास में लेखक समाज का खोखलापन दिखलाता है, द्वितीय में उसका उपचार प्रस्तुत करता है। 'बड़े नेताओं ने दूसरे बड़े-बड़े काम उठाये हैं—छोटे-छोटे काम' उन नवयुवकों को उठाना चाहिए जिन्होंने अभी अपने जीवन का प्रोग्राम नहीं बनाया है'[3]।

मन्नन द्विवेदी का उद्देश्य हिन्दू-समाज की 'दुर्दशा का चित्र अंकित' करके सामाजिक प्रश्नों का विवेचन' करना है। समाज में बाल-विवाह वृद्ध-विवाह विधवा-दुर्दशा अशिक्षा अविद्या अनीति' तथा 'डाह द्रोह दम्भ ईर्ष्या छल कपट विश्वासघात असत्य और भीषणता' का ऐसा घोर तिमिर छाया हुआ था कि समाज का कोई स्थिर स्वरूप ही नहीं'[4] दिखलाई पड़ता था और लोग चाहते थे 'देश को स्वाधीन बनाना'। इस दुर्दशा का कारण 'अविद्या और अहंकार का घोर तिमिर' था जिसने 'हमारे समस्त सद्गुणों को प्रच्छन्न कर रखा'[5] था। लेखक ने व्यंग्य से लिखा है कि 'इससे बढ़कर अब कौन सा पाप बढ़ेगा कि ब्राह्मण अंगरेजी पढ़ने लगे सुरापान छोड़कर लोग असुर होते जा रहे हैं, बहु-विवाह और वृद्ध-विवाह की प्राचीन प्रथाएं लोप हो गईं लोग रेल पर चढ़ने लगे नल का पानी पीने लगे'[6]। लेखक ने किसी सम्प्रदाय के तात्विक चिन्तन पर ध्यान नहीं दिया दार्शनिक दृष्टि से सभी मत वैयक्तिक कल्याण को ध्येय बनाते हैं परन्तु समुत्थान के लिए उसको आर्यसमाज का कार्यक्रम विशेष पसन्द आया है। 'रामलाल' उपन्यास में इस मतवाद को स्पष्ट स्वीकृति नहीं है परन्तु 'कल्याणी' के नायक-नायिका को [illegible] आर्यसमाज का सदस्य बनाकर यह निश्चित कर दिया है कि

---

१ कल्याणी पृ० १२४   २ वही पृ० १११   ३ वही पृ० १११
४ कल्याणी में सम्पादक पं० गौरीशंकर शुक्ल का वक्तव्य।
५ वही   ६ 'कल्याणी' की 'भूमिका'।

पुराने साथ नवीन युग में भी मनमानी अनर्गल बातें चलाना चाहते हैं और हमारे नव-युवक और युवती इन मनोभावनाओं की अनमन्त्र प्राचीनता के बलिदान होते हैं।'[1] अस्तु 'जीवन भर वेद-शास्त्र और दूसरे सद्ग्रन्थों का पढ़ना हिन्दी का प्रचार करना यानी सदा पैमाना देवालय का बनी होना'[2] ही भावी युवक-युवतियों का सामान्य मार्ग होना चाहिए।

'रामलाल' उपन्यास में प्रयागराज का चित्रण करते समय लेखक ने हिन्दू धर्म का खोखलापन दिखाकर उस दोष का विवेचन किया है जिसके कारण हिन्दू लोग ईसाई हो जाते हैं। 'श्री सनातन धर्म सभा' भक्तिभाव से 'श्रीराम-गम्य पुरुष नमामि' गा-गा कर झूम रही है तो 'आर्यसमाज के उपदेशक 'ईश्वर के लक्षण' बतला रहे हैं 'वर्णाश्रम-सभा में यह विवाद हो रहा है कि तरकारी में नमक पहले से पड़ा रहना चाहिए या खाते वक्त डाल लेना चाहिए' 'उस तरह कान्यकुब्ज सभा में लठ चलने की नौबत आ रही है'[3]। 'आर्यसमाज' और 'सनातन-धर्म-रक्षिणी सभा' का चित्रण करते हुए लेखक ने एक ही वाक्य में पुराणपन्थियों पर करारा प्रहार कर दिया है 'इस सभा के सदस्यों में से सबसे मुख्य आर्यसमाज को जड़-मूल से उखाड़ देना है।'[4] हिन्दू समाजों के मुख्य दोष ये हैं—पारस्परिक द्वेष और व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा करते हुए सिद्धान्तों पर व्यर्थ तर्क-वितर्क करना। विभिन्न सम्प्रदायों के हिन्दू आपस में झगड़ा कर एक-दूसरे की शक्ति को कम करते हैं इस का लाभ विधर्मियों को मिल जाता है—आर्यसमाज ने जो सुधारात्मक कदम उठाये उनमें सहयोग न देकर इतर सम्प्रदायों के लोग आर्य समाज को ही नष्ट करने में लग गये। व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा नायक रामलाल न कर सके उसने प्रति देखी उसने माता भी कि 'कुलव हिन्दू से तो अच्छा ईसाई होकर रहना अच्छा है'[5] और यदि स्वामी आत्माराम का सहारा न मिलता तो पादरी के प्रेम को स्वीकार करके रामलाल का ईसाई होना असम्भव नहीं था। द्विवेदी जी ने हिन्दू धर्म की इस सिद्धान्तपरक अव्यावहारिक प्रवृत्ति को 'उधार धर्म' कहा है इसके विपरीत ईसाइयों का सम्प्रदाय 'नकद धर्म' है उससे तत्काल ही सामाजिक लाभ होता है, हिन्दू-धर्म के समान दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। दोनों धर्मों की तुलना करने पर एक की अवनति और दूसरे की उन्नति का चित्र स्पष्ट आँखों के सामने आ जाता है 'इधर रामलाल का स्वावलम्बन और उधर रेली पर उपासना करते हुए सहस्रा साधुओं की मुफ्तखोरी इधर हिन्दुओं के उधार धर्म की विडम्बना उधर ईसाइयों के नकद धर्म का उदाहरण इधर हमारी उदासीनता और उधर उनकी सहानुभूति।'[6] यही 'रामलाल' हिन्दू धर्म को सम्मा-

---

१ कल्याणी पृ १११-२ २ वही पृ १६ ३ रामलाल, पृ ५५
४ रामलाल पृ० ५८
५ वही, पृ० ६१
६ वही पृ ६४

व्यवहारिक बनाकर चिन्तन के संसार में बन्द कर बैठा है।

मन्नन द्विवेदी ने नई सभ्यता की प्रच्छा नहीं समझा परन्तु सुधारों का स्वागत किया है। यही कारण है कि ईसाइयों की पश्चिमी नकल उनको पसन्द नहीं आई, फिर भी उनके सद्गुणों के प्रति उपेक्षा का भाव भी नहीं है। जो लेखक शाहजादी जैसी नायिका की सृष्टि कर सकता है वह कितना उदार रहा होगा। शाहजादी नाम से मुसलमान परन्तु धर्म से ईसाई है रामलाल के प्रति उसका प्रेम सावित्री के समर्पण से किसी भाँति कम नहीं है 'मेरे लिए भगवान् और धर्म सब तुम हो—आप की दासी होना मेरे लिए स्वर्ग-सुख से बढ़ कर है।'[1] ईसाई होते हुए भी वह भारतीय है उसके उपयुक्त जीवन में राधा का रूप झांक रहा है। रामलाल और शिवदास के वार्तालाप के व्याज से लेखक ने भारतीय महिला और पाश्चात्य नारी की तुलना बड़े मनोरंजक शब्दों में करते हुए 'ऐमारिनो' से 'गंवारिनों' को उत्तम साबित किया है—

रामलाल—एक छींट का लहँगा और एक रंगे की ओढ़नी खरीद दीजिएगा।

शिवदास—नहीं एक गाउन सिलवा लेना।

रामलाल—पांच हाथ का घूँघट ज़मीन पर लटका देगी।

शिवदास—सर से साड़ी हटा देगी नागिन-सी वेणी से तुमको कटा देगी।

रामलाल—चर वालों से भी परदा ! यह भी कोई बात है।

शिवदास—देश भर के उठल्लू गुडमार्निंग कहते घर में घुस आते हैं यह भी कोई बात है।

रामलाल—मालूम नहीं क्यों गंवारिनों पर डरते हैं।

शिवदास—आप मालूम नहीं क्यों ऐमारिनों पर मरते हैं। (पृ १११)

लेखक को ईसाइयों से चिढ़ नहीं परन्तु पश्चिमी सभ्यता से असन्तोष है। वह हिन्दुओं के लिए, तात्विक मतभेद होते हुए भी एक सामान्य सुधारवादी योजना बनाना चाहता है। 'कल्याणी' उपन्यास में होली के अवसर पर उसने अपने विचार स्पष्टतः व्यक्त किये हैं —

'हमारी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में सुधरेगी जब तक लोग ठकुरौनी के फेर में पड़े रहेंगे जब तक निर्लज्ज होकर लोग कन्या-विक्रय करेंगे जबतक वृद्ध लोग युवती कन्याओं से विवाह करेंगे जब तक लोग मद्यपी और वेश्यागामी रहेंगे जब तक बालक-बालिकाओं को ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल-शिक्षा न होगी जब तक अपरिपक्व विचारों के परिपक्व युवक और युवती एकान्त सहवास करते रहेंगे। उस समय तक जब तक स्त्री-पुरुष पूर्ण सदाचारी न बन लें धर्म के तत्वों को पूर्ण रीति से अध्ययन चिन्तन और आचरण न कर लें तब तक पाश्चात्य सभ्यता का अनुयायी होकर उनके ढंग स्वतन्त्रता का उपभोग करना हमारे लिए हानिकारक है हमारे ऋषि-पूर्वजों के लिए अप्रतिष्ठाजनक है हमारे देश की सम्पत्ति के उसके उद्धार में बाधक है।

(पृ० १४६)

---

१ वही पृ ६

कुलीनता का कल्पित अभिमान'[1] 'दामाद के रुपये'[2] 'पति के मुंह देखे बिना असहाय विधवा'[3] भ्रूण-हत्या'[4] 'पैरों देवता ब्राह्मण पुरोहित'[5] 'पुरुष अपनी इच्छा अनुसार जब चाहें स्त्री का त्याग'[6] कर दे 'एक स्त्री के रहते दूसरा विवाह' 'महा नीच पुत्री-विक्रय का व्यापार'[7] आदि सामाजिक दोषों की 'कल्याणी' उपन्यास में घोर निन्दा है। यदि कोई इन कुप्रथाओं में सुधार करना चाहे तो पुराने लोग उसे फौरन क्रिस्तान या कम-से-कम आर्यसमाजी कहने लगते हैं—किशोरीलाल गोस्वामी तक ने 'रिफार्मर लोगों को 'नव्य समाज' का ही अंग बना दिया है। मुख्तार साहब की जब पाँचवीं युवती पत्नी अन्नपूर्णा की दशा दिन-दिन खराब होने लगी तो वे परेशान रहने लगे 'इस उम्र में अब ब्याह होना मुश्किल ही है। पहिले हो जाता लेकिन कम्बख्ता के मारे सब पुरानी बातें ही उठी जाती हैं। अब सब निस्वामी बाना का प्रचार होता जा रहा है।'[8] इसी प्रकार जब बुद्धू ने 'ठाकुर जी का खमा—दीन-दुखियों की सहायता' में लगा दिया तो 'सरदारी नाक भौंह सिकोड़ने लगी और रानी के कहा मालूम होता है लखनऊ जाकर बुद्धू आर्यसमाजी हो गया'।[9] नवीन सुधार हमारे देश में दो मार्गों से लाये गये हैं—पाश्चात्य प्रभाव से ब्रह्मसमाज द्वारा तथा वैदिक प्रभाव से आर्यसमाज द्वारा—यह ऊपर दिखाया जा चुका है।[10]

सुधार के सम्बन्ध में लेखक का ध्यान मुख्यतः दो वर्गों पर केन्द्रित रहा है—ब्राह्मण और नारी। चमार की पुत्री मनरखिया को अभी नामक रामलाल की धर्म-बहिन और सेठ पिपरास की धर्मपत्नी बनाकर उसने जाति प्रथा को तोड़ दिया है। सरदारी कहार और बुद्धसेन भर[11] का विवाह भी इस ओर एक कदम है। 'सिद्धान्तों को मानते हुए भी बिरादरी के डर से'[12] दब्बू बने रहने वालों को लेखक ने डाँट बताई है—'अगर बिरादरी के नियमों की ही दुहाई देनी थी तो आर्यसमाजी होने से क्या फायदा हुआ?'[13] आत्माराम अछूतों की दशा सुधारने के लिए 'भारतीय पतितोद्धारक समिति'[14] खोलना चाहते हैं अछूतों को इकट्ठा बसा कर उनको पढ़ा-लिखाकर उन्हें कोई कारीगरी सिखाना तथा 'अभागों के लिए कोई स्कूल'[15] खोलना उनका अभीष्ट है। 'कल्याणी' उपन्यास में 'जन्म से ब्राह्मण बनने वाले' बड़े-बड़े पापधारी त्रिपुंडधारी चौरमाल धनवान् कान्यकुब्ज'[16] व्यंग्य के विषय बने हैं। 'यहाँ के ब्राह्मणों में सब से बड़ी बात है विद्या का अभाव सरस्वती देवी पर इनकी अकृपा। अंग्रेजी पढ़ना ये लोग पाप बतलाते हैं संस्कृत उनको पढ़ना चाहिए जिनको भीख माँगनी हो हिन्दी पढ़ने में कुछ बुराई नहीं

---

१ कल्याणी पृ० २ | २ वही
३ कल्याणी पृ० ३ | ४ वही, पृ० ७६ | ५ वही पृ० ६६
६ वही पृ० ३७ | ७ वही पृ० २८ | ८ वही, पृ० ८८
९ वही पृ० ११४ | १० वही पृ० १०२ | ११ वै० पृ०
१२ वही पृ० १२६ | १३ वही पृ० १२८ | १४ वही पृ० १२८
१५ रामलाल पृ० १६१ | १६ वही, पृ० १७५ | १७ रामलाल पृ० २४

है लेकिन जिसको नौकरी नहीं मिलती है वह पढ़ कर क्या करेगा'[1]। आज ब्राह्मण यद्यपि वैसे नहीं रहे फिर भी उनकी बराबरी कौन कर सकता है। जब मुसलमान दरोगा के कहने पर ठाकुर के विरुद्ध कोई भी झूठी गवाही देने को तैयार न हुआ तो ब्राह्मणों ने ही उसकी सहायता की 'भला सैय्यद की मदद ब्राह्मण नहीं करेंगे'। ब्राह्मण लोग कहते हैं कि झूठ का पचा लेना मामूली आदमियों का काम नहीं है इसके लिए तेज चाहिए तेज! —ब्राह्मण भृगु ने खुद भगवान को लात मार दिया ठीक छाती में बड़े जोर का जमाया ऐसा कसके कि जिन्दगी भर उनको याद रहेगा—कोई शूद्र मजिस्टर ही को मार कर देख ले—'[2]। 'शूद्र दिन भर फावड़ा चलाता है एक आना पाता है, ब्राह्मण सेकेंड भर के 'कल्याण' कहने में उससे कहीं अधिक कमा ले जाता है।—तिस पर भी जो ब्राह्मणों का महत्त्व न माने उसको 'आर्यसमाजी' छोड़कर और क्या कहियेगा'[3]। एक ओर ब्राह्मणों का जन्मजात अहंकार दूसरी ओर वर्तमान अधोगति दोनों में कितना विरोध और कैसा मेल है। द्विवेदी जी ने खीझ कर लिखा है कि 'अगर ऐसा न होता तो काश्यप और भारद्वाज के वंशज आज पंखा-कुली बन कर पेट के लिए न तरसते'।[4] मानो उनकी दुर्बुद्धि की यह दुर्दशा उचित ही है। यदि जन्म से जाति न मानी जाय गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण का निर्णय हो तो समाज के अनेक अविद्या-जन्य दोष दूर हो सकते हैं।

नारी का सम्मान आर्यसमाज का मूल स्वर था यह कहा जा चुका है मन्नन द्विवेदी ने इसीलिए अपने दोनों उपन्यासों में महिला का आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। हिन्दू-समाज में नारी से सम्बन्ध रखने वाले जितने दोष हैं उनका विवेचन ऊपर हो चुका है। 'रामलाल' उपन्यास में उन्होंने लिखा है कि 'हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है कि जहाँ लड़कियों का बहुत कम आदर होता है'[5]। और 'जहाँ स्त्रियाँ तकलीफ पाती हैं वहाँ कल्याण नहीं हो सकता'[6]। जैसे बिच्छू के बच्चे अपने पैदा करने वाले का नाश कर देते हैं वैसे ही पुरुष लोग स्त्री जाति से जन्म ग्रहण करके बदले में उसी जाति का भयंकर संहार करते हैं'[7]। प्राचीन आर्य जितना स्त्री जाति को पूज्य मानते थे उतना नवीन सभ्यता में भी नहीं माना जाता'[8]। अछूतोद्धार के समान नारी के उद्धार के लिए भी एकमात्र उपाय शिक्षा है। 'रामलाल' उपन्यास में स्त्री शिक्षा की कई सफल योजनाएँ बताई गई हैं श्रीमती नीरादेवी की कन्यापाठशाला की 'दस-दस वर्ष की

---

१ कल्याणी पृ० ८८
२ वही पृ० १९
३ वही पृ० १११
४ वही पृ० २४
५ वही पृ० ७२
६ वही, पृ० २१
७ वही पृ० १०१
८ वही, पृ० १८५

बक्शियों ने बड़ी-बड़ी मेमों को महल में बुला लिया"[1]। आत्माराम भी 'महिला शिल्प विद्यालय' खोलना चाहते हैं। इन विद्यालयों से जो बहिनें निकलेंगी वे आवश्यकता पड़ने पर 'महाकाली बनकर अपने सतीत्व की रक्षा'[2] कर सकती हैं। शिक्षा के अनन्तर 'गुण कर्म और स्वभाव तीनों देख कर' युवक युवतियों का विवाह कर देना चाहिए, अन्यथा जाति के बन्धन में केवल माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हुए जो 'अनमेल विवाह' होंगे उनसे 'गार्हस्थ्य जीवन की गाड़ी कैसे' सुखपूर्वक चल सकती है? 'कल्याणी' उपन्यास का प्रारम्भ तो स्त्री जाति की दुर्दशा से ही होता है। चन्द्रकला, ब्रह्मचारी, बनराजि, गौरा जैसी देवियों की सृष्टि लेखक के उच्च आदर्श से प्रेरित है।

इन उपन्यासों में उक्त बड़ी समस्याओं के साथ-साथ लेखक ने श्राद्ध, देवोत्थान, रामलीला, ज्योतिष, देवसमाज तथा पुरातनपंथी पर भी प्रहार किया है। श्राद्ध के विषय में उनका एक वाक्य पर्याप्त होगा कि 'ब्राह्मण ज्योनार खाने के लिए इस तरह टूट पड़े हैं जैसे कुत्ते और गिद्ध श्मशान की ओर दौड़ते हैं'[3]। देवोत्थान में बन्दरों का नाचना, राम-लीला पर गरीब लड़कों को पकड़कर नाच नचाना, कपट की माया से 'गुलजार साहब' का विवाह और देवसमाजी बनकर 'परमात्मा से पिंड छुड़ाकर मनुष्य जाति का बड़ा भारी कल्याण'[4] कराते व्यंग्य हैं। 'रामलाल' उपन्यास में पटवारी, साहूकार तथा पुलिस और 'कल्याणी' में वकील, पोस्टमैन तथा पुलिस की धाँधली दिखाकर प्रेमचन्द के चित्रों की भूमिका तैयार कर दी गई है। जगलू को मोची बनाकर लेखक ने धर्मपरिवर्तन भी दिखाया है। 'नीम वाले साहब' की कोठी भी ग्रामीणों की दुर्दशा का एक केन्द्र है 'कितने ही घरों की बहुएँ निकाल ली गईं और बेचारे घरवाले रो-कलप कर रह गये कितने ही नवयुवक नौकरी के लालच में पड़कर मेटाज और कमरा भेज दिये गये'[5]।

ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बनकर रामलाल ने निश्चय किया कि 'काम तो मैं अंग्रेजी में भी कर सकता हूँ। लेकिन मेरा इरादा है कि सब काम हिन्दी में करूँ। इस से अपनी मातृभाषा का उपकार होगा'[6]। लेखक का सुधारवादी आदर्श है। इस उपन्यास में हिन्दी उपन्यास के सम्बन्ध में भी लेखक ने कुछ विचार प्रकट किये हैं। समय काटने के लिए 'रामलाल ने उपन्यास पढ़ने शुरू किए। जब आनन्द मिलने लगा तो रात दिन पढ़ने की धुन समा गई। 'काजल की कोठरी' से शुरू हुआ 'सुन्दर सरोजिनी', 'नरेन्द्रमोहिनी' और 'चन्द्रकान्ता' एक महीने में खतम हो गये'[7]। ये उपन्यास समय काटने और मन बहलाव के लिए थे, इनमें आदर्श की ओर झुकाव नहीं था। इसलिए शिवराम ने कई बार रामलाल को समझाया, 'उपन्यास नहीं पढ़ना चाहिए, मामा जीवनचरित और

---

१ वही पृ० १४
२ वही पृ० १११
३ रामलाल पृ० १४
४ कल्याणी, पृ० १६
५ वही पृ० १०८
६ रामलाल पृ० १६४
७ पृ० १६१
८ पृ० ११६

इतिहास पढ़ने चाहिए'। परन्तु रामलाल के मन न भाया। तब स्वामी जी ने रामलाल को भी समझाया 'उपन्यास पढ़कर क्यों अमूल्य जीवन व्यर्थ कर रहे हो। 'मानवमित्र' पढ़ो और अगर उससे समय बचे तो स्वामीजी कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पढ़ो। परन्तु रामलाल की सनक बढ़ती गई। 'डाके पर डाका' 'शैतान का बच्चा' 'माइन पर माइन' 'खून और नीलमपरी' खतम करके 'वनविहंगिनी' और 'स्वर्णलता' के अनुसार पढ़े गये। बंगाली नॉविल अच्छे मालूम हुए। 'माधवी कंकण' 'राधारानी' और रवीन्द्र बाबू के सब नॉविल करीब-करीब खतम हो गये। 'चोखेरबाली' उपन्यास के प्लाट पर रामलाल मुग्ध हो गया और शिवदास से कहने लगा—'ऐसा ऐसा अच्छा प्लाट मैंने कम देखा है'। शिवदास ने कहा—अगर तुम थैकरे का 'वैनिटी फेयर' पढ़ो तो मालूम हो जायगा कि रवीन्द्र बाबू का यह उपन्यास कहां तक स्वतन्त्र है'। इस चर्चा में लेखक ने केवल उन मौलिक एवं अनूदित उपन्यासों का संकेत किया है जो सामान्यतः नवयुवकों में प्रिय थे। ब्रजनन्दन सहाय ने आदर्श की दृष्टि से श्रीनिवासदास का नाम लिया है, परन्तु मन्नन द्विवेदी केवल मनोरंजन प्रधान उपन्यासों की ही सूची गिना रहे हैं इसलिए यहां 'सुन्दर सरोजिनी' तो है 'परीक्षा गुरु' नहीं। किशोरीलाल गोस्वामी तक के उपन्यास इस सूची में नहीं हैं शायद अधिकतर सामाजिक होने के कारण वे मनोरंजक उपन्यासों के समान लोकप्रिय न रहे हों। 'चोखेरबाली' 'वैनिटी फेयर' का झगड़ा उस समय चल गया होगा जिसका परिणाम 'रंगभूमि' से इन उपन्यासों की तुलना तथा मौलिकता पर विचार था।

'रामलाल' उपन्यास आदर्श की लेखनी से लिखा गया है। इसके सभी आदर्श पात्र दुर्बलता से रहित हैं। नायक रामलाल, स्वामी आत्माराम, सेठ शिवदास, नायिका शाहजादी, बहिन जगरानि और देवी मीरा का जीवन आदर्श एवं परोपकार का ज्वलन्त उदाहरण है। इन परस्पर तुल्य चरित्रों में नायक रामलाल सबसे उत्तम एवं महान् है। 'मनुष्य तो वह है जो संसार में रहकर संसार का न हो। उसीको कर्मयोगी कहते हैं जो कमलपत्र की तरह जल में रहता हुआ भी जल से अलग—अलिप्त रहता है'[१]। 'रामलाल में देशभक्ति और राजभक्ति भी दोनों एक साथ उचित मात्रा में मिली हुई थी'[२]। देवयोग से अकिंचन बालक रामलाल अपने गुणों के कारण ऑनरेरी मजिस्ट्रेट तक बन गया। प्रेम और धर्म दोनों का निर्वाह करते हुए वह अमर बन गया। वह पारस पत्थर के समान जहां कदम रखता वहीं सुनहरी जीवन बना देता था। इन आदर्श व्यक्तियों का सबसे बड़ा गुण परोपकार है जो रामलाल में सबसे अधिक है। 'दूसरी बिरादरी की लड़की को बहिन की तरह—बहिन से भी बढ़कर—जानना और मानना अपने पसीने की कमाई दूसरे को दे देना बहादुरी से कष्टों का सामना करना किसी के सामने हाथ न पसार कर अपनी बाहु के बल से लाखों रुपये पैदा करना सदा दीन दुखियों को सहायता देते रहना—इस अधम शरीर में इतने गुण इकट्ठे बहुत कम देखे

१ पृ० १२४
२ पृ० १११
३ पृ० ९९

जाते हैं'।[१] 'कल्याणी' उपन्यास के नायक 'श्याम नारायण का सबसे प्रधान गुण उनका परोपकार है'।[२] परोपकार का गुण नायक ने आर्यसमाज में सबसे अधिक देखा है। इसलिए वह व्यावहारिक दृष्टि से आर्यसमाज के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। स्वामी आत्माराम 'आर्यसमाज से बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—बहुत ठीक कहते हैं कि परोपकार के बराबर दूसरा धर्म नहीं—आर्यसमाज में परोपकार बहुत'[३] है। 'उद्योगी और वीर आर्यसमाजी नवयुवक'[४] धर्म तथा देश के हित का कार्य करने के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान कर देते हैं जबकि राम और कृष्ण को ईश्वर मानने वाले सनातनियों[५] को 'रुपये का लालच' चाहे जिधर मोड़ सकता है। रामलाल भी ऐसा ही उद्योगी तथा वीर है। वह आर्यसमाज का सदस्य न होते हुए भी आर्यसमाजी उत्साह एवं सद्गुणों से पूर्ण है। 'कल्याणी' उपन्यास का नायक श्याम परिस्थितियों के साथ कदम बढ़ाता हुआ आदर्श समाजसेवी बनता है जब कि 'रामलाल' उपन्यास का नायक अपने धैर्य परिश्रम एवं ईमानदारी से समाज-सेवा में योग देता है। इसीलिए सबको दुःखी बनाकर रामलाल उपन्यास से छूट जाता है कथा का मार्मिक अन्त करते हुए उसकी कहानी संघर्ष एवं आदर्श का हृदयस्पर्शी संगीत है—कल्पनालोक में छोड़कर बिह्वल बना देने वाला।

'रामलाल' उपन्यास में बाईस 'बयान' तथा 'उपसंहार' २२८ पृष्ठों में आये हैं। प्रत्येक 'बयान' का कोई शीर्षक भी है। शीर्षोद्धरणों के अतिरिक्त बीच में भी कविता गीतों के अनेक उद्धरण हैं। लेखक को भजन तथा इतिहास का बहुत शौक है इसलिए उपन्यास भावुकतापूर्ण एवं सजीव बन गया है। घटनाओं में अविश्वसनीय कुछ भी नहीं है। धार्मिक रूढ़ि के साथ-साथ आपसी का चित्रण प्रस्तुत उपन्यास की विशेषता है। 'पुलिस और अदालत' 'ईसाई परिवार', 'आर्यसमाज' 'कमबीर रामलाल तथा' दसरी का मेला और शुद्धि' शीर्षक इस बात के द्योतक हैं कि उपन्यास जगत् में कोई नवीन मोड़ आने वाला है जो मन का मौन और शासन को मुख्य स्थान देने लगेगा। लेखक की भाषा चलती हुई है उस पर पात्रोपयोगी प्रभाव है। 'कल्याणी' उपन्यास में कला की दृष्टि से कुछ प्रौढ़ता है। 'बयान' के स्थान पर 'परिच्छेद' भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता वर्णनों पर संयम निश्चित कथावस्तु तथा एक मुख्य कथा प्रौढ़ता के लक्षण हैं। लेखक का दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो गया है। दोनों उपन्यास शैली की दृष्टि से कथनात्मक हैं फिर भी लेखक से पाठक की बातचीत कम होती है। कथोपकथन कम हैं कथन में रुचि पूर्ववत् है। मदन द्विवेदी के दोनों उपन्यास आदर्श हैं जिनमें सामाजिक जीवन का विश्लेषण व्यावहारिक धरातल पर किया गया है। लेखक की

१ पृ० २२०
२ कल्याणी पृ० १८७
३ रामलाल पृ० १९१
४ वही पृ० ११७
५ वही पृ० ११७

शैली में आत्माभिव्यक्ति की सफल शक्ति है। उसके कुछ वाक्य निश्चय ही विकास की सूचना देते हैं —

(क) ब्राह्मण न्योता खाने के लिए इस तरह टूट रहे हैं जैसे कुत्ते और गिद्ध श्मशान की ओर दौड़ते हैं। (पृ० १४)

(ख) साबुन रगड़ने के समय इसका शरीर ऐसा मालूम होता है कि मानों किसी ने कोमल पर धुम इलका दिया हो। (पृ० १५)

(ग) भिसायती चीनी के बताशे राजा बलौगि की हड्डी की तरह सफेद-सफेद दिखाई पड़ते हैं। (पृ० १११)

(घ) सनातन धर्म सभा वाले मठधारी को देवी की भेंट शास्त्रार्थ करने को तैयार कर रहे हैं। (पृ० १४६)

(ङ) ऐसा खुराक वाले दो-तीन सौ साधु एक महीने में एक गाँव का सत्या नाश कर डालेंगे। (पृ० १६६)

(च) बुरा भुला दिया गया लेकिन रामलाल न भुलाया जा सका। (पृ० २२४)

(छ) मामी जी ने पतिदेव पर दो बार चरम प्रहार करके अपना कर्तव्य पालन किया। (अस्मापी पृ० ६६)

(ज) कलियुग में पापी वही है जो कलि-धर्म का पालन न करे। (पृ० १६१)

(झ) अगर बिरादरी के नियमों ही की बुराई देनी थी तो धार्मसमाजी होने से क्या फायदा हुआ। (पृ० २२८)

सरस्वती (अप्रैल सन् १९१७) पत्रिका में 'रामलाल' उपन्यास की समीक्षा निम्नलिखित शब्दावली में की गई थी

'यह उपन्यास मौलिक है और बड़ा मनोरंजक है। इसमें हमारे अधःपतन और सामाजिक कुरीतियों का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र खींचा गया है। देश प्रेम और जाति सेवा का उपदेश भी इससे खूब मिलता है। पुस्तक एक बार प्रारम्भ करने से बिना पूरा पढ़े कल नहीं पड़ती। हर्ष की बात है कि हिन्दी में भी ऐसे-ऐसे मौलिक उपन्यास लिखे जाने लगे।

४

ऐतिहासिक उपन्यास

अतीत के उपन्यास

'नॉवेल' की परिभाषा में जिन गुणों पर बल दिया गया है उनमें 'जीवन का यथार्थ चित्रण' मुख्य है। 'दि न्यू सेंचुरी एनसाइक्लोपीडिया' के अनुसार नॉवेल पर्याप्त आकार की उस सुश्लिष्ट कथावस्तुमयी रचना को कहते हैं जिसमें जीवन का वास्तविक चित्र हो और जिसके पात्र एवं घटनाएँ यथार्थ या यथार्थ के अनुरूप हों।[1] उपन्यासकार के सम्मुख जीवन तीनों कालों में प्रस्तुत रहता है इसलिए उसके उपन्यास वर्तमानकालीन भी हो सकते हैं और भूतकालीन एवं भविष्यकालीन भी। भविष्यकालीन उपन्यास सोद्देश्य कल्पना की उपज है। जबतक लेखक अपने पाठकों के सम्मुख अपना विशेष दृष्टिकोण प्रस्तुत करके उसका प्रचार करना नहीं चाहता तबतक वह भविष्यकालीन उपन्यास की रचना नहीं करता कारण कि भविष्यकालीन उपन्यास साहित्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है। हिन्दी में भी राहुल सांकृत्यायन ने 'बाईसवीं सदी' नामक भविष्यकालीन उपन्यास लिखा है जिसमें मार्क्स के दृष्टिकोण का अनुकरण करते हुए यह कल्पना प्रस्तुत की गई है कि भावी समाज का आधार साम्यवाद होगा। जिस प्रकार भविष्यकालीन इतिहास की रचना साधारणतः संभव नहीं है उसी प्रकार भविष्यकालीन उपन्यास भी यथार्थ के धरातल को छूता हुआ नहीं चलता—भविष्यकालीन उपन्यास वैज्ञानिक निष्कर्षों से अनुप्राणित होता हुआ भी कहीं न कहीं परी-की-कहानी बन जाता है। अस्तु, प्रायः उपन्यासकार की दृष्टि या तो वर्तमान पर रहती है या अतीत पर। वर्तमान काल के उपन्यास 'सामाजिक' (अथवा 'राजनीतिक आदि') कहे जा सकते हैं और अतीतकाल के 'ऐतिहासिक'। वर्तमान युग का इतिहास भी इतिहास ही है फिर भी 'इतिहास' से 'अतीत' का ही प्रायः बोध होता है। इसीलिए 'ऐतिहासिक' वर्ग में सामान्यतः अतीतकालीन उपन्यास ही स्थान पाते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में समकालीन जीवन के उपन्यास 'सामाजिक' माने गये हैं और अतीत-कालीन जीवन के उपन्यासों को 'ऐतिहासिक' नाम दिया गया है।

इतिहास अतीत के गर्भ में रहता है परन्तु समस्त अतीत इतिहास नहीं है।

---

१ दि न्यू सेंचुरी एनसाइक्लोपीडिया—वॉल्यूम ७

अतीत के गहन अन्तराल में घुस कर मानव के ज्ञान-विज्ञान ने जिस गहराई तक जीवन को पहुँचाया है उसी गहराई तक का अतीत 'इतिहास' नाम ग्रहण करता है। उसके पूर्व का अतीत 'प्रागैतिहासिक' है। प्रागैतिहासिक काल के उपन्यासों का मूल्य वही है जो भविष्यकालीन उपन्यासों का क्योंकि जिस अतीत का पुनरावर्तन लेखक केवल कल्पना के आधार पर करता है उसमें उसका व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण ही मुख्य है ऐतिहासिक सत्य नहीं। अतः 'जिस काल की कुछ भी प्रामाणिक (समकालीन) लिखित सामग्री (सिक्के, शिला-लेख, ताम्रपत्र तथा विवरण आदि) प्राप्य है उसे कथा-साहित्य के लिए ऐतिहासिक मान सकते हैं'[1]। परन्तु इस प्रामाणिक इतिहास का पुनरावर्तन भी सरल कार्य नहीं। इसमें केवल तथ्यों की आवृत्ति न होकर पुनराख्यान भी होता है। इतिहास विज्ञान एवं साहित्य दोनों के बीच की वस्तु है। इसलिए ऐतिहासिक अनुशीलन में वस्तुपरकता तथा तटस्थता केवल सिद्धान्त-मात्र के लिए है व्यवहार में इतिहास भी व्यक्तिगत दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। एक ही प्रामाणिक सामग्री को भिन्न-भिन्न इतिहास लेखक अलग-अलग महत्व देते हैं समकालीन जीवन का चित्रण भी कलाकार सत्य के प्रति ईमानदार होते हुए भी भिन्न-भिन्न ढंगों से करते हैं हमारे देश के मध्यकालीन इस्लामी इतिहास को मुसलमान इतिहासकारों यूरोपियन यात्रियों और हिन्दी के साहित्यिकों (बनारसीदास जैन आदि) ने अपने-अपने ढंग से अंकित किया है। इसीलिए डब्ल्यू एच० वाल्श का मत है कि वस्तुगत इतिहास-लेखन केवल आदर्श ही नहीं असम्भव है[2]। अतीत जिन बिखरे हुए उपकरणों को चुनता है वे इतिहास की केवल रूपरेखा तैयार करते हैं—एक सूखा हुआ कंकाल जिसमें रक्त मांस और प्राण का संचरण इतिहासलेखक का उत्तरदायित्व है। इतिहासकार वैज्ञानिक तथ्यों के ईंट चूने से जिस भवन का निर्माण करता है उसका चित्र (प्लान) उसके मन में रहता है और इसीलिए इतिहास भवन पूर्ण निर्माण के बाद साहित्य प्रासाद बन जाता है। इस प्रासाद में ईंट चूने का बहुत अधिक महत्व है फिर भी जब तक व्यवस्था के अनुसार स्थापित करके उनको आवृत न कर दिया जायगा तब तक प्रासाद को सुन्दरता एवं पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकेगी। इतिहास तथ्य-संकलन मात्र नहीं है उसके नाम तिथियाँ और घटनाएँ उपादान मात्र हैं उनको जोड़-जाड़ कर हम यह देखना चाहते हैं कि मानव सदा एक-सा ही रहा है अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् से निरन्तर संघर्ष करता हुआ वह सोत्साह आगे बढ़ता रहा है मानव-जगत् का इतिहास मानवता की विजय-यात्रा है। इस दृष्टि से विचार करने पर इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास एक दूसरे से बहुत दूर नहीं दिखलाई पड़ते।

इतिहास और उपन्यास के सम्बन्ध पर यथास्थान विचार हो चुका है।[3] यहाँ इतना कह देना और अभीष्ट है कि मूलतः इतिहास एक विज्ञान है इसलिए उसे समस्त

---

१ डॉ० [illegible] : ऐतिहासिक उपन्यास (आलोचना-विशेषांक)

२ [illegible]

३ दे० प्रथम अध्याय

उपलब्ध सामग्री का उपयोग करना पड़ता है भले ही लेखक अथवा पाठक की उसके प्रति रुचि न हो। इसके विपरीत ऐतिहासिक उपन्यास एक साहित्यिक विधा है इसमें लेखक की रुचि केवल तथ्यचयन ही नहीं करती वरन् सृजन भी करती है। दूसरे शब्दों में इतिहास का लक्ष्य केवल सत्य है और ऐतिहासिक उपन्यास का सत्य एवं सुन्दर। उपन्यास-लेखक इतिहासकार की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। डा० वृन्दावनलाल वर्मा के शब्दों में 'जिन स्थलों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता उनका कल्पना द्वारा सृजन करके उपन्यास-लेखक भूली हुई या खोई हुई शृंखला का निर्माण करता है'[1]। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के शब्दों में 'ऐतिहासिक उपन्यास आवश्यकता पड़ने पर जान-बूझ कर इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा कर सकता है क्योंकि एक तो उसका पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं दूसरे उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना न होकर तात्कालिक समाज प्रवाह का वेग दिखाना होता है'।[2]

ऐतिहासिक उपन्यासकार का काम अपेक्षाकृत कठोर है जिस युग में वह रहता है उसको भूलकर अतीत की सजीव कल्पना में अवगाहन करना सामान्य मनोयोग से संभव नहीं। इसीलिए अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास वर्तमान युग की समस्याओं को ही प्रतिबिम्बित करते चलते हैं। बहुत दिनों तक ऐतिहासिक उपन्यास किसी भी पुरानी कहानी को लेकर उसके भीतर मनुष्य का जीवन चित्रित करते रहते थे उनमें ऐतिहासिकता की अपनी कोई छाप नहीं थी परन्तु १८वीं शताब्दी में इंग्लैंड में ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि बदली और बीच के अन्धकार को चीरकर अतीत जीवन का अवलोकन कलाकार का लक्ष्य बना। आज ऐतिहासिक उपन्यासकार का यह कर्तव्य समझा जाता है कि वह उस जीवन का चित्रण उसी प्रकार करे जिस प्रकार कि किसी समकालीन लेखक ने किया होगा। इतिहास का उपन्यास पर शासन नहीं होना चाहिए, घटनाएँ और व्यक्ति उसी प्रकार चित्रित हों जिस प्रकार कि समकालीन जीवन का उपन्यास लिखते समय किये जाते हैं। उपन्यास जीवन का चित्र है घटनाओं का विवरण अथवा व्यक्तियों की वंशावली नहीं। अर्नेस्ट ए० बेकर ने ऐतिहासिक उपन्यास[3] के तीन अंग माने हैं —

(क) उस काल की स्मृतियाँ उपन्यासकार के मानस पर इतनी सजग एवं स्पष्ट हों मानो उसने स्वयं उस युग का जीवन भोगा हो और उस काल को किसी भी अन्य काल से अलग करने वाले रीति रिवाज सामाजिक प्रथा भावनाएँ तथा विचार उसके मन में इतने स्पष्ट हों जितने किसी भी समकालीन व्यक्ति के मन में रहे होंगे।

(ख) उस काल की विशेषताओं से परिपूर्ण मानव सामान्य जनता में उस

---

१ 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण' (नये पत्ते जनवरी-फरवरी १९५१)

२ वैशाली की नगरवधू

३ दि हिस्ट्री आफ दि इंग्लिश नॉवेल वॉल्यूम ६ पृ० १९०

न्यासकार का निकट सम्पर्क रहे साथ ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी वह परिचित हो।

(ग) उसका कलात्मक उपर्युक्त समस्त साधनों का पूरा उपयोग करता हो।

ऐतिहासिक उपन्यास में व्यक्ति और समाज दोनों को उचित स्थान मिल सकता है परन्तु कलाकार की भावना उनके विषय में विशेषज्ञ की भावना न होकर जन-सामान्य की भावना होगी। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति दूर बैठा हुआ अतीत पर जब विचार करता है तब उसकी स्मृति में घटनाएँ कम उनका प्रभाव अधिक आता है, व्यक्ति छूट भी जाएँ उनके कर्म आ जाते हैं उसे ऐतिहासिक शुद्धि-अशुद्धि का ध्यान ही नहीं रहता उसी प्रकार ऐतिहासिक कलाकार तथ्यात्मक सचाई को विशेष महत्त्व नहीं देता। सर वाल्टर स्काट ने 'केनिलवर्थ' में शेक्सपीयर को प्राधान्य प्रदान कर दिया है यद्यपि कथानक के काल में शेक्सपीयर एक सामान्य बालक था। बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' में युद्ध का 'वीरभूमि' को दिखाया है जब कि यथार्थतः वह युद्ध उत्तरी बंगाल में हुआ था और 'कैप्टिन एडवर्ड्स' का नाम बदल कर मेजर वुड कर दिया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'पन्नाबाई' उपन्यास में पण्डितराज जगन्नाथ को मुगल अकबर के दरबार में बुला लिया है जब कि उस समय पण्डितराज का जन्म भी न हुआ था। फिर भी आलोचकों ने इन तथ्यों का चित्रण सदोष न माना क्योंकि रचना में उस काल की आत्मा बसी हुई है[1]। 'जिस व्यक्ति में तनिक भी साहित्यिकता होगी वह यह न सोचेगा कि तथ्यों की पुनरावृत्ति से कोई उपन्यास ऐतिहासिक बन जाता है[2]।' ऐतिहासिक उपन्यास का सबसे मुख्य गुण ऐतिहासिक वातावरण है जो उस रचना को लोक-सामान्य की दृष्टि प्रदान करने से होता है। लोक-सामान्य की दृष्टि के ही कारण ऐतिहासिक उपन्यास में रोमानी आ जाती है। वाल्टर डेमहोम का मत है कि रोमानी कल्पना जो मन का स्वभाव है ऐतिहासिक उपन्यास में उच्चतम सफलता के लिए प्रायः अनिवार्य सी है इन उपन्यासों का लक्ष्य अथवा प्रभाव ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति सहानुभूतिक भाव को गम्भीरतर एवं दृढ़ बनाना है[3]। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले को अपनी रचना के प्रति लोक-सामान्य-दृष्टि ही रखनी पड़ती है और यह देखा जाता है कि लोक-सामान्य-दृष्टि किसी न किसी अंश में रोमानी होती है[4]। लोक की दृष्टि अत्युक्तिपूर्ण

---

१ एच० जे० सी० ग्रियर्सन सर वाल्टर स्कॉट, पृ० ११

२ जे० सी० बाथ रोमानी लिटरेचर पृ० १२४

३ लिटरेरी एस्सेज वॉल्यूम II पृ० १००

दि रोमान्टिक इमैजिनेशन इन इट्स हैबिट और पावर (इज़ ग्रेट इज़ वॉन इट) ... मोस्ट लाइक एन इम्पोर्टेन्ट हिस्टॉरिकल ... दि हिस्टॉरिकल नावेल। दि एम, हर ऐनी दि ... रीजन्स ... हिस्टॉरिकल पर्सनेजेज।

वही पृ० १०१

५ राइटर एण्ड दि हिस्टॉरिकल नॉवेल इन ग्लासगो ... दि पीपुल्स ... आफ दि

भावुक तथा स्थूल है जो ऐतिहासिक उपन्यासों का सफल आधार है।

प्रेमचन्द-पूर्व काल में उपन्यासों का मुख्य विषय सामाजिक तथा घटनात्मक था फिर भी लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे जिनकी मुख्य विशेषता थी इतिहास और उपन्यास की तराजू पर तुलना[1] बना जाना—इतिहास की भी रक्षा और उपन्यास की भी। भारतेन्दु-युग में गदाधरसिंह ने बंकिमचन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का हिन्दी में अनुवाद किया। तब से बंकिमचन्द्र का प्रभाव हिन्दी-उपन्यास विशेषतः हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर पड़ने लगा। 'दुर्गेशनन्दिनी' की रचना 'आधुनिक योरोपीय शैली' पर हुई थी। बंकिम से कुछ वर्ष पहले पूर्व सर वाल्टर स्काट (सन् १७७१ से १८३२ ई०) ने अंग्रेजी में ऐतिहासिक उपन्यास को एक नया रूप दिया था। स्काट के कुछ समय बाद भारतीय इतिहास को लेकर भी अंग्रेजी में उपन्यास लिखे गये—विलियम होस्ले का 'पाण्डुरंगहरि' (सन् १८२६) तथा मेजर टेलर के 'कन्फेशन्स ऑफ ए ठग' (सन् १८३६) 'टीपू सुलतान (सन् १८४) 'तारा' (सन् १८६३) 'राल्फ डारनेल' (सन् १८६५) तथा 'सीता' (सन् १८७२)[2] समकालीन भारतीय इतिहास के अंग्रेजी उपन्यास हैं। स्काट ने अतीत की कहानियाँ सुनाकर पाठक के मन में यह भावना जगाई कि पुराने समय के लोग भी हमारे ही समान थे और जो कुछ उनके जीवन में घटित हुआ वह ठीक वैसा ही है जो यदि हम उस समय होते तो हमारे जीवन में भी घटित होता।[3] परन्तु टेलर ने इतिहास में पाठकों की रुचि जगाई। बंकिम के उपन्यास स्कॉट और टेलर दोनों का मिश्रित रूप लिये हुए हैं, वे पाठक को अतीत का इतिहास बतला कर वर्तमान के सुधार में प्रयत्नशील हैं। बंकिम के पात्रों में उन व्यक्तियों का ऐतिहासिक रूप नहीं मिलता। यह इतने अस्पष्ट हैं कि यदि घटना अलग करके उनको देखा जाए तो उनमें कोई भी व्यक्तित्व नहीं है। उपन्यास की घटनाएँ केवल घटनाएँ हैं राजनीतिक धार्मिक तथा सामाजिक शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम नहीं।[4] बंकिम का राष्ट्रीय आदर्श हिन्दू राज्य है। जो कुछ बंकिम के विषय में कहा जा सकता है वह किशोरीलाल गोस्वामी के विषय में भी सत्य है। बंकिमचन्द्र स्काट से प्रभावित थे और उनके समान ही गोस्वामी थे फिर भी उनकी रचनाओं में ऐतिहासिक विवरणों का मोह है अतीत के जीवन रीति रिवाज रहन-सहन का वर्णन नहीं[5]।

सम्प्रेषण: व्यक्त कौशल्या से लिखे गये कहानी में दिल खोल कर अपना इतिहास हृदय से सब सम्मिलित से रागात्मक सम।

1. 'गुप्तकालीन नूतन हिन्दी ऐतिहासिक' पृ० ११-४
2. दि हिस्ट्री आफ दि इंग्लिश नावेल बेकर भ० पृ० ७६-८
3. एच ज सी० ग्रियर्सन सर वाल्टर स्कॉट पृ ५८
4. डॉ० सी० बोस बंगाली लिटरेचर पृ १६६
5. वही, पृ० २६६

न्यासकार का निकट सम्पर्क रहे साथ ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी वह परिचित हो।

(घ) उसका कथानक उपर्युक्त समस्त साधनों का पूरा उपयोग करता हो।

ऐतिहासिक उपन्यास में व्यक्ति और समाज दोनों को उचित स्थान मिल सकता है, परन्तु कलाकार की भावना उनके विषय में विशेषज्ञ की भावना न होकर जन-सामान्य की भावना होगी। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति दूर बैठा हुआ अतीत पर जब विचार करता है तब उसकी स्मृति में घटनाएँ कम उनका प्रभाव अधिक आता है व्यक्ति छूट भी जाएँ उनके कर्म आ जाते हैं उसे ऐतिहासिक युक्ति-अयुक्ति का ध्यान ही नहीं रहता उसी प्रकार ऐतिहासिक कलाकार तथ्यात्मक सचाई को विशेष महत्त्व नहीं देता। सर वाल्टर स्काट ने 'कनिल्वर्थ' में शेक्सपीयर को वास्तव प्रणाम कर दिया है यद्यपि कथानक के काल में शेक्सपीयर एक सामान्य बालक था। बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' में युद्धस्थल 'वीरभूमि' को दिखाया है जब कि यथार्थतः वह युद्ध उत्तरी बंगाल में हुआ था और 'कैप्टिन एडवर्ड्स' का नाम बदल कर 'मेजर वुड' कर दिया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'पन्नाबाई' उपन्यास में पण्डितराज जगन्नाथ को मुगल सम्राट् के दरबार में बुला लिया है जब कि उस समय पण्डितराज का जन्म भी न हुआ था। फिर भी आलोचकों ने उन तथ्यों का विभव सन्तोष न माना क्योंकि रचना में उस काल की आत्मा बसी हुई है[1] 'जिस व्यक्ति में तनिक भी साहित्यिकता होगी वह यह न सोचेगा कि तथ्यों की पुनरावृत्ति से कोई उपन्यास ऐतिहासिक बन जाता है[2]। ऐतिहासिक उपन्यास का सबसे मुख्य गुण ऐतिहासिक वातावरण है जो उस रचना को लोक-सामान्य की दृष्टि प्रदान करने में होता है। लोक-सामान्य की दृष्टि के ही कारण ऐतिहासिक उपन्यास में रोमानी आ जाती है। वाल्टर बैजहोट का मत है कि रोमानी कल्पना जो मन का स्वभाव है ऐतिहासिक उपन्यास में उच्चतम सफलता के लिए प्रायः अनिवार्य सी है इन उपन्यासों का सबसे बड़ा प्रभाव ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति नवानुरागिक भाव को गम्भीरतर एवं दृढ़ बनाता है[3]। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले को अपनी रचना के प्रति लोक-सामान्य दृष्टि ही रखनी पड़ती है और यह देखा जाता है कि लोक सामान्य-दृष्टि किसी न किसी अंश में रोमानी होती है। लोक की दृष्टि अयुक्तिपूर्ण

---

१ एच के डी मिल्सन सर वाल्टर स्कॉट, पृ ११

२. के डी बोस बंगाली लिटरेचर पृ १५४

३. लिटरेरी स्टडीज वॉल्यूम II पृ १००

दि रोमान्टिक इमैजिनेशन वज व हैविट ऑफ स्कार (एज वी मे थूम इ कोल इट) आफ मास्टर लिंग इज आॅम्मास्ट सैन्शियल इ दि हायस्ट सक्सेस इन दि हिस्टोरिकल नावेल। दि एम, एट लेनी रेट दि स्कैक आफ दिस क्लास ऑफ वर्क्स सीम्स इ वी इ डीपन एण्ड कन्फर्म दि रिलीजस एण्ड आफ हिस्टॉरिकल एसोसिएशन।

वही पृ २०१

द ग्रेटर पार्ट ऑफ दि हिस्टोरिकल नॉविल्स इज बाउण्ड वाइ दि पोपुलर आमीपाल आफ दिस

भावुक तथा स्थूल है जो ऐतिहासिक उपन्यासों का सफल आधार है।

प्रेमचन्द-पूर्व काल में उपन्यासों का मुख्य विषय सामाजिक तथा घटनात्मक था फिर भी लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे जिनकी मुख्य विशेषता थी इतिहास और उपन्यास की तराजू पर तुलना[1] बना जाना—इतिहास की भी रक्षा और उपन्यास की भी। भारतेन्दु-युग में गदाधरसिंह ने बंकिमचन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का हिन्दी में अनुवाद किया। तब से बंकिमचन्द्र का प्रभाव हिन्दी-उपन्यास विशेषतः हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर पड़ने लगा। 'दुर्गेशनन्दिनी' की रचना आधुनिक योरोपीय शैली पर हुई थी। बंकिम से कुछ दशाब्दियों पूर्व सर वाल्टर स्काट (सन् १७७१ से १८३२ ई०) ने अंग्रेजी में ऐतिहासिक उपन्यास को एक नया रूप दिया था। स्काट से कुछ समय बाद भारतीय इतिहास को लेकर भी अंग्रेजी में उपन्यास लिखे गये—विलियम होब्ले का 'पाण्डुरंगहरि' (सन् १८२६) तथा कर्नल टेलर के 'कन्फेशन्स आफ ए ठग' (सन् १८३६) 'टीपू सुलतान' (सन् १८४०) 'तारा' (सन् १८६३) 'राल्फ डारनेल' (सन् १८६५) तथा 'सीता' (सन् १८७३)[2] समकालीन भारतीय इतिहास के अंग्रेजी उपन्यास हैं। स्काट ने अतीत की कहानियाँ सुना कर पाठक के मन में यह भावना जगाई कि पुराने समय के लोग भी हमारे ही समान थे और जो कुछ उनके जीवन में घटित हुआ वह ठीक वैसा ही है जो यदि हम उस समय होते तो हमारे जीवन में भी घटित होता।[3] परन्तु टेलर ने इतिहास में पाठकों की रुचि जगाई। बंकिम के उपन्यास स्काट और टेलर दोनों का मिश्रित रूप लिये हुए हैं, वे पाठक को अतीत का इतिहास बतला कर वर्तमान के सुधार में प्रयत्नशील हैं। बंकिम के पात्रों में उन व्यक्तियों का ऐतिहासिक रूप नहीं मिलता वे इतने अस्पष्ट हैं कि यदि घटना अनाप करके उनको देखा जाए तो उनमें कोई भी व्यक्तित्व नहीं है। उपन्यास की घटनाएँ केवल घटनाएँ हैं राजनीतिक धार्मिक तथा सामाजिक शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम नहीं।[4] बंकिम का राष्ट्रीय आदर्श हिन्दू राज्य है। जो कुछ बंकिम के विषय में कहा जा सकता है वह किशोरीलाल गोस्वामी के विषय में भी सत्य है। बंकिमचन्द्र स्काट से प्रभावित थे और उनके समान ही रोमानी थे फिर भी उनकी रचनाओं में ऐतिहासिक विवरणों का मोह है अतीत के जीवन रीति रिवाज रंग-ढंग का उतना नहीं[5]।

[illegible] प टेम्पिल बम।

१ 'गुलनारा' दूसरा हिस्सा पाँचवाँ बयान पृ० १३०

२ दि हिस्ट्री आफ दि इण्डियन मार्केन वॉल्यूम ७, पृ० ४१-४

३ एच ज सी ग्रियर्सन सर वाल्टर स्कॉट पृ० ५८

४ जे सी घोष बंगाली लिटरेचर, पृ० १५५

५ वही, पृ० १५६

हिन्दी के प्रथम मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनका सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास 'तारा वा क्षात्र-कुल-कमलिनी' सन् १९ २ में प्रकाशित हुआ था। इनके बाद क्रमशः मिश्र गंगाप्रसाद गुप्त[1] जयरामदास गुप्त[2] मथुराप्रसाद शर्मा[3] बलदेवप्रसाद मिश्र[4] गिरिजानन्द तिवारी[5] ब्रजनन्दन सहाय तथा मिश्र बन्धुओं आदि के नाम लिये जा सकते हैं। सामाजिक और घटनात्मक उपन्यासों की भरमार में ऐतिहासिक उपन्यासों की इतनी न्यूनता यह बतलाती है कि प्रेमचन्द पूर्व-काल ऐतिहासिक उपन्यास के लिए उपयुक्त नहीं था। इस काल में जितनी रचनाएँ हुईं वे इतिहास का सहारा ही लेकर अपना काम चलाती रहीं। सामाजिक उपन्यास समकालीन 'सच्ची घटना' पर जीते थे और इतर उपन्यास अतीत की बातें सुनाकर मनोरंजन करते थे—'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का 'भूतनाथ' और 'सन्तति' का 'रोहितास्व' पूर्ण घटनात्मक रंग में इतिहास के छींटे हैं। जो उपन्यास ऐतिहासिक बतलाये गये हैं उनमें इतिहास तो थोड़ा-बहुत है परन्तु 'ऐतिहासिकता' नहीं। हाँ अनैतिहासिकता भी चित्रित नहीं की गई। इतिहास के लिए इस काल के लेखक समस्त देश में घूमते रहे 'काश्मीर में हुजपाल में कमलप्रभा की मुग्धता और सतीत्व रक्षा कुमारसेना की नीचता और मंत्रीमण्डली की क्रूरता' चित्रित है तो 'कमलावती' उपन्यास में 'राजा प्रतापसिंह का पराक्रमी पवन की लड़ाई पर शिकार खेलने जाना—दासकन्या के हाथ से राजपद का छिना छीनना' आदि का वर्णन है 'माधवराणी' उपन्यास में 'बीजापुर की घन लड़ाई का वर्णन है जो सन् १७६४ में हुई थी और आज तक 'युद्ध तिलिस्मोर' के नाम से प्रसिद्ध है' तो 'पंजाब पतन' में 'सिक्खों और अंग्रेजों की जो जो भयानक लड़ाइयाँ हुईं जिन रीतियों से अंग्रेजों ने पंजाब को विजय किया है इस उपन्यास में उनका पूरा वर्णन है'[6]। मध्यकालीन इतिहास से प्रभावशालिनी घटनाओं को लेकर लेखकों ने जो उपन्यास लिख दिये हैं उनको ऐतिहासिक बतलाने का उन्होंने प्रयत्न किया है। सत्य तो यह है कि उस युग के उपन्यासकार की युग-चित्रण में कोई रुचि नहीं थी वह घटनाओं से पाठक का मनोरंजन करता था। लेखकों की मुख्य प्रेरणा मध्यकाल का राजपूतों का मुसलमानों के साथ एक सहस्र वर्ष का संघर्ष उपन्यास का गौरवपूर्ण आकर्षण है अधिकतर उपन्यासकारों ने इसी का चित्रण किया है। कर्नल टाड कृत राजस्थान का इतिहास अनेक कथानकों का आधार बना पराजय में आत्मगौरव की रक्षा करने वाले राष्ट्र वीरों ने उपन्यास-लेखकों को प्रेरित किया। यहाँ किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त मथुराप्रसाद शर्मा जयरामदास गुप्त ब्रजनन्दन सहाय और मिश्रबन्धुओं के एक-एक

१ प्रमुख रचनाएँ—'नूरजहाँ' (सन् १९ २), 'हम्मीर' (सन् १९ ४)
२ प्रमुख रचनाएँ—काश्मीर पतन नवाबी परिस्तान।
३ प्रमुख रचनाएँ—नूरजहाँ बेगम (सन् १९०५)।
४ प्रमुख रचनाएँ—'कमलावली' (सन् १९) पानीपत (सन् १९०२) पृथ्वीराज चौहान
५ प्रमुख रचना—'पद्मिनी' (सन् १९ २) (सन् १९ २)
६ उपन्यास-लहर-ऑफिस बनारस के विज्ञापन से।

उपन्यास पर सामान्य प्रवृत्ति की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

आलोच्य-काल के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सर्वप्रथम पंडित किशोरीलाल गोस्वामी का नाम है। इनके ६५ उपन्यासों में से आधे को अलग-अलग गिन कर दो दर्जन से अधिक उपन्यास ऐतिहासिक हैं। इनका प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'आदर्श रमणी या हृदयहारिणी' है जो सन् १८९० में दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' में छपा था। यही हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है जो पुस्तकाकार सन् १९०४ में ही छप चुका। गोस्वामी जी बंगाली प्रभाव से सर्वप्रथम समकालीन बंगाली इतिहास की ओर आकृष्ट हुए थे फलतः उनके प्रथम दो उपन्यास 'आदर्शरमणी या हृदयहारिणी' तथा 'लवंगलता या आदर्शबाला' उसी भूभाग का चित्रण करते हैं। बंकिम की हिन्दू राष्ट्रीयता से प्रभावित होकर ही कदाचित् किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मुसलमानों का मलिन चित्रण किया है और उन्हीं के चरित्र का रहस्य प्रकट करने वाले कथानक रचना के लिए ग्रहण किये हैं। बंगाल के साथ-साथ उन्होंने आगरा दिल्ली तथा लखनऊ केन्द्रों के भी उपन्यास लिखे और उनमें शासन के रहस्यों का सनसनीपूर्ण उद्घाटन किया। उनका सबसे सफल ऐतिहासिक उपन्यास 'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी' है जिसमें लेखक ने अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट किया है। अतः सर्वप्रथम इसी उपन्यास पर विचार करना अधिक समीचीन होगा।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी

'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी' उपन्यास की रचना सन् १९०२ में हुई थी इसका दूसरा संस्करण सन् १९१४ में निकल चुका था। इस उपन्यास के तीन भाग हैं जो अलग-अलग जिल्दों में छपे थे। लेखक ने 'तारा' को 'ऐतिहासिक उपन्यास' मुखपृष्ठ पर लिखा है। इस उपन्यास की बड़ी प्रशंसा हुई। पं० माधवप्रसाद मिश्र[1] ने 'तारा' को पढ़कर पं० किशोरीलाल गोस्वामी को एक प्रशंसात्मक पत्र में लिखा था —

'आपकी 'तारा' के अवलोकन से जो कुछ आनन्द प्राप्त हुआ उसे प्रकाश किये बिना नहीं रहा जाता। हिन्दी के इतिहास-रहित उपन्यासागार में ज्योतिर्मयी 'तारा' अपनी ओर रसिकों का चित्त आकर्षण करेगी इसमें सन्देह नहीं। इसके तीसरे भाग में आर्य्य राठौरनन्दिनी ताराबाई की उस पत्रिका के पाठ से जो उसने वीरवर पृथ्वीसिंह के नाम लिखी थी आपकी काव्यकुशलता और मार्मिकता का भलीभांति परिचय मिलता है। इस प्रकार की प्राणस्विनी एवं सरस कविता न केवल मनोविनोद ही का कारण है प्रत्युत इससे आत्मविस्मृत देश का उपकार भी हो सकता है।

'हिन्दी-बंगवासी'[2] में भी इस उपन्यास की समस्त ऐसी ही समीक्षा की थी —

---

१ किशोरीलाल गोस्वामी रचित नाट्यसम्भव (रूपक) (१९०४ ई०) में एक विज्ञापन से।
२ हिन्दी बंगवासी ६ अप्रैल सन् १९०२।

मुसलमान शासन में स्त्री-जाति की जो दुर्दशा हुई वह रोचक भी है और घृणित भी।[1] उस काल पर उपन्यास लिखने वाला उस चीज़ से बच नहीं सकता। इन उपन्यासों में भी इसीलिए उस सामग्री को स्थान मिल गया है। रहस्य व्यक्ति (विशेषतः नारी) के जीवन के हों या शासन की कड़ी (सुरंग, तिलिस्म, तहखाने आदि) के— इन उपन्यासों के प्राण हैं। सामान्यतः लोक-साहित्य का जीवन 'युद्ध और प्रेम' है परन्तु इन उपन्यासों में युद्ध के स्थान पर छल-छद्म-भय बातें (तिलिस्म, सुरंग, हत्या, कत्ल, षड्यन्त्र आदि) आ गयी हैं और प्रेम के स्थान पर ऐन्द्रिय व्यभिचार क्योंकि ये उपन्यास जिस काल के हैं उस काल में सबसे अधिक फैली हुई ये ही चीज़ें थीं।

यदि किशोरीलाल अपने समय से पच्चीस वर्ष बाद हुए होते, यदि उनके युग तक सामाजिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये होते, यदि मध्ययुग के दोषों को अनदेखा करके देश की दुर्दशा का एकमात्र कारण अंग्रेज़ी शासन को ठहराने की प्रथा चल गई होती, यदि उपन्यास में चरित्रचित्रण को ही मुख्य महत्त्व मिल गया होता, यदि वे श्रद्धा के कारण मध्ययुगीन इतिहास के निकट गये होते तो उनके उपन्यासों में इतिहास का यह रूप न मिलता जो आज उपलब्ध है। जयशंकरप्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा ने जिस इतिहास को चुना वह उनके सपनों का काल है, उनका मन उस काल के प्रति श्रद्धा-वनत होता है और वह उनके वातावरण से रोमांचित हो जाता है। इसके विपरीत किशोरीलाल गोस्वामी उस समय के अन्य सामाजिक नेताओं के समान देश की अधोगति का कारण खोजते-खोजते मध्ययुग तक पहुँचे और इस्लामी शासन के विकारों को देखकर स्वयं भी आश्चर्यचकित हो गये और पाठक को भी उनसे सावधान करने लगे। यही कारण है कि वे इस्लामी संस्कृति का चित्रण सफलतापूर्वक नहीं कर पाये हैं। योग्य शासक, मेलजोल से रहने वाली शान्तिप्रिय प्रजा, मिश्रित भोजन एवं वस्त्र, कला के विशाल स्मारक एवं सुखी-निश्चिन्त दरबारियों की ओर उनका ध्यान गया ही नहीं, और यदि गया भी तो निराश होकर लौट आया। अस्तु, यदि उनकी तुलना सफल ऐतिहासिक उपन्यासकारों से की जाये तो उनका स्थान बहुत ऊँचा नहीं है। परन्तु यदि यह परीक्षा की जाय कि जिन रहस्यों का उन्होंने उद्घाटन किया है वे पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव डालते हैं या नहीं तो वे सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण हो जाते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी युद्ध का सन्देश देकर मानो वे राष्ट्र को आत्मविश्वासी बना रहे हैं यही उनके ऐतिहासिक उपन्यासों का गौरव था —

---

१ 'तारा' उपन्यास के 'निवेदन' में दिये गये ऐतिहासिक विवरण को देखिए—"—महल में [illegible] से अधिक बान्दियाँ थीं, उनमें दो हिस्से थे—एक अन्तःपुर की बेगम (जो विवाहिता होती थीं), और दूसरी वे कि जिनकी [illegible] से बहुत ही [illegible] थी, केवल भोग-विलास के लिए चुन-चुन कर रक्खी जाती थीं। उनको यदि बच्चे होते तो वह महल के अन्दर ही मार डाले जाते थे और शाहज़ादियाँ [illegible] कि ब्याही नहीं जाती थीं [illegible] के पद में रहती थीं।

'दुःख-सुख सदा किसी का बराबर स्थिर नहीं रह सकता। जो कल सुखी था आज उसके दुःख का वारापार नहीं है और जो एक दिन दुःखी दिखाई देता था वह आज संसार में अपने से बढ़कर किसी को सुखिया नहीं समझता। बस यही इस माया-मय संसार की गति है और इससे किसी का भी छुटकारा नहीं होता। ईश्वर सबको ऐसा ही सुखी-चिरसुखी करे। (तारा तीसरा भाग पृ० ८१)

तारा या क्षत्र-कुल कमलिनी उपन्यास की कथा इतिहास प्रसिद्ध है। अकबर के समय से ही राजपूत राजा आगरा और दिल्ली के मित्र और सहायक बन गए थे। इनमें जोधपुर के महाराजा गजसिंह का नाम उल्लेखनीय है। वे जहाँगीर के परम हितैषी थे। गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र का नाम अमरसिंह था जिनका सम्बन्ध इस उपन्यास से है। रानी की मृत्यु के बाद गजसिंह ने दूसरा विवाह किया। छोटी रानी से दो पुत्र हुए यशोवन्तसिंह जो साहित्य के इतिहास में 'भाषा-भूषण' के लेखक-रूप में प्रसिद्ध हैं और अचलसिंह। अचलसिंह की मृत्यु बाल्यावस्था में हो गई थी। गजसिंह ने असन्तुष्ट होकर ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया और उनको राज्य से निकाल दिया। अमरसिंह पिता की आज्ञा मानकर अपनी पत्नी (बूँदी की राजकुमारी) चन्द्रावती और अपनी ६ वर्ष की कन्या 'तारा' को साथ लेकर पिता के राज्य से बाहर हो गये। उनके साथ कुछ विश्वासपात्र सरदार भी थे। इधर जहाँगीर की मृत्यु के बाद राजकुमारों में सिंहासन के लिए झगड़ा चलने लगा। नूरजहाँ चाहती थी कि उसका दामाद गद्दी पर बैठे, परन्तु राजपूतों की सहायता से शाहजादा खुर्रम शाहजहाँ के नाम से सिंहासन पर बैठ गया। इस आन्तरिक कलह में अमरसिंह ने शाहजहाँ की विशेष सहायता की थी। शाहजहाँ ने उनको तीन हजार सवारों की मनसबदारी और जागीर दी यमुना के किनारे उनके लिए एक महल भी बनवा दिया। तब से अमरसिंह शाहजहाँ के विश्वासपात्र बन गये यह देखकर नवाबी सलाबतखाँ उनसे मन ही मन जलने लगा। मुमताजमहल की मृत्यु के बाद सल्तनत रौशनआरा और जहाँनआरा के हाथ में चलने लगी। रौशनआरा औरंगजेब से मिली हुई थी सलाबत भी उसी गिरोह में था। जहाँनआरा दारा के पक्ष में थी वह तारा की सहेली भी थी हकीम इनायतुल्ला इनका सहायक था। इस बीच तारा बड़ी हो गई थी और उसका विवाह उदयपुर के युवराज राजसिंह के साथ निश्चित हो गया था। इधर सलाबत और दारा दोनों की तारा पर कुदृष्टि थी। अपनी सहेली रम्भा की सहायता से तारा ने दोनों को खूब छकाया और आगरा से राजसिंह के साथ निकल भागने का उपाय किया। सलाबत इस प्रयत्न में बाधा डालना चाहता था। अन्त में अमरसिंह ने सबके सामने सलाबत के कलेजे में कटार भोंक दी और दूसरी कटार से शाहजहाँ पर भी आक्रमण किया। उस कटार के लगने से पत्थर के खंभे की एक कार्निस चिट्टी पड़ गई जिसका निशान आज तक बना हुआ है। मारकाट मचाते हुए अमरसिंह आगरा के किले से निकल रहे थे कि उन पर आक्रमण हुआ और उनका घोड़ा किले से बाहर कूदता हुआ मारा गया। आज भी उस स्थान पर एक पत्थर का घोड़ा बना है जिसको शाहजहाँ ने बनवाया था। शाहजहाँ को

जब सारी घटना की वास्तविकता का पता लगा तो उनको बहुत पश्चात्ताप हुआ उसने अमरसिंह का नाम अमर करने के लिए उस फाटक का नाम 'अमरसिंह का फाटक' रख दिया जिस पर उस राठौर-वीर ने मारकाट मचाई थी। बनवारी कवि (सन् १६४४-४५ के लगभग) ने इस घटना का बड़ा चमत्कारी वर्णन किया है —

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलाबत खान॥
+　　+　　+
कहे बनवारी बादशाही के तखत पास
फरकि फरकि लोथ लोथिन सों अरकी।
हिन्दुन की हद सब राखी तै अमर सिंह
कर की बड़ाई कै बड़ाई जमधर की॥

इस कथानक में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है राव अमरसिंह का सलाबतखाँ को भरे दरबार में मार देना और स्वयं शत्रुओं के हाथ से मारा जाना। किस कारण अमरसिंह सलाबत पर इतने क्रुद्ध हुए यह विवादरहित नहीं है। डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना लिखते हैं कि सन् १६४४ ई० में जहाँआरा के कपड़ों में आग लग गई जिससे वह स्वयं भी काफ़ी जल गई थी। अमरसिंह भी उन दिनों बीमारी के कारण दरबार से अनुपस्थित थे। २५ जुलाई को वे वापिस आये तो सलाबत उनको बादशाह के पास ले गया। अमरसिंह बायीं ओर खड़े थे बादशाह कोई हुक्म लिख रहा था सलाबत दायीं ओर से नीचे उतर कर किसी अफसर से बात करने लगा। अकस्मात् अमरसिंह उसकी ओर बढ़े निकाल कर पीछे और सलाबत की बायीं ओर पूरी भोंक कर उसको वहीं मार डाला[1]। लाहौरी के 'पादशाहनामा' में लिखा है कि अमरसिंह को यह शक हुआ कि सलाबत उनके विरुद्ध शिकायत कर रहा है।[2] डच पादरी बाल्दयूस लिखता है कि उक्त घटना ४ अगस्त सन् १६४४ ई० को दोपहर के बाद हुई थी और इसका कारण यह था कि सलाबत खाँ ने अमरसिंह से यह पूछ कर कि 'वह दरबार में इसके पहिले क्यों नहीं हाज़िर हुए, उन्हें क्रुद्ध कर दिया था'।[3] बीमार होने के कारण या जैसा कि अमरसिंह के कवि बनवारी का कथन है छुट्टी से अधिक दिन व्यतीत करने पर किये गये जुर्माने के रुपये न देने के कारण सलाबतखाँ बख्शी ने दरबार में उसके लिए तकाज़ा किया जिस पर इन्होंने रोष प्रकट किया। सलाबतखाँ ने इस पर इन्हें गँवार कहा जिससे क्रुद्ध होकर इन्होंने उसे मार डाला।[4]

राव अमरसिंह अकस्मात् ही क्रुद्ध होकर सलाबत को मार बैठे हों ऐसा सम्भव नहीं लगता। उनका सलाबत से मनोमालिन्य अवश्य चल रहा होगा कारण बीकानेर

---

१ हिस्ट्री आफ शाहजहाँ आफ दिल्ली १९५८
२ बाल्दयूस १, पृ० ३८० (अनु० इस पुस्तक में उद्धृत)
३ [illegible] पृ० ७१
४ वही पृ० ७०

की मीमा[1] हो अथवा तारा। इस घटना के बाद सलीमुल्लाह खाँ और अर्जुन का अमरसिंह पर आक्रमण करना भी किसी पुराने वैर का द्योतन करता है। अमरसिंह के साथियों को जब इस दुर्घटना का पता लगा तो उन्होंने विट्ठलदास के पुत्र अर्जुन से अमरसिंह की मृत्यु का बदला लिया।[1] उपन्यासकार का मत है कि इस वैर का कारण दुष्ट सलाबत की राजकुमारी तारा पर कुदृष्टि थी।

इस कल्पना का मुख्य आधार राजस्थान की अनुश्रुतियाँ हैं। कर्नल टाड के अनुसार मुगल शाहजादे ने मारवाड़ के रूपनगर की राजकुमारी को अपनी बेगम बनाना चाहा परन्तु स्वाभिमानिनी राजपूत-कन्या ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और सीसोदिया राजसिंह को अपना प्राण समर्पित कर के उनकी रक्षा का सन्देश कुल पुरोहित के हाथ भेज दिया। सन्देश में कहा गया था कि क्या हंसनी कभी बगुले की साथिन हो सकती है? क्या पवित्र राजपूतनी कभी यवन को पति मान सकती है? यदि तुमने रक्षा न की तो मैं सतीत्व की रक्षा करती हुई प्राण-विसर्जन कर दूँगी।[2] लेखक ने इस घटना को ज्यों का त्यों दे दिया है और ऊपर कहा जा चुका है कि इसकी मान्यता की सभी आलोचकों ने प्रशंसा की है। तारा मारवाड़ राज की ही थी। उस पर शाहजादा दारा कुदृष्टि रखता था। राजसिंह ने उसका उद्धार किया और उसको अपनी पत्नी बनाया। वारिस के 'बादशाहनामा' के अनुसार किसी राव अमरसिंह की पुत्री का विवाह दारा के ज्येष्ठ पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ सन् १६५४ में हुआ था[4]। इन सब बिखरे हुए तथ्यों के प्रकाश में गोस्वामी जी की कहानी तथ्यात्मक भले ही कम हो परन्तु भावना में ऐतिहासिक ही है और राजपूती इतिहास का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करती है।

बंकिमचन्द्र ने भी प्रसिद्ध उपन्यास 'राजसिंह' (सन् १८८२ ई०) में इस इतिहास को अपने कथानक का आधार बनाया है। परन्तु उनकी कल्पना ने टाडकृत राजस्थान के इतिहास से बहुत सहायता ली है। अतः नायिका का नाम चंचलकुमारी है। वह रूपनगर की राजकुमारी थी। औरंगजेब उसको प्राप्त करना चाहता था। गोस्वामी जी ने इतिहास से सहायता लेते हुए भी कल्पना को पर्याप्त स्वतन्त्रता दे दी है।

उपन्यास की कथावस्तु का केन्द्रस्थल आगरा का राजमहल है और जिन उन दो तीन वर्षों का है जब शाहजहाँ को जीवन से हताश जानकर उसके राजकुमार सिंहासन के लिए छुप-छिप कर दाँव-पेंच चला रहे थे। इतिहास की दृष्टि में तो दो घटनाएँ मुख्य हैं—रोशनआरा तथा जहाँनआरा के छिपे-छिपे प्रयत्न और अमरसिंह का अपमान पर रोष। इन दोनों घटनाओं को जोड़ने वाली कड़ी अमरसिंह के विरोधी सलाबत

---

१ वही, पृ० ७२

२ एनाल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान पृ० १ १

३ एनाल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान पृ० ३०१

४ हिस्ट्री आफ शाहजहाँ आफ दिल्ली, पृ० ३११

खाँ का रोशनआरा के दल से सम्बन्धित होना है। यह प्रसिद्ध है कि मुमताजमहल की मृत्यु के बाद शाहजहाँ की दोनों लड़कियां जहाँनआरा और रोशनआरा अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करने लगीं थे दोनों अविवाहिता थी इसलिए उनका सारा प्रयत्न अपने को शक्तिशाली बना कर जीवन को सुखी बनाने का था। जहाँनआरा दारा को सिंहासन दिलाना चाहती थी दारा हिन्दू-संस्कृति से प्रभावित था इसलिए उसे राजपूतों से सहायता मिलने की आशा थी। रोशनआरा औरंगजेब को राजा बनाना चाहती थी वह धर्म का पक्का था सम्भवतः उसका सदाचार था अन्त में रोशनआरा की जीत हुई। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था वह दिल का कठोर परन्तु चरित्र का अच्छा था यह प्रसिद्ध है कि वह टोपियां सी कर अपनी जीविका कमाता था। आगे चल कर अमरसिंह के सौतेले भाई जसवन्तसिंह जिनके कारण अमरसिंह को राज्यच्युत होना पड़ा था औरंगजेब के विश्वासपात्र बने यहां तक कि कई लड़ाइयों में उनको सेनापति बना कर भेजा गया। यद्यपि औरंगजेब ने हिन्दुओं पर नृशंस अत्याचार किये परन्तु गुरु रामराय की विद्वता से प्रभावित हो कर उसने जागीर दी थी और जिस मन्दिर के लिए धन दिया था वह देहरादून में अब तक विद्यमान है। इसके विपरीत 'तख्ते ताऊस का वारिसी हकदार दारा बड़ा आलिम, अक्लमन्द मिलनसार और फैयाज' था परन्तु जहाँनआरा के मन्त्रित्व या अपने स्वभाव के कारण वह 'मजहब व ईमान का गैर पाबन्द बेदीन बेशुरीयत' बन गया था। यह निश्चय है कि यदि दारा में मनोबल और आत्मबल होता तो उत्तराधिकारी होते हुए और हिन्दुओं की सहायता रहते हुए जहाँनआरा के रोब-मेल में बहक कर अपने लक्ष्य से भ्रष्ट न हो जाता।

लेखक ने आगरा के अन्तःपुर के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करते हुए समस्त घटनाचक्र की कुञ्जी[1] जहाँनआरा और रोशनआरा के हाथों में दे दी है। शाही खान्दान की मर्यादा की शिकार बनकर अपने मन को मसोसे हुए, आँस चाटकर प्यास बुझाने का प्रयत्न करती हुई तथाकथित प्रेम में असफल ये हताश प्रेमिकाएं बाधाओं को अपने रोष से खाक कर देने में कटिबद्ध रहती थी। 'तृष्णा से भरे हुए झूठे प्रेम में बाधा पड़ने पर उस प्रेम या प्रेमपात्र का यही नतीजा होना भी है'[2]। ये दोनों शाहजादियां उपन्यास के असत् पक्ष का आधार और शाही महलों की राजकुमारियों की सामान्य प्रतिनिधि है। इसके विपरीत राजपूत-बाला तारा जो उपन्यास की नायिका भी है इस रचना के सद् पक्ष का आधार है। रोशनआरा और जहाँनआरा की करतूतों के दो पार्टों में—

---

१ 'तारा' उपन्यास पहला भाग पृ० ११

२ शाहजहाँ—कामी, कामिनयता। इस वक्त मुगलसल्तनत की कुंजी तुम्हारे हाथ में है। (तारा पहला भाग पृ० १८)

"जो कुछ उस समय राजचक्र चलता था, उसकी डोर जहाँनआरा ही के हाथ में थी उसी डोर को अपने हाथ में करने के लिए रोशनआरा ने कैसा जाल रच था —।

(वही, दूसरा भाग, पृ० ३)

३ तारा उपन्यास, पहला भाग, पृ० ४४

उनकी ईर्ष्या—तृष्णा और अतृप्त लालसा-वासना में—बेचारी तारा पिस कर भी सलामत न निकल सकी। यह उपन्यास, गोस्वामी जी के अन्य उपन्यासों के समान ही नायिका-प्रधान है और प्रतिपाद में जाकर सद् असद् का संघर्षजन्य विजय कहा किया गया है, सद् (तारा) दृढ़ एकनिष्ठ एवं शान्त है उसकी सफलता भी इसी गुण की रक्षा[1] में है असद् में चंचलता असन्तोष एवं तृष्णा है इसलिए उसके भीतर स्वयं संघर्ष है उसके अनेक रूप हैं—जहाँनआरा रोशनआरा दारा मुराद आदि, इन रूपों मे जो सबसे अग्रगामी है वे (रोशनआरा और जहाँनआरा) नेतृत्व करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास के पुरुष-पात्र उदासीन अपूर्ण और युवतियों के हाथ में खेलने वाले हैं मुहीउद्दीन और गुलरुख अपने को क्रमशः जहाँनआरा और रोशनआरा का प्रेमी समझते हैं दारा और औरंगजेब अपने को सिंहासन का अधिकारी शाहजहाँ अपने को बादशाह और सलाबत अपने को भक्ती समझता है परन्तु हैं सबके सब जहाँनआरा और रोशनआरा के खिलौने ही। तारा (सत्पक्ष) साधु एवं निश्छल है उसकी पूरक रम्भा है जो मायावियों से जूझने के लिए[2] स्वयं मायाविनी बन जाती है उसकी चातुर्यरचना का इस उपन्यास में इतना ही महत्व है। उपन्यास को सुखान्त कह सकते हैं क्योंकि सद् की जय तथा असद् की पराजय हो गई दृढ़ एवं एकनिष्ठ तारा का राजसिंह से विवाह हो गया और रम्भा चन्द्रावत के साथ सुखी बन गई। यही जीवन का प्रवृत्ति पक्ष है जिसको लेखक ने अन्तिम बोल 'ता रे ना नी—'[3] से व्यक्त किया है।

उपन्यास के तीन भाग हैं पहिले मे संघर्ष का प्रारम्भ दूसरे में गति और तीसरे में अवसान है। संघर्ष का प्रारम्भ बड़ा स्वाभाविक है। जहाँनआरा और रोशन आरा महल के नौकर-चाकरों के साथ छिप कर प्रेम-क्रीड़ाएं किया करती थीं। शाह जहाँ को जहाँनआरा की लीला का पता लग गया उसने मुँह लगी शहजादी से तो कुछ न कहा परन्तु उसके प्रेमपात्रों मुहीउद्दीन और नजीरखाँ को मरवा डाला। जहाँन आरा उत्तराधिकारी दारा की भी प्रिय बहिन थी उसने अपने कलंक को बचाने के लिए बादशाह से रोशनआरा के प्रेम प्रपंच का हाल कह दिया। बादशाह ने रोशन आरा के प्रेमपात्र गुलरुख को भी हम्माम के भीतर कत्ल करा दिया। 'यह ऐसी घटना है कि रोशनआरा जहाँनआरा ही की नहीं वरन् शाहजहाँ की पूरी-पूरी वैरिन बन गई और इस घटना ने औरंगजेब की तरफदारी में रोशनआरा के चित्त को बहुत

---

१ 'रक्षा—राजपूतों की लड़कियाँ जबकि उनकी शादी एक से पक्की हो जाती है तो फिर दूसरे शख्स के साथ शादी करने के बनिस्बत वे अपनी जान दे देना बेहतर समझती हैं। (वही पृ० १८)

२ 'रम्भा—ऐसे पेचे मुल्क मे लोग करते हैं कि बिना इस विद्या के यह दुष्टों से इज्जत आबरू बचाना हासिल हो जाय है। (तारा, दूसरा भाग पृ० ११)

३ वही, तीसरा भाग, पृ० ७०

का भी रोशनआरा के रूप से सम्बन्धित होता है। यह प्रसिद्ध है कि मुमताजमहल की मृत्यु के बाद शाहजहाँ की दोनों लड़कियाँ जहाँनआरा और रोशनआरा अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करने लगीं वे दोनों अविवाहिता थीं इसलिए उनका सारा प्रयत्न अपने को शक्तिशाली बना कर जीवन को सुखी बनाने का था। जहाँनआरा दारा को सिंहासन दिलाना चाहती थी दारा हिन्दू-संस्कृति से प्रभावित था इसलिए उसे राजपूतों से सहायता मिलने की आशा थी। रोशनआरा औरंगजेब को राजा बनाना चाहती थी वह धर्म का पक्का था सामान्यतया उसका व्यवहार था अन्त में रोशनआरा की जीत हुई। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था वह दिल का कठोर परन्तु चरित्र का स्वच्छ था यह प्रसिद्ध है कि वह टोपियाँ सी कर अपनी जीविका कमाता था। आगे चल कर अमरसिंह के सौतेले भाई जसवन्तसिंह जिनके कारण अमरसिंह को राज्यच्युत होना पड़ा था औरंगजेब के विश्वासपात्र बने यहाँ तक कि कई लड़ाइयों में उनको सेनापति बना कर भेजा गया। यद्यपि औरंगजेब ने हिन्दुओं पर नृशंस अत्याचार किये परन्तु गुरु रामराय की विद्वत्ता से प्रभावित हो कर उसने जायदाद दी थी और जिस मन्दिर के लिए धन दिया था वह देहरादून में अब तक विद्यमान है। इसके विपरीत 'तख्ते ताऊस का वारिसी हकदार दारा बड़ा आलिम अक्लमन्द मिलनसार और फैयाज' था परन्तु जहाँनआरा के मश्विरा या अपने स्वभाव के कारण वह 'अव्वल दर्जे का जिद्दी खुदगर्ज मग़रूर बन गया था'। यह निश्चय है कि यदि दारा में मनोबल और आत्मबल होता तो सत्ताधिकारी होते हुए और हिन्दुओं की सहायता रहते हुए जहाँनआरा के दाँव-पेंच में बहक कर अपने लक्ष्य से भ्रष्ट न हो जाता।

लेखक ने आगरा के अन्तःपुर के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करते हुए समस्त घटनाचक्र की कुञ्जी[2] जहाँनआरा और रोशनआरा के हाथों में दे दी है। शाही खान्दान की मर्यादा की शिकार बनकर अपने मन को मसोसे हुए, ओस चाटकर प्यास बुझाने का प्रयत्न करती हुईं तथाकथित प्रेम में असफल ये हताश प्रेमिकाएँ वासना को अपनी रौंद से दाब कर देने में कटिबद्ध रहती थीं। 'तृष्णा से भरे हुए झूठे प्रेम में बाधा पड़ने पर उस प्रेम या प्रेमपात्र का यही नतीजा होता भी है'[3]। ये दोनों शाहजादियाँ उपन्यास के असद् पक्ष का आधार, और शाही महलों की राजकुमारियों की सामान्य प्रतिनिधि हैं। इसके विपरीत राजपूत-बाला तारा जो उपन्यास की नायिका भी है, इस रचना के सद् पक्ष का आधार है। रोशनआरा और जहाँनआरा की करतूतों के दो पाटों में—

---

१ 'दारा' उपन्यास पहला भाग पृ० ११

२ शाहजहाँ—कमबख्त जहाँनआरा। इस वक्त हुकूमत की कुञ्जी तुम्हारे हाथ में है। (दारा पहला भाग, पृ० ६८)
'जो कुञ्जी उस समय राज्य का ख़जाना था, उसकी डोर जहाँनआरा ही के हाथ में थी उसी डोर को अपने हाथ में करने के लिए रोशनआरा ने कैसा जाल रचा था —।'
(वही दूसरा भाग, पृ० ६)

३ दारा उपन्यास, पहला भाग पृ० ४४

उनकी ईर्ष्या—तृष्णा और अतृप्त लालसा-वासना में—बेचारी तारा पिस कर कहीं उन्मत्त न निकल सकी। यह उपन्यास गोस्वामी जी के अन्य उपन्यासों के समान ही नायिका-प्रधान है, और परिवार में जाकर सत् असत् का संघर्षमय चित्रण यहाँ किया गया है। सत् (तारा) दृढ़ एकनिष्ठ एवं शान्त है। उसकी सफलता भी इसी गुण की रक्षा¹ में है। असत् में चंचलता असन्तोष एवं तृष्णा है इसलिए उसके भीतर स्वयं संघर्ष है, उसके अनेक रूप हैं—जहाँनआरा रोशनआरा दारा मुराद आदि। इन रूपों में जो सबसे बलशाली हैं वे (रोशनआरा और जहाँनआरा) नेतृत्व करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास के पुरुष-पात्र उदासीन अबूझ और युवतियों के हाथ में खेलने वाले हैं। नुरुद्दीन और गुलरुख अपने को क्रमशः जहाँनआरा और रोशनआरा का प्रेमी समझते हैं। दारा और औरंगजेब अपने को सिंहासन का अधिकारी, शाहजहाँ अपने को बादशाह और मुराद अपने को बख्शी समझता है परन्तु हैं सबके सब जहाँनआरा और रोशनआरा के खिलौने ही। तारा (सत्पक्ष) ऋजु एवं निश्छल है उसकी पूरक रम्भा है जो मायावियों से जूझने के लिए² स्वयं मायाविनी बन जाती है। उसकी मायाचारिता का इस उपन्यास में इतना ही महत्व है। उपन्यास को सुखान्त कह सकते हैं क्योंकि सत् की जय तथा असत् की पराजय हो गई। दृढ़ एवं एकनिष्ठ तारा का राजसिंह से विवाह हो गया और रम्भा चम्पावत के साथ सुखी बन गई। यही जीवन का प्रवृत्ति पक्ष है, जिसको लेखक ने अन्तिम बोल 'हा रे दा नी—'³ से व्यक्त किया है।

उपन्यास के तीन भाग हैं। पहिले में संघर्ष का प्रारम्भ, दूसरे में गति और तीसरे में अवसान है। संघर्ष का प्रारम्भ बड़ा स्वाभाविक है। जहाँनआरा और रोशनआरा महल के नौकर-चाकरों के साथ छिप कर प्रेम क्रीड़ाएं किया करती थीं। शाहजहाँ को जहाँनआरा की लीला का पता लग गया उसने मुँह से भी जहाँनआरा से तो कुछ न कहा परन्तु उसके प्रेमपात्रों नुरुद्दीन और नजीरखाँ को मरवा डाला। जहाँनआरा उत्तराधिकारी दारा की भी प्रिय बहिन थी उसने अपने कलंक को बचाने के लिए बादशाह से रोशनआरा के प्रेम प्रपंच का हाल कह दिया। बादशाह ने रोशनआरा के प्रेमपात्र गुलरुख को भी हम्माम के भीतर भस्म करा दिया। यह ऐसी घटना है कि रोशनआरा जहाँनआरा ही की नहीं वरन् शाहजहाँ की पूरी-पूरी बैरिन बन गई और इस घटना से औरंगजेब की तरफदारी में रोशनआरा के चित्त को बहुत

---

१ 'रक्षा—राजपूतों की लड़कियां जबकि उनकी शादी एक से पक्की हो जाती है तो फिर दूसरे शख्स के साथ शादी करने के बनिस्बत वे अपनी जान दे देना बेहतर समझती हैं।' (वही पृ० १८)

२ 'रम्भा—ऐसी ऐसी तुम्हें ... जोश करते हैं कि दिल ... से सब दुष्टों से रक्षक बचाना हरगिज हो गया है।' (तारा, दूसरा भाग पृ० २१)

३ वही, तीसरा भाग, पृ० ८०

सहायता की[1]। इधर तारा की निगाह शाहजादी दारा पर गई तो वह इस सरल सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया उसने सलावत खां से इस काम में सहायता मांगी। 'उस अलौकिक सुन्दरता को देखकर कामी सलावत उस समय ऐसा पागल हुआ था कि यदि वह अपनी लड़की को भी इतना हसीन देखता तो शायद ही अपने तईं मुश्किल से सम्हाल सकता'[2]। 'इश्क की बदौलत सलावत भी औरंगजेब का सहायक बन गया तारा की सफलता में सबसे बड़ी बाधा[3] जहांआरा थी उसका प्रण था "मैं शादी हर्गिज न होने दूंगी। तारा जैसी नाजुक और खूबसूरत नाजनी के आगे तारा पर मेरी एक न चलेगी"[4]। संघर्ष की गति दूसरे भाग में है। इस में जासूसी (जिसकी रोशनआरा के हाथ में लगाम है[5]) ऐय्यारी (जिसके कारण रम्भा तारा की सहायता कर सकी[6]) और तिलिस्म के मनोहर चमत्कार है—दिल्ली के किले से आगरे के किले के अन्दर तक चली जाने वाली सुरंग[7] अन्य संगमर्मर की पटिया और बेहोशी के गोले अन्य ऐतिहासिक तत्व हैं। तीसरे भाग में मुकम्मल सिंह तारा का पत्र लेकर राजसिंह के पास जाते हैं यह पत्र ६ पृष्ठ की कविता है जिसकी प्रशंसा का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अन्त में राजपूत बालाओं का उद्धार हो गया यद्यपि राव अमरसिंह दुष्ट सलावत को मार कर स्वयं भी खेत रहे। आगरा के सम्बन्ध में शाहजहां का पश्चाताप और औरंगजेब के उत्तराधिकार का संकेत और शेष है। अन्तिम परिच्छेद में राजसिंह-तारा एवं बाजावत रम्भा को सुखी एवं सानन्द दिखा कर उपन्यास का अन्त सुख में हो जाता है। उपन्यास की आधिकारिक कथा तारा के संकट और उद्धार की कहानी है इसलिए वही नायिका है और रचना का नामकरण उसी के नाम पर है। प्रासंगिक कथाएं हैं ही नहीं उनके संकेत मात्र मिलते हैं। प्रारम्भ से अन्त तक पाठक की उत्सुकता समान रहती है कथानक के आकार प्रकार, गठन एवं विभाजन को देखकर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि यह तीन अंक के नाटक के लिए अत्यन्त उपयुक्त तथा सफल बन सकता है।

उपन्यास के पात्र जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, गुणों के प्रतिनिधि हैं व्यक्तित्व की प्रतिमा नहीं। ई० एम फोर्स्टर के शब्दों का व्यवहार करते हुए इन

---

१ तारा पहला भाग पृ० ४४

२. वही, पहला भाग पृ ४६

३. देखा—वही कि जहानआरा रानी मन में सबसे से बढ़कर किसी खूबसूरत नाजनी का कांटा अपने दिल में नहीं चाहती।' (वही पहला भाग पृ ५३)

४ तारा दूसरा भाग पृ ११

५ वही पहला भाग पृ० ६८

६ वही दूसरा भाग पृ० १२

७ वही, वही पृ २

पात्रों को फ्लैट' कहा जा सकता है। प्राचीन लोक-साहित्य में प्राय: ऐसे ही पात्र होते थे। जिनका निर्माण किसी विशेष गुण के आधार पर होता था उनका विकास नहीं दिखाया जाता प्रथम बार मिलने पर ही पाठ उनको पूरी तरह समझ लेंगे। ऐसे पात्र पाठक को कभी आश्चर्य[2] में नहीं डालते। इनमें अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता। किसी भी विशेष घटना से उनके स्वभाव में परिवर्तन नहीं आता। 'तारा' उपन्यास के मुख्य पात्र तारा, जहानआरा रोशनआरा दारा सलाबत रम्भा हैं इनका पूरा रूप जितना इस उपन्यास के लिए आवश्यक है चित्रित कर दिया गया है अमरसिंह राजसिंह चन्द्रावत इनायतुल्ला अर्जुन और चन्द्रावती सामान्य पात्र हैं जिनका यथास्थान उपयोग कर लिया गया है शाहजहां औरंगजेब आदि ऐतिहासिक नहीं आते कुछ छोटे-मोटे पात्र शाहजादियों के प्रेम-पात्र दूती कुटिनी जासूस आदि हैं। इस प्रकार पात्रों की दृष्टि से इस उपन्यास में बड़ी कसावट है। लेखक ने चरित्रचित्रण तीन प्रकार से किया है—स्वयं अपनी वाणी से दूसरे पात्रों के मुख से और पात्र के क्रियाकलाप से प्रथम शैली अत्यन्त सफल और अन्तिम शिथिल है। हिन्दू राजकुमारी और मुसलमान शाहजादियों को एक ही कसौटी—रूप गुण विवाह चरित्र सौन्दर्य निष्ठा आदि—पर कस कर मानो उनकी तुलना करते हुए एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट सिद्ध कर दिया है। दारा और सलाबत के व्यक्तित्व समान होते हुए भी स्वतन्त्र है। अर्जुन को छोड़कर शेष हिन्दू पात्रों में राजपूती आदर्श के सामान्य गुण हैं। केवल रम्भा इसका अपवाद है रम्भा का मनश्चित्रण लेखक का उद्देश्य नहीं परन्तु उस किशोरी में चतुराई एवं माया की समस्त विद्या दिखाकर मानो यह सिद्ध किया है कि शाहजादियां इस माया का अपनी वासना के लिए प्रयोग करती हैं और राजकुमारियां अपनी रक्षा के लिए विधान एक ही है परन्तु पात्रभेद से उसका उपयोग अलग-अलग होता है। लेखक ने तो जहानआरा के शब्दों में तारा को भी 'चालाक और खूबसूरत'[3] बना दिया है। रम्भा पर तरस खाने' वालों को यह भी जानना चाहिए कि छल-छिद्रों का ज्ञान और उनको अपने अधीन करने की योग्यता चरित्र का कोई दोष नहीं है मायावियों के बीच में रह कर उनकी चालें न समझना मानसिक अविकास है परन्तु छका कर अपनी रक्षा करना प्रतिभा का चिह्न है सिन्ध की राजपूती सूर्यकुमारी के समान दूसरी कभी बालाएं भी विधर्मियों के चंगुल में फंस कर अपनी चतुराई से उनके सरदारों का खून बहाकर क्या स्वयं अपने सतीत्व की रक्षा नहीं कर सकी हैं? लेखक

---

१ 'एस्पेक्ट्स आफ दि नावेल' पृष्ठ ६१
इन दिअर प्यूरेस्ट फॉर्म दे आर कन्स्ट्रक्टेड राउण्ड ए सिंगल आइडिया और क्वालिटी।

२ ई० एम० फोर्स्टर : आस्पेक्ट्स आफ दि नावेल पृ० १०६
एण्ड दे नैवर सरप्राइज्ड दट इज फ्लैट।

१ तारा दूसरा भाग पृ० ११

२ हिन्दी-उपन्यास पृ० ८६

ने अपने एक उपन्यास 'खूनी औरत का सात खून' में एक किशोरी वीर-बाला को सतीत्व की रक्षा के लिए सात अत्याचारियों के खून की कारवाई सौंपी है। इतिहास वेत्ताओं को दारा के चरित्र पर आपत्ति हो सकती है, ऊपर दिखाया जा चुका है कि दारा को हिन्दू शास्त्रों की अवश्य सम्मति मिली होगी परन्तु उसमें मनोबल का अभाव था अन्यथा वैध अधिकारी होकर पिता और बहिन की सहायता एवं राजपूतों के सहयोग से भी वह सिंहासन क्यों प्राप्त न कर सका। सत्य यह है कि औरंगजेब और दारा की तुलना में इतिहास पहिले को कट्टर परन्तु दूसरे को मुलायम पाता है, इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

'किशोरीलाल के 'तारा' उपन्यास में इतिहास का जो रूप लिया है उसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। देशकाल का वातावरण की सृष्टि इसी इतिहास से हुई है। देश में उस समय जैसी राजनीतिक परिस्थिति थी उसका चित्रण तो इतिहासकारों को स्वीकार्य ही होगा क्योंकि उसमें कल्पना का विशेष सहारा नहीं लिया गया। आरम्भ होती है शाही राजमहल के भीतर चलने वाले घटना चक्रों पर। राजनीति मानो छलिया-लिप्सा और कूट-नीति बन गई थी। सारा वातावरण भय और संशय से भरा हुआ था। 'जिस नाजनीन पर बादशाह या शाहजादा की नजर पड़ जाती वह फिर बगैर हरम में दाखिल हुए नहीं रह सकती'[1]। शाहजादियों के प्रेमी छिपकर गुसल की राह से हम्माम में पहुँच जाते और अपनी जान से हाथ धो बैठते थे। 'बहुतेरी मक्कारा बूढ़ी बन जासूसी और भले घर की हसीन औरतों को निकाल लाने या खराब करने का पेशा भी करती थीं'[2]। गुलामों और खूबसूरत बांदियों का उस समय चस्का था। अलाउद्दीन, अकबर, जहाँगीर चाहे जिसको देखिए सभी कामुक और लम्पट थे। उनके दरबारियों का भी यही हाल था। शाहजहाँ का शासनकाल तो ऐयाशी के लिए प्रसिद्ध रहा है। बर्नियर का आरोप है कि शाहजहाँ का अपनी बड़ी पुत्री जहाँनआरा के साथ अवैध सम्बन्ध था[3]। मनूची और टैवेर्नियर ने इसी प्रकार की अन्य बातें लिखी हैं। बर्नियर उच्च कोटि का विद्वान् था। उसकी निरीक्षण-शक्ति[4] बड़ी सूक्ष्म तथा तीव्र थी। मनूची जहाँनआरा का विशेष कृपा-पात्र था। अस्तु, इन लेखकों के विवरण न तो निरीक्षण की दृष्टि से सदोष माने जा सकते हैं और न उन पर पक्षपात का दोष लगाया जा सकता है। अतएव स्मिथ महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शाहजहाँ और उसकी बड़ी पुत्री पर जो दोष पूर्ण दोष लगाये गये हैं उनको सिद्ध करना कठिन है परन्तु उनका खण्डन आसान नहीं।[5]

---

१ तारा उपन्यास प्रथम भाग, पृ० १८

२ वही, पृ० ४२

३ वही, पृ० ५१

४ हिस्ट्री ऑफ शाहजहान ऑफ दिल्ली पृ० २०

५ वही पृ० २११

अपने अस्तबल के दरोगा पर, जो एक अत्यन्त सुन्दर, बलिष्ठ और युवा था और प्रति-दिन उसकी बगल में हाथ का सहारा देकर उसे घोड़े पर चढ़ाया करता था आसक्त हो गई और उसे 'अमीरुल-उमरा' का खिताब दे बैठी। इस कारण दरबारियों का जी उससे फिर गया। इस उपन्यास की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने कल्पना से कम और इतिहास से अधिक सहायता ली है। इस तथ्य को लेखक ने उपोद्घात में उद्देश्य-रूप से स्वीकार किया है 'पढ़ने वाले उपन्यास के साथ ही साथ कुछ-कुछ इतिहास का भी आनन्द लें जिसमें लोगों की रुचि केवल उपन्यास ही पर न रह कर इतिहास की ओर भी झुके जिससे हिन्दी भाषा में जो इतिहास का बिलकुल अभाव है, वह मिटे'। यूरोपीय लेखकों के अतिरिक्त उस रचना में बाबू श्याम सुन्दरदास के 'ऐतिहासिक विषय के संग्रह' राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के 'इतिहास तिमिरनाशक' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'बादशाह दर्पण' और बाबू नगेन्द्रनाथ मित्र के 'रज़ियाबेगम' नामक बंगला प्रबन्ध से भी सहायता ली गई है। इस उपन्यास का दूसरा उद्देश्य जिसे वास्तविक अथवा मुख्य उद्देश्य भी कहा जा सकता है उस सुभाषित[1] की यथार्थता का चित्रण करना है जिसमें यह कहा गया है कि यौवन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व और अविवेक इन चारों में से एक-एक भी अनर्थ का कारण बन जाता है, परन्तु जहाँ चारों ही एकत्र विद्यमान हैं वहाँ कितना घोर अनर्थ होगा—यह कहना कठिन है। रज़िया के पास दुर्भाग्यवश चारों ही दुर्गुण एकत्र हो गये फलतः न 'उसने सल्तनत का मज़ा उठाया और न जवानी का'[2]। लेखक का विश्लेषण बड़ा मनोवैज्ञानिक और सहानुभूतिपूर्ण है वह सारा दोष रज़िया के माथे नहीं मढ़ता प्रत्युत यौवन-वसन्त में प्रेम के कुसुम को स्वाभाविक मानता है। मुखपृष्ठ[3] पर तथा रचना के भीतर उसने कई शायरों के उद्धरण यह दिखाते हुए दिये हैं कि प्रेम जितना स्वाभाविक है उतना ही निष्ठुर भी। जो बच गया वह भाग्यशाली है अन्यथा 'इश्क में कितनी ख़ाक न गई'।

उपन्यास का नाम 'रंगमहल में हलाहल' दो अर्थों के लिए बड़ा उपयुक्त है। स्थूल रूप से इसमें शाही रंगमहल के भीतर चलने वाली वासना-वृत्तियों की ज्वालामयी तृप्ति का रहस्योद्घाटन है। दिल्ली की शासिका रज़िया अपनी योग्यता और गुणों के कारण इतिहास में प्रसिद्ध है परन्तु उसके वैयक्तिक जीवन का ईर्ष्या रोषमय[4] व्यापार

---

१ मुखपृष्ठ पर यह सुभाषित अंकित है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्॥

२ दूसरा भाग पृ० ६।

३ संस्कृत सुभाषित के साथ-साथ मुखपृष्ठ पर जफ़र का यह शेर भी छपा हुआ है :—

ये जो मिस्सी की धड़ी है कि न यार उससे मरे।
सब्ज़ा ख़त के मरे, उसको पर्वा कर न मरे॥

४ लेखक ने स्वयं इसका संकेत किया है—

"किन्तु रज़िया के मन का पाप कैसे हलाहल में मिला हुआ और भयंकर था—!"
(पहिला भाग, पृ० १३)

भी बड़ा रोमांचकारी है। सूक्ष्म दृष्टि से 'रंगमहल में हलाहल' इस सत्य का संकेत करता है कि जो व्यक्ति जीवन को हास विलास क्रीड़ा या रसरेली मात्र समझकर उस के निकट पहुँचता है उसे अतृप्ति का हलाहल पान करना पड़ता है जिसको सुधा समझ कर पान करने की लालसा होती है वह वस्तुतः गरल सिद्ध होता है। ये दो ग्रन्थ किशोरीलाल के ऐतिहासिक उपन्यासों के दोनों उद्देश्यों के समर्थक हैं। स्थूल दृष्टि से तो किशोरीलाल ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में उन सनसनीपूर्ण रोमांचकारी रहस्यों का चित्रण किया है जो इतिहास-सम्मत होते हुए भी इतिहास की आंख से छिपे हुए थे। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो इतिहास के आवरण में वे पाठक को जीवन का रहस्य समझा रहे हैं, काल की गति भाग्य का चक्कर सुख-दुख की आंख मिचौनी और भावना एवं कर्तव्य का संघर्ष उनके प्रिय विषय हैं। पहिले भाग के पहिले परिच्छेद और पहिले पृष्ठ पर 'दिल्ली में धूम' शीर्षक देकर लेखक ने जफ़र का शेर—

> हमेशा बदलता है ऐसा जमाना।
> कि है आज इसका कल उसका जमाना॥

लिखते हुए कथा प्रारम्भ की है, और दूसरे भाग का उपसंहार वह पाठकों को उपदेश देता हुआ करता है—

'पाठक! देखा आपने रज़िया के इश्क का नतीजा देखा आपने!'[1] अफ़सोस उस बेचारी ने अपनी जवानी मुफ्त खो दी और उसने न सल्तनत का मज़ा उठाया और न जवानी का। (पृ० ८१) उपन्यास को सुखान्त मानने में आलोचकों का संकोच हो सकता है क्योंकि इसका प्रारम्भ रज़िया के राज्याभिषेक से और अन्त उसकी वध से होता है। फिर भी इसे सुखान्त ही माना जाएगा। मृत्यु से कोई रचना सुखान्त या दुखान्त नहीं बन सकती मृत्यु ऐतिहासिक सत्य है उसको कौन मिटा सकता है। सत् और असत् के संघर्ष में सत् की असत् पर विजय सुख की कसौटी है। रज़िया के मन में जो असत् वासना जग गई थी वह उसके जीवन का अन्त करके भी विजयिनी न हुई इसी लिए इस उपन्यास को सुखान्त माना जाएगा। एक प्रश्न यह है कि असत् (रज़िया) को उपन्यास में मुख्य स्थान देकर प्रधान नायिका[2] क्यों बनाया गया। उत्तर यही होगा कि ऐतिहासिक दृष्टि से कथानक में सब से शक्तिशाली व्यक्तित्व रज़िया का ही है सारा घटना-चक्र उसी के इर्द-गिर्द घूमता है इसलिए असत् की प्रतिमा होकर भी वही मुख्य पात्र या नायिका बनाई गई है।

उपन्यास का कथानक सुगठित है। इसमें एक ही कथा है रज़िया बेगम के शासन की। सन् १२३६ ई० में रज़िया बेगम दिल्ली के सिंहासन पर बैठी यह मर्दाना औरत थी सारे राज्य का प्रबन्ध आप देखती और सबसे निस्संकोच भाव से मिलती-जुलती थी

---

१ रेखा भाग में शब्दों को दुहरा कर इस पर ज़ोर दिया गया है।

२ "—जो कि इस नाम रज़िया था जो इस उपन्यास की प्रधान नायिका है—"।

—(पहला भाग, पृ० ४)

में नजूमी बहराम की तुच्छता सिद्ध करने के लिए स्वामी बालानन्द का आगमन आवश्यक समझा है, 'बहराम जैसे निकृष्ट व्यक्ति योग का रहस्य नहीं जानते परन्तु उसका दुरुपयोग करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं। प्राकृतिक नियम के विरुद्ध इस शक्ति के प्रयोग करने में घोर अनिष्ट या विप्लव उपस्थित होता है और जगदीश्वर की इच्छा के विरुद्ध यह शक्ति कार्यकारिणी होती भी नहीं'[1]। दूसरा महत्वपूर्ण दृश्य हिन्दू-मुसलिम झगड़े का था जिसकी तुलना जयशंकरप्रसाद रचित 'स्कन्दगुप्त' नाटक के चतुर्थ अंक के उस दृश्य से की जा सकती है जिसमें ब्राह्मण और बौद्ध आपस में झगड़ते हैं और जिसमें आधुनिक के झगड़ों की छाया भी देखी जा सकती है। यह दृश्य एक ओर तो फकीर वेषधारी रज़िया के मुख से यह कहलवा कर कि 'हिन्दू कौम से बढ़ कर दुनिया में सच बोलने वाली दूसरी जाति नहीं है'[2] लेखक के जातीयतावादी विचारों को व्यक्त करता है दूसरी ओर रज़िया की न्यायप्रियता का द्योतक भी है।

'सुल्ताना रज़िया' उपन्यास में भाषा उर्दू मिश्रित अवश्य है परन्तु 'तारा' उपन्यास की अपेक्षा कम। इसमें लेखक ने उर्दू के शेर बहुत दिये हैं और फुटनोट में यह लिख दिया है कि 'इस उपन्यास में उर्दू की कविताएँ जहाँ जहाँ आवें वे उर्दू शायरों की बनाई हुई समझनी चाहिए'[3]। संस्कृत-मिश्रित शैली के भी इस रचना में अच्छे उदाहरण हैं जिनमें लेखक का पण्डिताऊपन झलकता है[4]। संस्कृत हिन्दी और उर्दू-हिन्दी दोनों पर लेखक का समान अधिकार इस उपन्यास के दो कथनों में देखा जा सकता है —

(क) संस्कृत-हिन्दी में रीतिकालीन परम्परा से कथन —

'वे कलियाँ जो रात भर रंगरलियाँ मना चुकी हैं तड़का होते ही अभिसारिका नायिका की भाँति अपना मुँह नीचा कर लज्जा से सिमट जाती हैं किन्तु जो रात भर विरहिणि कुलवधू की भाँति संकुचित और उदास रहीं प्रातःकाल होते ही आगतपतिका की भाँति फूली अंगों नहीं समातीं और खिलखिला उठती हैं' (पहला भाग पृ २१)

(ख) उर्दू-हिन्दी का आम बालचाल बातचीत में प्रयोग —

'हम लोग अपना फैसला आप करते हैं किसी बैगम बादशाह की पर्वा नहीं करते यह बुजदिल हिन्दुओं का ही काम है कि जो दूसरों पर अपनी किस्मत के फैसले का भरोसा रखते हैं इसलिए उनका जहाँ भी जी चाहे, हमारे बर्खिलाफ नालिश फर्माया किया करें'।

(पहला भाग पृ ४१)

---

१ दूसरा भाग पृ० ५१

२ पहला भाग पृ ४६

३ वही पृ २१

४ (क) त्रैलोक्यमोहिनी परमस्वाधीना, भारतभामिनी पूर्वपुण्यों और कुमारी रज़िया बेगम—'।
(ख) 'धन्य कन्ये। तुम्हारा प्रताप धन्य है कि तुम जिससे मिलते हो, उसका चित्त पहले ही हर लेते हो।' (वही, ११)

इस उपन्यास की शैली मुख्यतः वर्णनात्मक है। कथोपकथन का 'तारा' उपन्यास की अपेक्षा कम सहारा लिया गया है, ब्रजभाषा पद्य नहीं है। रीतिकालीन शृङ्गारी वर्णन का अभाव ध्यान देने योग्य है। सभी प्रधान पात्र मुसलमान हैं। सत् और असत् के प्रतिनिधि हिन्दू और मुसलमान पात्रों के स्थान पर मुसलमानों में से ही दोनों को छाँट कर एक दूसरे की तुलना में खड़ा कर दिया गया है। तिलिस्म ऐयारी और जासूसी बहुत कम है और जितनी है वह भी सुथरी। योग और तिलिस्म को अलौकिक मानकर एक दृष्टि से देखने की कोशिश लेखक ने की है, प्रायः वर्णन कम है। 'सुल्ताना रज़िया' उपन्यास में सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने वाला गुण चरित्र-विकास का प्रयत्न है, जो गोस्वामी जी के उपन्यास के लिए नई चीज़ है। किसी सीमा तक चरित्र चित्रण का आधार मनोविज्ञान भी माना जा सकता है। 'तारा' उपन्यास में लेखक ने फ़ारसी भाषा की माधुरी की सराहना की थी, यहाँ स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा हरिहर शर्मा को 'फ़ारसी और संस्कृत विद्या का अभ्यास'[1] कराने से लेखक का फ़ारसी के प्रति अनुराग झलक जाता है।

अप्रत्यक्ष इस उपन्यास में गोस्वामी जी के राजनीतिक और सामाजिक विचार भी प्रतिबिम्बित हुए हैं। राष्ट्रीयता से लेखक का अभिप्राय मुसलमानों से देश को स्वतन्त्र कराना है, अंग्रेज़ों को निकालना नहीं। 'तारा' उपन्यास में उन्होंने अंग्रेज़ी प्रबन्ध[2] की प्रशंसा की थी, यहाँ 'महाराज सप्तम एडवर्ड के राजसिंहासन पर बैठने के समय दिल्ली दर्बार में लार्ड कर्ज़न की सवारी का जलूस'[3] अप्रस्तुत बनकर आया है। पहले भाग के प्रारम्भ में लेखक का ध्यान देश की दुर्दशा पर जाता है 'जो भारत-वर्ष सदा से सारी पृथ्वी का मुकुटमणि बना था, जिसकी मान सारा संसार मानता था और जो विद्या वीरता और लक्ष्मी का एकमात्र विश्रामस्थान था वह आज दीन हीन और मलीन हो रहा है'[4]। इस दुर्दशा का उपाय स्वामी ब्रह्मानन्द का राजस्थान के राजाओं को एकता के लिए समझाना है जिससे 'अपने देश की विलुप्त स्वाधीनता का पुनः उद्धार करना बहुत ही सहज और सुखसाध्य'[5] हो सकता है। बीसवीं शती के प्रारम्भ में जितने सामाजिक आन्दोलन हुए उनका देशोद्धार का विशेषण जाति को जगा कर उसका संगठन था, इसलिए स्वामी दयानन्द तक का ध्यान राजस्थान के राजाओं की ओर रहता था। राष्ट्रीयता का नवीन आदर्श तो गांधी जी के नेतृत्व से ही विकसित हुआ है। किशोरीलाल जी के सामाजिक विचारों में दण्ड की कठोरता और सीमा का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। इस्लामी शासन में तो दण्ड कठोर था ही हिन्दू स्मृतियों

---

१ दूसरा भाग पृ० १

२ पहला भाग पृ० ८

३ तीसरा भाग, पृ० ५५

४ वही, पृ० १

५ पहला भाग पृ० १

भी दण्ड विधान करते समय सदय नहीं रही लेखक ने उनसे सहमति प्रकट की है — हमारी समझ से अपराध की संख्या घटाने जैसा कठोर दण्ड हेतु हो सकता है वैसा साधारण दण्ड नहीं यही कारण है कि महर्षियों ने अपराधों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की है हम उसी पक्ष को मानते हैं।[1] देश की दुर्दशा का ऐतिहासिक कारण खोजते हुए लेखक उस समय के कुछ विचारकों के समान इस तरह पर पहुँचता है कि यदि महाभारत का युद्ध न हुआ होता तो इतने वीरों की क्षति न हुई होती और विदेशी जातियाँ देश पर आक्रमण करने में सफल न हो पातीं । भगवान् के उपदेश की गोस्वामी जी भक्तिपूर्वक अवहेलना करते हैं 'वे ईश्वर थे अवश्य उनके विचार परम उत्तम ही रहे होंगे परन्तु हम तो यही समझते हैं कि उस सर्वनाश महायुद्ध से भारतवर्ष के वीरों की एक प्रकार समाप्ति हो गई'[2] इस कथन की आलोचना अभीष्ट नहीं उद्देश्य केवल यह देखना है कि इन ऐतिहासिक उपन्यासों का उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर राष्ट्र को जगाना भी था ।

हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी

बंगाल के अन्तर्गत रंगपुर राज्य के परिवार से सम्बद्ध दो उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखे हैं 'हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी' उपन्यास में राजा नरेन्द्रसिंह की पत्नी की और 'लवंगलता वा आदर्शबाला' उपन्यास में राजा नरेन्द्रसिंह की बहिन की कहानी है । यह कथन उन चार पाँच वर्षों का है जब दुरात्मा सिराजुद्दौला के अत्याचारों से तंग आकर बंगाल की जनता ने सन् १७५० की राज्यक्रान्ति की और सौदागर अंग्रेजों की जड़ भारत में जमने लगी । 'प्रथम संस्करण' के 'निवेदन' के अनुसार 'हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी' तथा 'लवंगलता वा आदर्शबाला' दोनों उपन्यास सन् १८९ ई में छपने लगे थे परन्तु इनका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १९ ४ ई० में ही सम्भव हो सका सन् १९१२ ई० में इनका द्वितीय संस्करण निकल गया था । लेखक ने इन उपन्यासों को एक ही योजना में रख कर 'हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी' उपन्यास को 'लवंगलता उपन्यास का पूर्व भाग' माना है और 'लवंगलता वा आदर्शबाला' को 'हृदयहारिणी उपन्यास का उपसंहार' बतलाया है । फिर भी ये दोनों उपन्यास अलग-अलग भी अपने आप में पूर्ण हैं ।

'हृदयहारिणी'[3] उपन्यास में छब्बीस परिच्छेद तथा बयासी पृष्ठ हैं प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक है और शीर्षोद्धरण भी । इसका कथानक सुगम्फित हुआ एवं स्वच्छ है । सन् १७५६ में सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना यह चरित्रहीन तथा दुराचारी था जिन हिन्दू सेठों और जमींदारों ने अलीवर्दीखाँ के शासन को सुदृढ़ बनाया था उनको भी नये नवाब ने मुसलमान बनने के लिए धमकाया[4] । सिराजुद्दौला के व्यवहार

१ पहला भाग पृ ११
२ दूसरा भाग पृ ८
३ श्री सुदर्शन प्रेस वृन्दावन।
४ दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ दि ब्रिटिश एम्पायर वॉल्यूम ५ पृ० १५७

से न तो हिन्दू सन्तुष्ट थे और न मुसलमान। पटना का शासक रामनारायण, मिदनापुर का प्रबन्धक राजाराम, पूर्णिया का राजा युगलसिंह, राय दुर्लभ, सेठ अमीचन्द, जगत सेठ और मीरजाफर सब नवाब के विरोधी बन गये और अंग्रेजों की सहायता से सिराजुद्दौला को गद्दी से उतारने को तैयार हो गये। क्लाइव ने वाटसन को एक पत्र में लिखा था कि नवाब की दुर्बलता और अत्याचारों के कारण मुर्शिदाबाद में इतनी अप्रसन्नता और असन्तोष है कि जगत सेठ तथा मीरजाफर आदि बड़े-बड़े अधिकारियों ने गुप्त रीति से अंग्रेजों से सहायता मांगी है[1]। सिराज के मुख्य दुर्गुण दो थे—क्रोधी स्वभाव तथा इन्द्रियलिप्सा[2]। अधिकतर हिन्दू इन्हीं के कारण उससे असन्तुष्ट थे। प्रस्तुत उपन्यास में कृष्णनगर और रंगपुर के दो राजघरानों पर भी नवाब की कुदृष्टि पड़ी परन्तु रंगपुर के कुमार नरेन्द्रसिंह के प्रयत्न से नवाब का पतन हुआ और इन राजघरानों को सम्पत्ति वापिस मिलने पर इनमें विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो गया।

उपन्यास का नायक युवराज नरेन्द्रसिंह है जो भेष बदल कर मुर्शिदाबाद में गुप्त समाचार जानने के लिए वीरेन्द्रसिंह बनकर रहता है। नायिका कुसुम अपनी माता के साथ दुर्दिन बिताती हुई मालाएँ बेचकर अपना पालन कर रही थी। इसी प्रसंग में वीरेन्द्र (नरेन्द्र) से उसका परिचय हुआ। नायक ने सहायता के ब्याज से कुसुम को टोपियाँ बनाने का काम दिया। नवाब की कुदृष्टि यहाँ भी न बच सकी। उसने न एक की बहिन कर्णमता को पकड़वा मंगाया परन्तु हिन्दुओं ने उसका उद्धार किया यह कथा दूसरे उपन्यास में है। अन्त में क्लाइव की सहायता से नवाबी शान्ति हुई, राजघरानों के दिन फिरे, और दुर्दिन-बन्धु नरेन्द्र तथा कुसुम विवाह-बन्धन में बँधकर सुखी जीवन व्यतीत करने लगे।

उपन्यास का नाम नायिका के नाम पर न होकर उसके गुण पर है। नायक की 'हृदयहारिणी' नायिका उसकी उचित शिक्षा से 'आदर्श रमणी'[3] बन गई। 'उस बालिका के मुखड़े से भोलापन, पहिनावे से दरिद्रता, रूप रंग से उत्तम कुल की महिमा और काम से चतुराई टपकती थी'[4]। उसने मुर्शिदाबाद में वीरेन्द्र के साथ अपने धर्म को बचाये रखा। अबलाओं के लिए पापरूप दुराचारी सिराजुद्दौला[5] उसका कुछ भी न बिगाड़ सका। यह स्पष्ट नहीं है कि नायक ने नायिका को कौन-सी शिक्षा दी जिसके कारण वह आदर्श रमणी बन सकी। संभवतः प्राचीन भारतीय आदर्श के साथ साथ नवीनता का समावेश लेखक का आदर्श है। सीता के समान पतिव्रता, सावित्री के समान दृढ़-निश्चया होने के साथ नायिका में नवीन युग का स्वाभिमान भी है—वह

१ [illegible] १९२
२ वही पृ॰ १९८
३ पृ॰ ११
४ पृ॰ १
५ पृ॰ ९१

माला बनाकर अथवा टोपियाँ बेचकर अपने परिवार की जीविका चलाती है। लेखक ने नायक-नायिका के प्रेम को कुछ नया रूप देकर उसकी कोर्टशिप के रूप में चित्रित किया है। वह इच्छा के विरुद्ध विवाह के लिये उद्योग' को सहन नहीं कर सकती और उसका प्रण है कि यदि ऐसा हुआ तो 'पहिले ही मैं अपनी जान दे डालूँगी या तुम्हारे घर से कहीं अपना काला मुँह कर जाऊँगी और विवाह न करके सदा कुमारी ही रहकर अपनी जिन्दगी ' बिता दूँगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रण सावित्री के प्रण से भी कठोर है इसमें आधुनिकता है—विशेषत घर छोड़ कर निकल जाने में। लेखक ने इस 'आदर्श' रमणी में एक नवीनता और चतुराई है जो लेखक के स्वीकार न करने पर भी पश्चिमी प्रभाव से उत्पन्न है। अन्तिम परिच्छेद में सोहाग-रात' का वर्णन करते हुए लेखक ने नायिका का रहस्य खोलते हुए लिखा है कि 'कुसुम विवाह के पहिले नरेन्द्र से बैठकर बातें करती हास परिहास करती गले से लिपट जाती और गालों को चूम लिया करती थी[१]। इस चित्रण को 'आदर्श' मानना सबको आपत्तिजनक लगा था जिसका उत्तर लेखक ने 'सर्वप्रमता' उपन्यास के निवेदन' में हम सबका पुरानी लकीर के फकीर नहीं बने हुए हैं' लिखकर दिया था। जो भी हो समर्थन भले ही पुराणों से हो जाय यह प्रभाव नवीन ही है, जिसको अंकित करते समय लेखक 'आदर्श' को भूल गया है।

नायक का चित्रण अधिक स्वस्थ है। उसमें क्षत्रियोचित गुण सभी हैं। उसका प्रेम-व्यापार भी संयत है। उसकी वीरता के प्रसंग में लेखक ने लिखा है कि बिना हिन्दुओं के ऐसी वाम विद्या का परिचय भूमण्डल में और कौन दे सकता है? यदि हिन्दुओं में कुछ दोष है तो केवल यही कि इनमें एका नहीं है[२]। इसी प्रसंग में गोस्वामी जी ने 'दुराचारी यवनों' को छल कपट और धूर्तता[३] के लिए धिक्कारा है 'मुसलमानों ने जब जिस देश को अपने अधीन किया छल कपट और दुराचार के कारण और वहाँ से गए, वहाँ लूट खसोट फूँकने जलाने ढाहने उजाड़ने लौंडी गुलाम बनाने और हिन्दू धर्म तथा समाज को सत्यानाश करने ही में अपनी बहादुरी दिखलाई[४]। 'अंग्रेजों ने मुसलमानों के अत्याचार से इस अधमरे देश का पिण्ड छुड़ाया' इसीलिए अंग्रेजों का देश में स्वागत हुआ। उस युग की राजभक्ति का मुख्य कारण अंग्रेजों को हिन्दुओं का त्राता समझना ही है।

नायिका के 'आदर्श' के साथ-साथ लेखक ने इस ऐतिहासिक उपन्यास में कुछ सामाजिक विचार भी व्यक्त किये हैं। सती प्रथा का समर्थन करता हुआ वह लिखता है कि कमलादेवी ने 'पति के साथ चिता पर जल जाने के लिए बड़ा हठ किया पर उस

---

१ पृ० ४६
२ पृ० ८८
३ पृ० ४
४ पृ० १
५ पृ० ११

समय वह गर्भवती थी इसलिए लोगों ने उन्हें बलपूर्वक रोक रक्खा"[1] । नायक के पिता के नाम पर लेखक ने बाल विवाह पर समझौता किया है महाराज महेन्द्रसिंह बाल्य विवाह के घोर विरोधी थे इसलिए अब तक नरेन्द्रसिंह क्वारे थे और इनकी तेरह चौदह बरस की बहिन का भी विवाह नहीं हुआ था"[2] । अठारहवें परिच्छेद में नायक ने "बड़ धूमधाम से पिता का वार्षिक श्राद्ध किया और यह श्राद्ध बंगदेश में ऐसा हुआ कि जिसकी गाथा आज भी स्त्रियाँ ग्राम्य गीतों में गाया करती हैं"[3] । युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए एक मास तक 'सहस्रचण्डी का अनुष्ठान' हुआ 'एक सहस्र कन्याओं को नित्य भोजन कराया गया—और एक सौ आठ कुमारी नित्य जिमाई"[4] गईं । 'तैंतीसवें दिन अष्टोत्तर सहस्र ब्राह्मणों और उतनी ही कुमारियों को भोजन कराकर वस्त्र और यथोचित दक्षिणा दी गई और महा अनुष्ठान समाप्त हुआ"[5] । ये सब अनुष्ठान सनातन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हैं ।

इस ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास आवश्यकता से अधिक है कुछ परिच्छेद तो केवल इतिहास बताने के लिए ही हैं—पाँचवाँ और चौदहवाँ परिच्छेद तो इसीलिए अत्यन्त नीरस हैं । फिर भी जिन दो राजकुमारों का वर्णन है वे इतिहास में प्रसिद्ध नहीं हैं । लेखक की दृष्टि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी है और ऐतिहासिक तथ्यों पर भी । सिराजुद्दौला के अत्याचारों का चित्रण पूर्णत ऐतिहासिक है । क्लाइव के साथ मीरजाफर, सेठ अमीचन्द और जगत सेठ की घटनाएँ भी तथ्यात्मक सत्य हैं ।

इस उपन्यास की कतिपय अन्य विशेषताएँ भी हैं । सर्वप्रथम इसकी भाषा आदि से अन्त तक एक-सी है फारसी का अधिक प्रभाव उस पर नहीं पड़ा । दूसरे इसमें असंबद्ध चित्र अंकित नहीं किये गये । ब्रजभाषा के दो छन्द तो हैं परन्तु उर्दू शेरों की भरमार नहीं । किसी भी बहाने लेखक ने तिलिस्म या ऐयारी का चित्रण नहीं किया । कथानक छोटा एवं सरल है । इतिहास का वर्णन लेखक का मुख्य उद्देश्य रहा है । मुसलमानों के प्रति घृणा और अंग्रेजों के साथ अनुराग लक्षित होता है । नाटकीय गति से 'प्रम्पकर्ता' बीच में आकर अपनी नायिका की प्रशंसा कर जाता है—'धन्य जगतहृदये हृदयहारिणी तू धन्य है'[6] । सुखान्त उपन्यास का अन्त विजय और 'सोहागरात' में हो जाता है नायक-नायिका एक दूसरे को 'सुप्रभात' बोलकर विस्तर से अलग हो जाते हैं, अन्य उपन्यासों के समान 'पुत्र जन्मोत्सव' तक लेखक ने प्रतीक्षा नहीं कराई ।

लेखक का मत है कि 'उपन्यासों में नायक-नायिका के रूप का वर्णन करना भी एक आवश्यक बात मानी गई है'[7] इसलिए उसने नायिका के 'नखशिख' का विस्तृत

१ पृ० ६
२ पृ० ६८
३ पृ० ८४
४ पृ० ७८
५ पृ० ७६
६ पृ० ८३
७ पृ० ८६
८ पृ० ५०

वर्णन किया है साथ ही नायक के नखशिख का संक्षिप्त चित्रण कर दिया है। लेखक ने 'नायक नायिका के रूप' को 'प्रेमाधार या प्रेम का निदान'[1] माना है और प्रेम का भी भावुकतापूर्ण वर्णन किया है।

लवंगलता वा आदर्शबाला

आगरा दिल्ली और लखनऊ से पहिले बंगाल के इतिहास ने किशोरीलाल गोस्वामी को आकृष्ट किया। आगरा और दिल्ली पुरानी राजधानियां थी उनका वैभव उजड़ चुका था लेखक को ऐश्वर्य-वैभव में रुचि है, इसलिए उसने इन नगरियों के पुराने वैभवपूर्ण इतिहास से कथानक लिए, लखनऊ का वह इतिहास अपेक्षाकृत आधुनिक है जो इनके उपन्यासों में पाया है। बंगाल का भी अंग्रेजी सम्पर्क के बाद का इतिहास ही लेखक को अधिक आकर्षक एवं मनोहर लगा। उनके कुछ प्रसिद्ध उपन्यास बंगाल की नवाबी को दृष्टि में रखकर लिखे गये थे। सन् १८९ ई में उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'आदर्शरमणी वा हृदयहारिणी' दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' में छपा था उस समय प्रतापनारायण मिश्र उस पत्र के सम्पादक थे। इस उपन्यास की बड़ी प्रशंसा हुई, साहित्य मर्मज्ञ उपन्यास प्रेमियों ने 'आदर्श रमणी' के उदार चरित्र पर भक्ति प्रकट की। एक वर्ग ने इस चरित्र को पसन्द नहीं किया उसको भारतीय रमणी का अपूर्वी ढंग पर विवाह-पूर्व प्रेम पसन्द नहीं आया। लेखक ने उसी कथा को लेकर लिखे गये अपने दूसरे उपन्यास 'लवंगलता वा आदर्शबाला' में उन आलोचकों को अपनी नायिका के विषय में जवाब दिया। उसने यह नहीं माना कि उसकी नायिका का विवाह पूर्व प्रेम नई बाहर का असर है बल्कि 'पुराण और साहित्य' के अन्तर्गत 'ऊषा दमयन्ती चित्रावली तपती—आदि के कोर्टशिप'[2] से इसका समर्थन किया है साथ ही कह दिया है कि —जो कुछ लिखते हैं विचार के अनुसार ही लिखते हैं क्योंकि हम सर्वथा पुरानी लकीर के फकीर नहीं बने हुए हैं।'[3]

'लवंगलता वा आदर्शबाला' उपन्यास का पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १९ ४ ई० हुआ था। इसे 'हृदयहारिणी उपन्यास का उपसंहार मात्र' बतलाया गया है क्योंकि इस में भी उसी वातावरण (देशकाल) से कथानक लिया गया है। 'हृदयहारिणी उपन्यास में कृष्णनगर की राजकन्या कुसुमकुमारी के कारण जिस सैयद अहमद ने अपने मित्र नरेन्द्रसिंह पर घातक वार किया था उसी नरेन्द्रसिंह की बहिन लवंगलता इस उपन्यास की नायिका है इस पर सिराजुद्दौला उसी प्रकार कुदृष्टि रखता था जिस प्रकार कि कुसुमकुमारी पर सैयद अहमद। उस समय सारे भारतवर्ष में एक प्रकार से अराजकता फैली हुई थी—और सच तो यों है कि यदि उस समय यह देश अंगरेजों के हाथ में न आकर किसी दूसरी अत्याचारी जाति के हाथ में जाता तो आज दिन यहां वालों

१ पृ २७
२ 'लवंगलता वा आदर्शबाला' उपन्यास की भूमिका।
३ वही।

की दशा कैसी शोचनीय स्थिति को पहुँचती, इसके स्मरण-मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं[1]। मुर्शिदाबाद का नवाब सिराजुद्दौला 'बड़ा क्रोधी, हठी, अत्याचारी तथा इन्द्रिय-परायण'[2] था, 'उसके बंगाली मात्र का जी फिर गया था'[3] 'जी उसका मैला था अंगरेजों से, वह भीतरी डाह रखता था और फ्रांसीसियों का पक्ष करता था, वरन् अपने यहाँ उन्हें नौकर भी रखने लग गया था'[4]। एवमपि सिराजुद्दौला ने रंगपुर की राजकुमारी लवंगलता से अपना प्रेम-निवेदन लगभग उसी ढंग से किया जिस प्रकार कि विद्यापति के कान्ह ने राही से किया था, उसने दूती का रूप बना कर अपने एक मुसाहिब को लवंगलता के पास भेजा, परन्तु लवंगलता के मन में नवाब के लिए उसने कोई जगह न पाई। तब नवाब ने बलात् राजकुमारी को पकड़वा कर 'हीरा झील' नामक महल में कैद कर लिया। वहाँ लवंगलता का प्रेमी मदनमोहन स्त्री का वेश धारण कर उससे मिला और उसका उद्धार भी किया। अत्याचारों की यह शृंखला चल रही थी कि प्लासी का युद्ध छिड़ गया और सिराजुद्दौला की लगभग वही दशा हुई जो सोने की लंका में राजा रावण की हुई थी, 'सतीत्वविनाशकारी दुराचारी व्यक्ति की स्त्रियाँ प्रायः अन्त में जैसी आपत्ति को भोगती हैं कदाचित् उन सभी (सिराजुद्दौला की सैकड़ों बेगमों) को भी उसी आपदा का सामना करना पड़ा'[5]।

इस उपन्यास में ११६ पृष्ठ और १६ परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक है और ऊपर संस्कृत का उद्धरण है। उपन्यास का उद्देश्य यह दिखाना है कि पाप स्वयं मनुष्य को खा जाते हैं और जब बुरे दिन आने वाले होते हैं तो मनुष्य की बुद्धि फिर जाती है। इस उद्देश्य की घोषणा मुखपृष्ठ पर महाभारत के शान्तिपर्व से ली गई सूक्ति 'यथा करोति कर्माणि तथैव फलमश्नुते' भी है और श्रीमद् भागवत का कथन 'हिंस स्वपापेन विहिंसित' भी। ध्यान देने की बात यह है (जैसा कि पहले उपन्यासों में हमने देखा है) कि लेखक इस उपन्यास में अश्लील अथवा दूषित चित्र अंकित नहीं करता और न मादक वातावरण का ही अन्य चित्र खींचता है। इस उपन्यास में भाषा एवं वातावरण पर इस्लामी प्रभाव अपेक्षाकृत बहुत कम है। स्त्री पात्र सभी अच्छे हैं, लवंगलता तो नायिका है, सिराजुद्दौला की बेगम लुत्फुन्निसा भी नेक, परिणामदर्शिनी और उदार है, उसे हताश होकर आत्महत्या करनी पड़ती है। सैयद महमूद की बीबी और सिराजुद्दौला की बहिन अमीना बेगम भी अच्छी औरतें हैं। इस प्रकार सभी स्त्रियाँ सामान्य से ऊँचे चरित्र वाली हैं। इसके विपरीत पुरुष-पात्र या तो गिरे हुए हैं या अधूरे हैं। सिराजुद्दौला तो नायक है, उसकी नीचता का क्या ठिकाना, लवंगलता का प्रेमी मदनमोहन भी पाठक को अधिक प्रभावित नहीं करता, वह सामान्य राजपूत है, सैयद महमूद तो खराब है ही, सेठ अमीचन्द ने नामक के

---

१ वही पृ. ६
२ वही, पृ. १०४
३ वही, पृ. २
४ वही पृ. १०७
५ वही पृ. २११

फेर में वह अपने तईं माल हानि पहुँचाई और कम्पनीवालों से उन्हें एक कौ
मिली ।[१] राजा शिवप्रसाद की अंग्रेजों की खुशामदी और कलाहल को दूर कि
किया गया है । इस उपन्यास म तिलिस्म और जासूसी का स्थान डाकुओं के
व्यवहार ने ले लिया है ।

उपन्यास की नायिका पाठक का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट करती है । उ
रूप और गुण दोनों का पर्याप्त समन्वय है । लेखक ने 'सुन्दरी मधुमलता के नखा
का वर्णन' आलंकारिक शैली पर मन को मार कर संक्षिप्त ही किया है ।[२] प्रेमी म
मोहन जब उससे बहकी बातें करने लगा तो मधुमलता ने उसको रोक दिया 'फि
उस प्रेम को मैं दूर ही से प्रणाम करती हूँ जिसमें दुरचना के बड़प्पन और आदर
भाव न हों' ।[३] तब उसके प्रेमी ने एक वाक्य में उसके गुणों का स्मरण किया 'प्य
तुम समझदार और पढ़ी-लिखी आदर्शबाला हो' । तस्वीर वाली कुट्टिनी का निर
करते हुए मधुमलता ने 'झाड़ लेकर सिराजुद्दौला के चेहरे की नाक'[४] छील डा
अपने भाई को उसने सलाह दी कि वह 'बुरा सलूक' करने वाले सैयद अहमद को
'चकर पनाह'[५] दे । उस रायनन्दिनी का चरित्र इतना महान् है कि लेखक उसे '
दृष्टि से अवलोकन'[६] करने की पाठकों से आशा रखता है और इसीलिए उस
'आदर्श बाला' नाम दिया है । वस्तुतः सनातनी गोस्वामी पर यह आर्यसमाजी प्र
है । वे यह अनुभव करते हैं कि नये युग की महिला को सम्यक् शील चतुराई
उदारता से सम्पन्न होना चाहिए और ये गुण केवल सुशिक्षा से ही आ सकते
'समझदार और पढ़ी लिखी' शब्दों पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है ।

बंगाली नवाबी के इस उपन्यास में इतिहास सामयिक ही है इसलिए उसे अधि
महत्त्व नहीं मिल पाया है । लेखक ऐतिहासिक उपन्यास लिखते लिखते समाज को प्र
महत्त्व देने लगा है उसकी नायिका सद्गुणों की मूर्ति है उसका स्वरूप निश्चित
स्पष्ट है । यद्यपि चरित्र-विकास का अनुभव नहीं किया जा सकता परन्तु चरित्र-चि
यहाँ सफलता से दूर नहीं रहा ।

मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी

सन् १९०४ ई० में किशोरीलाल गोस्वामी ने बंगीय इतिहास का एक उपन
'मल्लिकादेवी व बंगसरोजिनी' दो नामों म लिखकर प्रकाशित[७] किया । इस उपन

---

१ वही पृ० ४८

२ (क) नरंग की मांग की उपमा दी गया जो अपनी लाल रंगत से संसार को पुकार कर रही है कि ले अम्प'—जो जिसके जी में आवे सो मुझ से मांग ले ।
(ख) नाक ने तो नाक की ही नाक काट ली है । (पृ० १२)

३ वही पृ० ४१ | ६ वही पृ० ७७

४ वही । | ७ वही, भूमिका ।

५ वही, पृ० ४१ | ८ प्रकाशक—श्रीवेंकटेश्वर प्रेस काशी ।

में बंगदेश की उस समय की जनता का वर्णन बड़ी उत्तमता से किया गया है जब दिल्ली के तख्त पर नेकनाम बादशाह गयासुद्दीन बलबन विराजमान था और बंगाल की बाग डोर एक महा अत्याचारी तुगरलखां जैसे निर्दय नवाब के हाथ में थी। सन् १२७६ ई० में बंगदेश में बड़ी भारी उलट-फेर हुआ था। 'वहाँ के नवाब के कारण घोर संकट उपस्थित हुआ तब दिल्ली से स्वयं बादशाह ने आकर वहाँ शान्ति स्थापित की और अपने शाहजादे को बंगाल का नवाब बनाया'[1]। इस प्रकार इस उपन्यास में कई सौ वर्ष पहले के ऐतिहासिक रहस्य को चित्रित करने का प्रयत्न है। समीप जीवन के साथ उपन्यास सौ-दो सौ वर्ष का सामयिक इतिहास ही अंकित करते हैं उनसे यह उपन्यास प्राचीनता की दृष्टि से भिन्न एवं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही बंगाल पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया और दिल्ली के अधीनस्थ नवाब सेन-राजाओं की गद्दी पर शासन करने लगे। गुलाम वंश का कठोर बादशाह गयासुद्दीन बलबन जब वृद्ध हो गया और एक ओर से राज्य पर मुगलों के आक्रमण होने लगे दूसरी ओर आन्तरिक शिथिलता आने लगी तो सन् १२७९ ई० में बंगाल के नवाब तुगरल ने बादशाह को कर देना बन्द कर दिया। फलस्वरूप बलबन ने अवध के अमीनखां को तुगरल पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। परन्तु अमीनखां पराजित हुआ और उसकी सेना के बहुत से अधिकारी तुगरल से जा मिले। क्रुद्ध होकर बादशाह ने अमीनखां को अयोध्या के मुख्य द्वार पर फांसी दे दी। फिर मलिक तरगी को सेना लेकर भेजा गया परन्तु उसकी सेना भी तुगरल से मिल गई। तब बलबन स्वयं अपने द्वितीय पुत्र बुगराखां को लेकर दो लाख सेना के साथ बंगाल पर चढ़ आया। लखनौती से तुगरल भाग गया बलबन पीछा करता हुआ सोनारगांव पहुँचा और वहां राजा भोज पर जोर दिया कि वह तुगरल की खोज में अपनी सेना को लगावे। अन्त में शेर अन्दाज और मुकद्दिर नाम के दो मालिक खोज करते-करते एक स्थान पर पहुँचे जहां तुगरल अपने विश्वस्त सैनिकों के साथ विश्राम कर रहा था। मुकद्दिर के बाण से तुगरल का सिर कट कर गिर गया जिसे बादशाह के पास भेज कर शाही सेना ने विजय की घोषणा की। वापस लौटते हुए बलबन ने लखनौती के बाजार में दो मील से अधिक लम्बी सड़क पर तुगरल के सहायकों को भाले की नोक से छेद-छेद कर मार डाला। देखने वालों ने अपने जीवन में कभी भी इतना क्रूर दृश्य न देखा था अनेक दर्शक भय एवं आतंक से मूर्छित हो गये। बलबन ने अपने पुत्र बुगराखां को यह दृश्य दिखाया और बंगाल का शासक नियुक्त करते हुए उसे तीन बार चेतावनी दी कि जब तुम लखनौती में रहो अपने मन में यह बात याद रखना कि दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह करने का बंगाल को साहस नहीं है।[2]

उपन्यासकार ने तुगरल को अत्याचारी क्रूर तथा दुष्ट चित्रित करते हुए हिन्दू

---

१ सूबी बीरत का सात सून बलबन के अन्त में दिये गये विवरण से।

२ दि केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वॉल्यूम ३ पृ० ७६-८१

नरेशों के साथ उसके युद्ध को विशेष महत्त्व दिया है और सारे परिवर्तन का श्रेय मागमपुर राज्य के गुप्त सचिव यमुनाप्रसिंह की पुत्री मालती को सौंप दिया है। मालती यवन वेष में फरहाद नाम से तुगरल के यहाँ रहती थी उसने युवराज नरेन्द्रसिंह को अनेक प्रकार की सहायता की और तुगरल की पुत्री शीरीं का बलबन के पुत्र बुग्राखाँ के साथ विवाह करा दिया। अत्याचारी तुगरल ने मागमपुर के महाराज महेन्द्रसिंह उनके प्रधान मन्त्री वीरेन्द्रसिंह तथा गुप्त सचिव यमुनाप्रसिंह आदि को एक कुवरली पहाड़ी के अन्दर कैद कर लिया था। युवराज नरेन्द्रसिंह ने तुगरल से युद्ध किया और उसे हरा दिया इसी बीच बलबन का आगमन भी हुआ जिससे तुगरल के पैर बिलकुल उखड़ गये वह छिप कर भाग गया और अन्त में उसी रघुनाथसिंह के हाथ से मारा गया जिसने हिन्दुओं के विरोध में उसे सहायता दी थी।

कथानक में मुख्य परिवर्तन तो 'युद्धवीर रस में विशुद्ध शृंगार रस के मिलाने से'[1] हुआ है। बलबन के पुत्र से तुगरल की पुत्री का प्रेम दिखाकर अन्त में उनका विवाह करा दिया गया है। इसी हेतु लेखक ने तुगरल को क्षमा प्रदान कराई है और उसे फिर से नवाब बनाने का बलबन से निश्चय कराया है। दूसरा परिवर्तन तुगरल का भुग्राखाँ के हाथ से न मर कर रघुनाथसिंह के हाथ से मारा जाना है रघुनाथसिंह मन्त्री यमुनाप्रसिंह का सौतेला भाई था वह तुगरल से मिल गया और उसे मालती को प्राप्त करने के लिए भड़काया अन्त में आत्मग्लानि के कारण रघुनाथसिंह ने तुगरल से द्वन्द्व युद्ध किया और उसे मार स्वयं सन्यासी हो गया। रघुनाथसिंह कल्पित पात्र है परन्तु उसकी अवतारणा स्वाभाविक है इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। तीसरा परिवर्तन मालती कल्पित पात्र का समावेश है। मालती ही अन्त में 'बंग सरोजिनी' घोषित की गई है।[2] वह अपने पिता की कैद से परिवर्तन के समय तक पुरुष-वेष में ही रहती है कभी वह यवन-युवक फरिहाद बनकर तुगरल की विश्वास-पात्र है कभी 'अपरिचित' हिन्दू के वेष में युवराज नरेन्द्रसिंह की सहायता दे रही है। उसका रहस्य सबसे मनोरंजक है। तुगरल ने एहसान मान कर अपनी पुत्री से उसका विवाह निश्चय किया शीरीं ने विवाह न कर उसको भाई बना लिया मल्लिकादेवी के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए देखकर युवराज क्रुद्ध हुए, अन्त मे वह 'अपरिचित' अर्थात् 'फरिहाद' अर्थात् मालती' मागमपुर की रानी और 'बंगसरोजिनी' सिद्ध हुई। कमालपुर की उस पहाड़ी का भी कथा म विशेष महत्त्व है जिसमें मागमपुर के राज-परिवार को तुगरल ने कैद कर रखा था। 'सन् १३४८ ई० के भयंकर भूकंप ने जिसने बंगदेश में महाप्रलय मचाया था कमालपुर की पहाड़ी को रसातल पहुँचा दिया और उसके साथ ही वह प्राकृतिक पार्वतीय भवन भी भूगर्भ में समाविष्ट हो गया। अब कमालपुर की पहाड़ी का जितना अंश दिखलाई देता है वह पहिले के शतांश का भी शतांश नहीं है।'[3]

दूसरा भाग पृ० ११   १ दूसरा भाग पृ० १३२
वही, पृ० १३१

\

दूसरे उपन्यासों के समान यहाँ भी कथानक की परिणति पुनर्मिलन, राज्यप्राप्ति तथा भक्ति में हुई है। 'कुछ दिनों में तीरो, मालती, मल्लिका, सुशीला और सरला ने पुनर्मिलन का परमानन्द प्राप्त किया और तब वृद्ध महाराज ने नरेन्द्रसिंह को सिंहासन पर बैठाकर अपना समय ईश्वराराधना में ही लगाया'।[1] लेखक ने हिन्दू पात्रों को राजपूती साँचे में ढालकर उनका आदर्श चित्रण किया है। दोनों प्रकार की भाषा के उदाहरण इस उपन्यास में भी उतने ही स्पष्ट एवं आकर्षक हैं। उच्च कुल के मुख्य हिन्दू-पात्र जब बातचीत करते हैं तो लेखक की भाषा पंडिताऊ हो जाती है 'कोटि *सूर्यप्रकाशमान की भाँति यह वाक्य किशोर के रोम-रोम में बिंध गया। वे अम्ब से भूमि* में गिरकर अश्रु-विसर्जन करते करते कहने लगे—'[2]। इसके विपरीत तीरो और फरहाद की अथवा तीरो और शाहजादे की बातों में फारसी की छटा बिखरी पड़ती है। 'लेकिन इस कुमरी का मामूल जवाब तय हो सकता है जब मैं यही इल्जाम औरतों की मुहब्बत पर लगाऊँ लेकिन ऐसा करना मैं इसलिए मुनासिब नहीं समझता कि मुझे इस बात का यकीन है कि आप मुझे तहेदिल से प्यार करती हैं'[3]। कथानक के बीच में आने वाले अनेक और *विषय के स्पष्टीकरण के साथ-साथ लेखक की और विदग्धता के भी द्योतक* हैं। दूसरे भाग के तृतीय परिच्छेद में जबू की थैली पर गोस्वामी जी ने एक सुन्दर अप्रस्तुत-योजना की है जो स्वाभाविकता के कारण आकर्षक बन गई है। 'फर्शी पंखा चल रहा है और उसके हुक्के पर रखी हुई चिलम अपने स्वामी की दुर्भाग्यता पर आप ही आप जल कर खाक हुई जाती है।'[4]

इतिहास से परिचित व्यक्ति को इस उपन्यास में सबसे खटकने वाली बात यह लगती है कि बलबन को कथानक में स्थान देते हुए भी उसकी प्रसिद्ध क्रूरता का लेखक ने प्रदर्शन नहीं किया और फलस्वरूप सन् १२७९ ई० के विद्रोह में जो निर्दय नरसंहार बंगाल में फैल गया था उसकी गन्ध भी इस रचना में नहीं है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि लखनावती का अमानुषिक अत्याचार जिसको देख कर ही अनेक व्यक्ति मूर्च्छित हो गये थे इतिहास में बलबन के कौशल्य के लिए भी बदनाम माना गया है उसका एक प्रमाण रंगभूमि से लखनावतियों तक आतंक का प्रसार था। लेखक को बलबन का चरित्र अभीष्ट न हो परन्तु यह नृशंस नाटक तो प्रस्तुत कथानक में अनिवार्य है। शायद मुहम्मद और विजयों की धूमधाम में टूटती हुई लाशों का क्रन्दन यह सुन नहीं पाया। सत्य यह है कि जो कुछ इतिहास को विदित है लेखक की दृष्टि में उतना ही इतिहास नहीं है जो अविदित और अज्ञात है उसका चित्रण वह उपन्यास का कर्तव्य समझता है। दूसरे भाग के उन्नीसवें परिच्छेद में कवि भारवि का जो श्लोक दिया गया

---

१ वही, पृ० १११

२ कुसुमलता पृ० ११

३ वही, पृ० ६१

४ वही, पृ० १७

है यह गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों का एक मुख्य सूत्र माना जा सकता है श्लोक का अर्थ है कि कवि का ज्ञान बहुत सीमित होता है और राजाओं का जीवन स्वभावतः दुर्गम एवं रहस्यमय है।[1] इसलिए उसका ठीक-ठीक चित्रण सम्भव नहीं है।

इस उपन्यास पर कई प्रकार के धार्मिक प्रभाव हैं। मालती का चरित्र और कमलापुर की पहाड़ी का रहस्य जासूसी परम्परा में है तिलिस्म न होते हुए भी यह पहाड़ी राजनीतिक कैदियों को सुरक्षित रखने का गुप्त स्थान है। दूसरे भाग के नवम परिच्छेद में एक मुक्तकेशी भैरवी हाथ में वीणा लिए स्वराग कराली-कराली गुनगुनाती शिविर में प्रविष्ट[2] होती है जिसके प्रभाव में आकर 'गुलरुख का उद्धार कर भैरवी के चरणों पर गिर' पड़ता है। यह 'दैवी चमत्कार' का प्रभाव माना जा सकता है।

लेखक महोदय ने नरेन्द्रसिंह का मल्लिका के साथ विवाह दिखलाते हुए कई सामाजिक विषयों पर अपनी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्मति दे दी है। नरेन्द्र-मल्लिका विनोद-सुशीला अथवा हीरी-शहज़ादे का विवाह किस प्रकार का माना जाए। मुसलमान दम्पति का विवाह तो भिन्न-आदर्श-जन्य प्रेम का सूफियों का प्रभाव माना जा सकता है। परन्तु पौराणिक गोस्वामी जी के समय में आदर्श हिन्दू-दम्पति का विवाह-पूर्व प्रेम उस समय आलोचना का विषय बन गया था जिसका उत्तर लेखक ने अपने दूसरे उपन्यास 'चपला या आदर्शबाला' में दिया है।[3] प्रस्तुत उपन्यास में उसने 'विवाह के पूर्व परस्पर मिला कर प्रेम-संभाषण' को 'वैदिक और पौराणिक काल के कोर्टशिप के अनुसार'[4] माना है। कोर्टशिप स्वयं दो प्रकार की हो गई एक आधुनिक जो पाश्चात्य प्रभाव है और जिसमें वर कन्या विवाह से पूर्व परस्पर में परिचय प्राप्त करके वैवाहिक सम्बन्ध स्वयं निश्चय कर लेते हैं। दूसरी कोर्टशिप 'वैदिक और पौराणिक काल के अनुसार' है इसकी दो विशेषताएँ हो सकती हैं—(क) विवाह का गुरुजनों द्वारा निश्चय (ख) विवाह की बात सुनकर लज्जा और संकोच का आ जाना। इस विशेषता का संकेत एक वाक्य से मिलता है 'किन्तु जब प्रेमियों ने यह सुना कि अब विवाह शीघ्र होने वाला है तब से न जाने क्यों एक विलक्षण लज्जा तथा संकोच ने उनको 'अपने आधीन कर लिया'[5] रेखांकित शब्द उक्त विशेषताओं के आधार हैं। 'विवाह की तैयारियाँ बड़े धूमधाम से' हुई हैं 'महफिल और बारात' 'शुभ मुहूर्त में जुलूस' 'डंके निशान हाथी घोड़े सवार' आदि के साथ 'मधपिया गुजरता हुआ' जाता है। 'आतिशबाजी नाचरंग और महामहोत्सव'[6] का मनोहर वर्णन है। लेखक विवाह में इन सब बातों को आवश्यक समझता है। दम्पति की क्रीड़ाओं का चित्रण

---

१ निसर्ग-दुर्बोधमबोध-विक्लवाः
  क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ॥
२ पृ० ६९
३ दे पृ ११४
४ दूसरा भाग पृ० १०१
५ वही, पृ० १०७
६ पृ० १०८

दूसरे उपन्यासों के समान यहाँ भी कथानक की परिणति पुत्रोत्पत्ति, राज्यप्राप्ति तथा भक्ति में हुई है: 'कुछ दिनों में चीरी, मालती, मल्लिका, सुशीला और सरला ने पुत्रोत्सव का परमानन्द प्राप्त किया और तब वृद्ध महाराज ने नरेन्द्रसिंह को सिंहासन पर बैठाकर अपना समय ईश्वराराधना में ही लगाया'।[1] लेखक ने हिन्दू पात्रों को राजपूती आदर्श में ढालकर उनका आदर्श चित्रण किया है। दोनों प्रकार की भाषा के उदाहरण इस उपन्यास में भी उतने ही स्पष्ट एवं आकर्षक हैं। जब कुछ के मुख्य हिन्दू-पात्र जब बातचीत करते हैं तो लेखक की भाषा संस्कृतनिष्ठ हो जाती है: 'कोटि वृश्चिकदंशन की भांति यह वाक्य किशोर के रोम-रोम में बिंध गया, वे मूर्च्छा से भूमि में गिरकर अश्रु-विसर्जन करते करते कहने लगे—'[2]। इसके विपरीत चीरी और फरहाद की अथवा चीरी और शाहजादे की बातों में फारसी की छटा दिखाई पड़ती है। 'लेकिन इस जुमले का माकूल जवाब तब हो सकता है जब मैं यहीं इल्जाम औरतों की मुहब्बत पर लगाऊँ लेकिन ऐसा करना मैं इसलिए मुनासिब नहीं समझता कि मुझे इस बात का यकीन है कि आप मुझे तहेदिल से प्यार करती हैं'[3]। कथानक के बीच में आने वाले अनेक दृश्य विषय के स्पष्टीकरण के साथ-साथ लेखक की प्रकृति-प्रियता के भी द्योतक हैं। दूसरे भाग के तृतीय परिच्छेद में ऋतु की शैली पर गोस्वामी जी ने एक सुन्दर अप्रस्तुत-योजना की है जो स्वाभाविकता के कारण आकर्षक बन गई है: 'फरांसीसी पंखा चल रहा है और उसके टुकड़े पर रखी हुई किरण अपने स्वामी की दुर्भाग्यता पर आप ही आप जल कर खाक हुई जाती है।'[4]

इतिहास से परिचित व्यक्ति को इस उपन्यास में सबसे खटकने वाली बात यह लगती है कि बख्तन को कथानक में स्थान देते हुए भी उसकी प्रसिद्ध क्रूरता का लेखक ने प्रदर्शन नहीं किया और फलस्वरूप सन् १२५९ ई० के परिवर्तन में जो निर्दय वातावरण बंगाल में फैल गया था उसकी गन्ध भी इस रचना में नहीं है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि सवनावती का अमानुषिक अत्याचार जिसको देख कर ही अनेक व्यक्ति मूर्च्छित हो गये थे इतिहास में बख्तन के कौटिल्य के लिए भी बदनाम माना गया है उसका एक प्रमाण जन्मभूमि से प्रवासियों तक आतंक का प्रसार था। लेखक को भले मन का चरित्र अभीष्ट न हो परन्तु यह गुप्त पातक तो प्रस्तुत कथानक में अनिवार्य है। शायद मुसलमान और हिन्दुओं की धूमधाम में छूटती हुई सांसों का क्रन्दन यह सुन नहीं पाया। सत्य यह है कि जो कुछ इतिहास को विदित है लेखक की दृष्टि में उतना ही इतिहास नहीं है जो अविदित और अज्ञात है उसका चित्रण यह उपन्यास का कर्तव्य समझता है। दूसरे भाग के उन्नीसवें परिच्छेद में कवि भारवि का जो श्लोक दिया गया

१ वही पृ ११९
२ दूसरा भाग पृ ३३
३ वही, पृ ११
४ वही पृ १९

है यह गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों का एक मुख्य सूत्र माना जा सकता है श्लोक का अर्थ है कि कवि का ज्ञान बहुत सीमित होता है और राजाओं का जीवन स्वभावतः दुर्बोध एवं रहस्यमय है'[1] इसलिए उनका ठीक-ठीक चित्रण सम्भव नहीं है।

इस उपन्यास पर कई प्रकार के सामयिक प्रभाव हैं। मालती का चरित्र और चन्द्रचूड़ की पत्नी का रहस्य जासूसी परम्परा में है तिलिस्म न होते हुए भी यह पुरानी परम्परागत शैलियों को सुरक्षित रखने का पुष्ट प्रमाण है। दूसरे भाग के नवम परिच्छेद में 'एक सुलक्षणी भैरवी हाथ में वीणा लिए झंकार करती-करती कुमरन के शिविर में प्रविष्ट'[2] होती है जिसके प्रभाव में आकर कुमरन मां उठन कर भैरवी के चरणों पर गिर पड़ता है। यह देवी चौधरानी का प्रभाव माना जा सकता है।

लेखक महोदय ने नरेन्द्रसिंह का मल्लिका के साथ विवाह दिखलाते हुए कई सामाजिक विषयों पर अपनी स्पष्ट या अप्रत्यक्ष सम्मति दे दी है। नरेन्द्र-मल्लिका विनोद-सुशीला अथवा गौरी-शहजाद का विवाह किस प्रकार का माना जाए। मुसलमान दम्पति का विवाह तो विश्व-मानव-जन्य प्रेम का सूफियों का प्रभाव माना जा सकता है। परन्तु पौराणिक गोस्वामी जी के हाथ में आदर्श हिन्दू-दम्पति का विवाह-पूर्व प्रेम उस समय आलोचना का विषय बन गया था जिसका उत्तर लेखक ने अपने दूसरे उपन्यास 'सवतन्त्रता या आदर्शबाला' में दिया है।[3] प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने विवाह के पूर्व 'परस्पर मिला कर प्रेम-सम्पादन' को वैदिक और पौराणिक काल के कोर्टशिप के अनुसार[4] माना है। कोर्टशिप स्वयं दो प्रकार की हो गई एक आधुनिक या पाश्चात्य प्रभाव है और जिसमें वर कन्या विवाह से पूर्व परस्पर में परिचय प्राप्त करके वैवाहिक सम्बन्ध स्वयं निश्चय कर लेते हैं। दूसरी कोर्टशिप 'वैदिक और पौराणिक काल के अनुसार' है इसकी दो विशेषताएं हो सकती हैं—(क) विवाह का गुरुजनों द्वारा निश्चय (ख) विवाह की बात सुनकर लज्जा और संकोच का आ जाना। इस विशेषता का संकेत एक वाक्य से मिलता है 'किन्तु जब मल्लिका ने यह सुना कि अब विवाह शीघ्र होने वाला है तब से न जाने क्यों एक विलक्षण लज्जा तथा संकोच ने इसको अपना आधीन कर लिया'[5] वैवाहिक प्रसंग उक्त विशेषताओं के आधार हैं। 'विवाह की तैयारियाँ बड़े धूमधाम से' हुई हैं 'महफिल और बारात' 'शुभ मुहूर्त में कुंकुम' 'नव निशान हाथी घोड़े नक्कारे' आदि के साथ 'अगवानियाँ सुहाना हुआ' जाता है। 'पाणिग्रहणी आचरण और महामहोत्सव'[6] का मनोहर वर्णन है। लेखक विवाह में इन सब बातों को आवश्यक समझता है। दम्पति की क्रीड़ाओं का विशद

---

१ निसर्ग-दुर्बोधमबोध-विक्लवाः
 क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ॥

२ पृ० २२

३ वे पृ १६४

४ दूसरा भाग पृ० ? ?

५ वही, पृ १०

६ पृ १४

जो लेखक ने नहीं किया परन्तु इस समय के लिए स्वयं खेद प्रकट किया है और पाठकों से क्षमा भी मांगी है—"समाज की इस प्रवृत्ति को वह अच्छा नहीं समझता। खेद है कि हम उस काचगृह के सम्पूर्ण रहस्य को खोलकर न लिख सके इससे कदाचित् हमारे रसीले पाठक कुछ हम पर बिगड़ेंगे किन्तु क्या किया जाए, हम अपने समाज की जैसी वर्तमान अवस्था देख रहे हैं उसमें उस विषय का स्पष्ट न लिखना ही वर्तमान हिन्दू-समाज के लिए मंगलकारक है। यह कहना कठिन है कि समाज की 'वर्तमान अवस्था' से लेखक का अभिप्राय आर्यसमाजी प्रभाव है चरित्रहीनता है अथवा करुणा-मय स्थिति है—शायद प्रथम ही हो। आर्यसमाज के एक अन्य सुधार पुनर्विवाह पर भी गोस्वामी जी ने चलता हुआ व्यंग्य किया है। द्वितीय भाग के सप्तम परिच्छेद में विनोदसिंह से बात करते हुए सरला ने परिहास किया कि वह अपने पति को छोड़ कर दूसरे व्यक्ति से भी विवाह कर सकती है —

> सरला— आजकल पुनर्विवाह की विधि प्रचलित हुई है।
>
> विनोद—हैं, यह क्या बोल उठी।
>
> सरला—आप हमें स्मरण करके यहां आए हैं न।
>
> विनोद—तो इसमें पुनर्विवाह के प्रश्न की आवश्यकता क्या है?
>
> सरला—कदाचित् आपका ऐसा ही विचार हो! अस्तु, मैं सब भांति प्रस्तुत हूं। (पृ ४४)

यह कहना अनावश्यक है कि आर्यसमाज केवल विधवा के लिए पुनर्विवाह की आज्ञा देता है तलाक और विधवा विवाह एक ही बात नहीं है। अपने सामाजिक उपन्यास 'आदर्श हिन्दू' में लज्जाराम शर्मा ने विधवा-विवाह तथा तलाक[1] को समान बता कर उसका खण्डन किया है। प्रस्तुत प्रसंग में भी वही तर्क झांक रहा है।

सोना और सुगन्ध या पन्नाबाई

कवि पद्माकर ने लिखा है कि स्वर्ण में सुगन्ध नहीं होती और सुगन्ध में सोना नहीं होता किन्तु उनकी नायिका[2] में सोना और सुगन्ध दोनों का अपूर्व योग है। किशोरीलाल गोस्वामी ने इसी उक्ति से प्रेरित हो कर[3] पन्नाबाई नामक एक ऐसी नायिका की कथा लिखी है जिसके रूप में स्वर्ण की आभा और गुण में सुगन्ध का मेल है। इस उपन्यास को 'ऐतिहासिक उपन्यास' कहा गया है इसके दो भाग हैं प्रथम भाग सन् १९०९ में और द्वितीय भाग सन् १९११ में प्रकाशित हुआ था। अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की तुलना से सोना और सुगन्ध या पन्नाबाई उपन्यास की

---

१ पृ १०९

२ प्रथम भाग पृ ४१

३ सोने में सुगन्ध ना सुगन्ध में सुन्यो री सोनो
  सोनो औ सुगन्ध तो मैं दोनों देखियत है।

४ द्वितीय भाग पृ० १११

तरह पाक और साफ है और उसके अन्दर उतनी ही जगह है जितनी जगह में सिर्फ पन्ना समा सकती है। भाग्य ने उसका साथ दिया जिससे वह हीराचन्द के घर रहा, उसका जामाता बना और कालिन्दीप्रसाद तथा अकबर की दया पर सुखी रहा। उसका जीवन सुख-दुःख की छाया का प्रत्यक्ष उदाहरण है अथवा यह कह सकते हैं कि जो दिल का साफ और तबियत का नेक है उसकी सहायता ईश्वर भी करता है।

'पन्नाबाई' उपन्यास की कहानी मध्ययुगीन लोक-कहानियों के रूप में कथित है। रूप और गुण का पूर्वराग, प्रेम का भाग्य को हिला देने वाला परिपाक, संयोग की अद्भुत करामात, कंगाल से अमीर और अमीर से खाक में मिलने की घटना सर्वस्व दान, दोस्ती का अनुकरणीय आदर्श यहां देखने योग्य है। आधुनिक दृष्टि से कथा में संघर्ष और समस्याएं नहीं हैं। तुलना द्वारा चरित्र की महत्ता यहां प्रतिपादित नहीं की गई। इस उपन्यास में तिलिस्म का एक नया रूप मिलता है। 'उस कमरे में कहीं पर राग-रागिनियों की, कहीं पर 'कोक' के वाहियात और कोक आसनों की, कहीं पर नायिका भेद की नायिकाओं की, कहीं पर चीन रूम ईरान तुर्किस्तान यूनान और कोहकाफ की परियों की[१] सुन्दर तस्वीरें बनी हुई थीं। ये तिलिस्म बादशाहों के खास खजाने थे जिनमें वे अपनी सबसे कीमती वस्तुएं संचित रखते थे। ऐसे तिलिस्मी कारखानों के भेद को लोग अक्सर अपनी जोरू या बेटों पर भी तब तक कभी जाहिर नहीं करते जब तक कि उसके जाहिर करने की जरूरत न समझी जाए'[२]।

लेखक ने जबर्दस्ती से अकबर के दरबार में पण्डितराज जगन्नाथ को बिठा दिया है और बादशाह से उनको बहुत-सा धन और 'लवंगी-कोमलांगी' अपनी कनीज़ा को इनाम में दिलवा दिया है। वह शायद यह दिखाना चाहता है कि एशो-आराम की जिन्दगी ने हिन्दू मुस्लिम का भेद मिटा दिया और अकबर के तमाम उसके मनचले दरबारी भी प्रेयसी को चुनते समय हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं करते थे। इस इतिहास विरुद्ध घटना के लिए उसने जो तर्क दिया है उसमें तनिक भी दम नहीं 'जबकि कालिदास नाम के कई कवि भिन्न-भिन्न समयों में हुए माने जाते हैं तो पण्डित-राज जगन्नाथ भी यदि दो मान लिए जायं तो क्या हर्ज है'[३]। उपन्यास में एक ओर तो अकबर के ऐश्वर्य एवं सद्गुणों की चर्चा है दूसरी ओर उसका मीना-बाजार वाला रूप भी दिखलाया गया है। 'अकबर की इस बदनामी' का पूरा वर्णन सम्मुख रखने के लिए पाठकों से 'प्रताप' नाटक पढ़ने की सिफारिश की है[४]। एक मुख्य पात्र के शब्दों में यह बादशाह जाहिरा में जितना धर्मात्मा और बेदाग बनता है अन्दर ही अन्दर यह उतना ही ऐयाश और मस्त-परस्त है'[५]।

---

१ वही पृ ९८
२. वही पृ १४१
३ प्रथम भाग पृ० २४०
४ द्वितीय भाग पृ २२९
५ प्रथम भाग, पृ० १११

वस्तुतः यह रचना 'आसमानी मंदिर' का अनूठा किस्सा है। इसको ऐतिहासिक मानना आसान नहीं। इसका शरीर ऐतिहासिक है रक्त और मांस नहीं। लेखक दिलचस्पी में बह गया है साहित्यिक गम्भीरता की ओर नहीं गया। भाषा सरल है कथोपकथन कम है। सामाजिक समस्याएं कम हैं। विलास का चित्र ऐसा नहीं जिसके कुपरिणाम को पढ़ कर मन स्वस्थ बने। नायक-नायिका सुन्दर हैं परन्तु उनके प्रति मन में श्रद्धा नहीं जागती। ऐतिहासिक प्रतिपादन केवल जोधाबाई का है जोधाबाई बेगम के नाम से मशहूर है वह दरअसल जोधपुर के राजघराने की लड़की नहीं है बल्कि काश्मीर से खरीदी हुई एक ऊँचे लेकिन तबाह घराने की लड़की है[1]। कट्टर सनातन धर्मी होते हुए भी किशोरीलाल जी आर्य-समाज के शुद्धि-आन्दोलन से सहमत दिखाई पड़ते हैं भला यह भी कोई बात है कि मुसलमान तो हिन्दुओं को मुसलमान बना लें लेकिन हिन्दू भाई मुसलमानों को हिन्दू बनाना तो दूर रहा अपने उन भाइयों को भी हिन्दू न बनावें जो जबरन मुसलमान बना लिए गये हों"[2]।

गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह

नवाबी अमल से सम्बद्ध बंगाली केन्द्र का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह' सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह १२ परिच्छेदों और ४१ पृष्ठों का एक छोटा-सा उपन्यास है। इसमें बंगाल के अन्तिम नवाब मीरकासिम की पुत्री 'गुल' और पुत्र 'बहार' के करुण प्रसंग का वर्णन है। कथानक का विस्तार लगभग १२ वर्ष का है परन्तु पहिले दो परिच्छेदों में सिराजुद्दौला मीरजाफर और मीरकासिम तथा उसकी पत्नी मैना बेगम का वर्णन है फिर पृष्ठ ९ से १४ वर्ष बाद की कहानी प्रारम्भ होती है—यही उपन्यास का मुख्य अंश भी है। उपन्यास में दो ही पात्र हैं—एक साथ पैदा होने वाले भाई-बहिन लेखक ने बालक बहार को इस छोटे से उपन्यास का नायक"[3] और भोली गुल को 'छोटे से उपन्यास में लिखी हुई घटना की नायिका"[4] माना है। यदि मीरकासिम 'अंग्रेजों से मिल कर चलता तो अकाल ही में काल कवलित न होता और गुल तथा बहार की भी अकाल मृत्यु न होती'[5] परन्तु 'मीर जाफर खां की लड़की और मीरकासिम की प्यारी बीबी मैना बेगम'[6] के अन्तिम दृश्य मरते-मरते मीरकासिम ने अंग्रेजों से सन् १७६४ में अन्तिम लड़ाई लड़ी जिसके बाद किसी ने बंगाल में मीरकासिम का मुख न देखा"[7]। मदोन्मत्त अंग्रेजों के हाथ से मासूम

---

१ वही पृ० १४
२ वही पृ० १४१
३ पृ० १४
४ पृ० ११
५ पृ० १
६ पृ० ४
७ पृ० ८

बच्चे 'गुल' और 'बहार' भी सदा के लिए संसार से उठ गए। नवाब के ऊपर इस करुण दृश्य का बड़ा असर हुआ उसने अपनी डायरी में[1] इस करुण प्रसंग को अंकित किया है। मुंगेर में आज भी उनकी कब्र बनी हुई है जिसको शुक्रवार को मुसलमान लोग फूलों से सजाते हैं। इस घटना के बाद नवाब को अपने देश से चिट्ठी मिली जिसमें उसके 'लड़के और लड़की के मरने की खबर थी'[2]।

उपन्यास का कथानक इतना छोटा है कि इसके आधार पर केवल एक करुण कहानी लिखी जा सकती है। मीरकासिम के दिनों का फेर उसकी बेगम की शोचावस्था उसकी मृत्यु नवाब और उसकी दोनों सन्तानों का एक दूसरे के लिए तड़पना नाव में जाते हुए बहार का अपहरण या वस्तुतः सुरंग के मुहाने पर मीरकासिम को देखकर नाविक को किसी डगर से जाने को कहना परन्तु नाविक का न मानना गुल का शोक मीरकासिम का छिपाकर अपनी सन्तान को खोजना परन्तु उनकी कब्र को देखकर आत्महत्या कर लेना आदि प्रसंग इतने दारुण हैं कि लेखक को अन्त में 'ओ३म् शान्ति' लिखकर पाठकों को धैर्य बंधाना पड़ा है। इस कथानक की मुख्य प्रेरणा मुंगेर की कब्र और नवाब की डायरी है। साथ ही इतिहास एवं जनश्रुति के विषय से भी कुछ प्रसंग आये हैं जैसे 'धीरे धीरे जब डोंगी बीच धारा से आगे बढ़ी तब बहार ने देखा कि मीरकासिम सुरंग के मुहाने से बाहर निकल कर खड़ा है। यह देख उसने मांझी से किसी किनारे पर ले चलने के लिए बहुत कहा पर उसने एक न मानी'[3], कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि गुल के मरने की खबर सुनकर मीरकासिम फिर लौट आया था और अपने दोनों बच्चों के भयानक परिणाम को देखकर उसने अपने तईं आप मार डाला था'[4]। लेखक ने कर्मफल में विश्वास दिखाते हुए नवाब के पुत्र-पुत्री की मृत्यु दिखा कर उपन्यास के अन्त को और भी दारुण बना दिया है। 'सर्वेश सर्वशक्तिमान् काल की महिमा का विषय है—यही रचना के मुखपृष्ठ पर अंकित भी था।

यह उपन्यास अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों से केवल आकार और मार्मिकता में ही भिन्न नहीं भाषा शैली वर्णन आदि में भी कुछ अलग है। यद्यपि नायिका प्रधान है परन्तु वह युवती नहीं बालिका है, उसकी एक ही विशेषता है—भ्रातृस्नेह। विलास वैभव दाव-पेंच आदि की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। करुणा का प्राधान्य होने से कहीं उत्थापन नहीं आ पाया भाषा साफ-सुथरी वर्णन संयत है। यदि उपन्यास में रस को स्थान मिलना चाहिए तो वह यहां अवश्य मिल सकता है। बीच में जितने उद्धरण आये हैं वे ज्ञान-ध्यान के हैं, शृङ्गार आदि के नहीं। ऐसा लगता है कि लेखक जीवन के चलते दिन बीतने में आम बोलचाल की उर्दू हिन्दी का उपयोग ठीक सम-

---

१ पृ १०
२ पृ ४१
३ पृ० १२
४ पृ ११

गया था परन्तु शोक आदि मार्मिक भावों के लिए वह संस्कृतनिष्ठ भाषा को छोड़ न सका। इस 'हृदय-द्रावक वृत्तान्त को ऐसे करुण-व्यंजक शब्दों में' लिखकर लेखक ने 'हृदय की सच्ची वेदना' का परिचय दिया। मीरकासिम आदि के व्यक्तित्व को सुनकर पाठक रसमग्न हो जाता है यही काव्य की विशेषता है। कथानक का जिस प्रकार लिखा गया है उस रूप में यह सिनेमा की कहानी बनने के योग्य है पहले दो परिच्छेद पृष्ठभूमि का दृश्य तैयार कर देते हैं फिर पृष्ठ ९ पर उपन्यासकार ने लिखा है 'चौदह वर्ष बीत गये' इस दृश्य में बेगम की मृत्यु, फिर मीरकासिम का पलायन फिर बहार की मृत्यु, तब गुल का अन्त अनन्तर मीरकासिम की आत्महत्या अन्त में अमान को पत्र मिलना सुमेर की कब्र के पास समाप्ति।

लखनऊ की कब्र या शाहीमहलसरा

हमारे देश के इतिहास में किसी भी प्रदेश का भाग्य उतनी टक्करें नहीं खाता रहा जितना कि उस प्रदेश का जिसको 'अवध' कहा जाता है। रामायण-काल की 'अयोध्या' और बौद्धकाल की 'साकेत' राजधानियों पर होकर इतिहास हिन्दू काल के कान्य-कुब्ज राज्य पर आ जाता है जब 'अवध' कान्यकुब्ज या कन्नौज का एक भाग था। १२वीं शती के अन्तिम दिनों में मुसलमानों ने अवध पर अधिकार कर इसे कन्नौज से अलग कर लिया तब से यह दिल्ली सल्तनत के अधीन बन गया। मुहम्मदशाह के शासन में सत्तारूढ़ होने वाला खुरासान का एक सौदागर सादतखाँ सन् १७१२ ई० के लगभग अवध का शासक बना, जब नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया तो सादतखाँ ने दिल्ली से दगाबाजी की और 'नवाब वजीर' का खिताब लेकर वह स्वतन्त्र शासक बन गया।[2] दिल्ली और बंगाल की उथल-पुथल से अवध का महत्त्व और भी बढ़ गया और लखनऊ के नवाब ऐशोआराम का निर्द्वन्द्व जीवन बिताने लगे। बंगाल का नवाब मीरकासिम जब भागकर लखनऊ की शरण में आया तो अवध फिर राजनीति के दाँव पेंच का केन्द्र बना। सन् १७६५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल की दीवानी मिलने के बाद अवध भी कम्पनी का मुखापेक्षी बन गया। अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अवध एक ओर विलास-वैभव और दूसरी ओर राजनीतिक दमन का मुख्य स्थल था। वाजिदअली शाह का विलास और अवध की बेगमों की दुखमय इतिहास में सदा अंकित रहने वाली घटनाएं हैं। आज भी लखनऊ की तहजीब नजाकत ऐयाशी दरियादिली और हुस्नपरस्ती हिन्दुस्तान भर में अपनी सानी नहीं रखती। जो लखनऊ धनसम्पत्ति शक्ति और ऐश्वर्य में बंगाल और दिल्ली से भी बहुत आगे बढ़ गया था उसके बादशाह ऐयाश निकले। बादशाह वजीर या अमीर उमरा तो नजर

---

१. पृ. ९०

२. सर विलियम ली वार्नर: दि लाइफ आफ दि मार्क्विस आफ डलहौजी, २, (दि मैकमिलन ऐंड कं० १९०४)

पड़ने पर किसी औरत को भी अगर वह उनके काबू में आ सके हर्गिज नहीं छोड़ते और उसकी जात-पाँत का मुतलक ख्याल न कर उसे अपनी बीबी बना बैठते थे।[1] इन 'ऐयाश बादशाहों के महलों में खूबसूरत औरतों का बड़ा खजाना होता था और न औरतें अपनी खूबसूरती के बाइस बड़ी शानोशौकत के साथ महल में रहती थीं'[2]। खूबसूरती नजाकत नमकीनी चिकनाई मजाक का शऊर खुशगपू की लियाकत कुछ इल्मी ताकत गाने बजाने नाचने के कौशल शतरंज वगैरह का जानना और नाजनखरे वगैरह अदबगार जिन नाजनी के पास होते बादशाही दिल पर वही जगह पा सकती थी।[3] 'मसनद का शाही महल इस किस्म की खूबसूरत नाजनियों का गोया नुमाइशगाह था। यहाँ पर एक से एक बढ़कर खूब-सूरत नाजनियाँ रहती थीं और अपने हुस्न की कटारी के सबब बादशाह के दिल को अपनी मुट्ठी में लिए रहती थीं'[4]। इन्हीं नाजनियों ने मसनद की जड़ खोद दी और शाहीमहल मानो एक कब्रिस्तान बन गया।

'मसनद की नब्ज या शाहीमहलसरा' उपन्यास में लेखक ने उसी विलासी राज महल का वर्णन किया है। यह उपन्यास कई भागों में समय-समय पर छपता रहा। 'उपन्यास' मासिक पत्रिका में इसका छपना प्रारम्भ हो गया और यथावसर प्रकाशित करते हुए लेखक ने सन् १९१७ में इसके ७ भाग पाठकों को दिये। लगभग १५ वर्ष के समय में ७ भागों का छपना इस बात का सूचक है कि जब कोई और उपन्यास तैयार नहीं होता था तब लेखक इसको छाप देता था। ध्यान आकृष्ट करने की मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक भाग की कथा इतनी स्वतन्त्र है कि एक भाग को ही पढ़ने वाला उपन्यास को अपूर्ण नहीं समझता। अन्त में यूसुफ और आसमानी दो पात्रों द्वारा प्रत्येक भाग जुड़ जाता है—बिजली के दो तारों के समान ये दोनों अभागे पात्र उसकी पीठ को छूकर 'कथा' की कथा को रोशनी से चमकाते हुए, अन्तिम भाग में पहुँच कर सर्किट पूरा कर लेते हैं। 'बहार दानिश' के किस्से का इस उपन्यास पर आवश्यकता से अधिक प्रभाव है कई बार इस किस्से की चर्चा आई है 'गुलिस्ताने इरम' 'मजलिस लैला' आदि का भी इसके वर्णनों में योगदान है। यह 'उपन्यास' नहीं है इसको 'किस्सा'[5] ही कहना चाहिए, स्थान-स्थान पर 'किस्सा कोताह' लिखने से छिपी हुई बात प्रकट भी

१ दूसरा भाग पृ० ११
२ चौथा भाग पृ० २८
३ वही पृ० १
४ वही, पृ० २८
५ 'और अपना किस्सा सुनाए, न तो तुम्हें ही चैन पड़ेगा और न मेरे ही दिल को तसकीन होगी'। (पाँचवाँ हिस्सा पृ० ५)
'अब नसीबजिस ऐसा मेरे इस किस्से का सिरताज है।' (छठा हिस्सा, पृ० ५)
'जग में लिखने की मैली है तो अपना किस्सा बिलकुल ठड़ी-ठड़ी ही लिख दी'। (सातवाँ हिस्सा पृ० ५)

हो गई है। लेखक की दृष्टि में यह 'किस्सा आशिकी-माशूकी का बयान'[1] है इसके पाठक वे लोग कल्पित किये गये हैं जिन्होंने 'फारसी और उर्दू के मशहूर मशहूर शायरों की दीवानें जरूर ही देख डाली होंगी'[2] इनको स्थान-स्थान पर 'मेहरबान नाज़रीन' कह कर सम्बोधित किया गया है। उपन्यास की भाषा उर्दू हिन्दी है दोनों किस्से भी हैं पाठक उर्दू-फारसी पढ़े लोग हैं वातावरण मुस्लिम है पात्र मुसलमान हैं। अन्य उपन्यासों से तुलना करने पर इसकी पहिली विलक्षणता भाषा है दूसरी पात्र एवं वातावरण। इसके भागों को 'हिस्सा' और परिच्छेदों को 'बयान' कहा गया है। नीति-विषयक सूक्तियाँ नहीं हैं, आशिकी-माशूकी के दौर बहुत अधिक हैं। 'उपन्यास' की कसौटी पर कसकर इसे हम समझ पाते हैं लगता है कि यह साहित्य नहीं था अखबार चलाने के लिए लिखी थी। सातवें हिस्से में इस रचना के उद्देश्य पर कुछ प्रकाश पड़ता है —

(क) यह मेरी जिन्दगी का सच्चा खाका है—जो पढ़ने वालों और पढ़ने वालियों को शायद अच्छी ही नसीहत देगा।

(ख) यह नई उम्र कैसी खतरनाक होती है जवानी का जोश कैसा जहरीला होता है और नातजुर्बेकारी कैसी बुरी बला होती है।

(ग) नासमझी का काम आखीर में क्या इनाम देता है और जोरुओं की बहका-वट आखीर में कैसा रंग लाती है।

इस रूप में ये सब अरबी कहानियों के प्रभाव से आये हैं। वस्तुतः सारे किस्से की केन्द्र-शक्ति तकदीर की जंजीर[3] है बगैर तकदीर के एक तिनका भी अपनी जगह से नहीं हट सकता इस तकदीर को 'खुदावन्द करीम की मरजी' समझना चाहिए। तकदीर की ठोकरें खाने वाले यूसुफ आसमानी बुखारी (मलका जमानी) मुन्तरी आदि जिन्दगी भर खुराफात करते रहते हैं। सबसे खतरनाक आसमानी है जिसने बेगमों के रहस्यों को जान कर उनको डरा-डरा कर अपने कब्जे में कर रखा है। पात्र रुपये में जान देने के कैसे होते हैं[4] 'अपनी वाहिम बेटियों से वफा'[5] कराया जाता है सारी जिन्दगी 'भटयारे की सरा' किस्सी के पावली व चार या दूसरे अड्डों पर काट दी जाती है दूर-दूर से निहायत हसीन और कमसिन लड़कियाँ भेजी और खरीदी जाती हैं'। सारा वातावरण पैशाचिक और हब्शी आदतों से भरा हुआ है। परन्तु विलास के नग्न चित्र उपन्यास में नहीं हैं उनका संकेत कर दिया गया है नग्न नहीं वर्णन तो इसकी मेरी अत्याचारा, छिपे मकाना किसमा की सफेद-करोक तिलिस्म और सुरमों-सुरमों के हैं। यह सोचना कि दुनिया की सभी औरतें खराब होती हैं महज सनक और वाहियात

१ सातवाँ हिस्सा पृ० ३८
२ वही वही
३ चौथा हिस्सा पृ० ६
४ पाँचवाँ हिस्सा पृ० ५५
५ वही पृ० ५४

' परन्तु जो नीच होते हैं उनके 'पैदाइशी खून के ऐब—दिन ब दिन ज़ाहिर होने—लगते हैं) और (उनकी) बदतमीज़ी बदजुबानी बदचलनी और बदमाशी से सभी नाकों दम आ' जाता है और 'कच्ची उम्र के लड़को या लड़कियों का बदजात ोड़ी का मुसाम'[2] बिल्कुल खराब कर डालते हैं।

इस किस्से को ऐतिहासिक मानने में संकोच होगा। इसमें कई स्थलों पर सन् और तारीख का पूरा विवरण है सन् १८२१ ई० में बादशाह नासिरुद्दीन हैदर के कमीने नाक मशीहुद्दीन हैदर की दुलारी के साथ शादी उसकी अयोग्यता ऐयाशी या पांच सिपाहियों मुसाहबों का उसको अपने कमरे में कर लेना[3] पोशीदा बनवाने के लिए हजारों मकानात का ढाह देना आदि घटनाएं ऐतिहासिक हैं फिर भी जिन रहस्यों का इस किस्से में उद्घाटन है वे इतिहास में कोई विशेष महत्व नहीं रखते। साथ ही लेखक की रुचि वर्णन में और किस्सों में इतनी अधिक है कि वह पाठक पर इतिहास का कोई प्रभाव नहीं डाल पाता। यह सन्देहास्पद ही है कि इस किस्से से पाठक को नसीहत मिलती है या नहीं क्योंकि ये रहस्य जीवन के साधारण रहस्य नहीं हैं इसीलिए ये आधुनिक उपन्यास के लिए उपयुक्त भी नहीं हैं किस्से दिलचस्प ' परन्तु साहित्यिक एवं समयानुकूल नहीं, इन से गोस्वामी जी की कीर्ति में कोई वृद्धि नहीं होती।

...लकुसुम वा मस्तानी

(अर्थात् बाजीराव पेशवा और मस्तानी की कहानी)

बंगभाषा के 'साहित्य' नामक मासिक पत्र में श्रीयुत सखाराम गणेश देउस्कर ने 'बाजीराव और मस्तानी' शीर्षक एक तीन पृष्ठ का छोटा-सा लेख लिखा था जिस का अवलम्बन लेकर किशोरीलाल गोस्वामी ने ६ परिच्छेद और ६४ पृष्ठ का यह उपन्यास लिखा है। दक्षिण भारत के घटना-स्थल को आधार मान कर लिखा हुआ उनका यही एक मात्र ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें महाराष्ट्र वीर बाजीराव पेशवा और निज़ाम की मोम्या की पूर्वपुत्री मस्तानी के प्रेम का सुखान्त वर्णन है। रहस्यमय होने से इस प्रेम का महत्व है परन्तु मस्तानी के गुणों के कारण यह और भी मूल्यवान बन जाता है।

सन् १७२१ ई० में पेशवा बालाजी विश्वनाथ के मरने पर उनके बड़े लड़के बाजीराव पेशवा की गद्दी पर बैठाये गये। उन्होंने अपनी कूटनीति के बल से निज़ाम जैसे प्रबल बैरी के भी दांत खट्टे कर दिए। एक बार युद्ध में बाजीराव घायल हुए, उस समय उसमान नामक व्यक्ति ने उनकी बड़ी सेवा की। पृ० ८ पर बताया गया है कि एक अनजान सवार बाजीराव के घायल शरीर को ले गया। पृ० १४ पर उसको खून

१ छठा हिस्सा, पृ० ८२
२ वही पृ० ९१
३ सातवां हिस्सा पृ० १९
४ दसवां हिस्सा पृ० ७

सूरत नौजवान कहा है। उसकी आवाज मीठी और सुरीली बताई गई है। अन्त में उसमान को हकीकत मालूम हो जाती है। 'मेरी लिबास मर्दाना है मगर फिल हकीकत मैं औरत हूं। मेरी बाहर पर जो कि निहायत ही हसीन और बेनजीर औरत है निजाम की बद निगाह पड़ी इसलिए उसने किसी ढब से मेरे वालिद को मार मेरी वाल्दा को अपने हरम में दाखिल किया। एक रोज मैंने अपनी वाल्दा से इस अम्र में बातचीत की तो उन्होंने मुझे इस बात की सख्त कसम दे दी कि मैं निजाम की आन पर किसी तरह का सदमा न पहुंचाऊं। मेरा नाम मस्तानी है और मेरे पाक-दामन में अभी तक किसी शख्स ने उंगली नहीं लगाई है।'[1] सब को मस्तबाला के रूप और गुण पर बड़ा आश्चर्य हुआ और रानी काशीबाई के आग्रह से बाजीराव का मस्तानी के साथ विवाह हो गया। 'कमलकुसुम' सप्तम परिच्छेद का दीपक है प्रसन्न हो कर अपना बनाते हुए बाजीराव ने लेखक उसमान की भुजा पर यह बांध लिया था।

इस उपन्यास में कल्पना कम है, ऐतिहासिकता अधिक। भाषा स्वच्छ है कथोपकथन कम है अपन सुन्दर है व्यंग्य की कविताएं या उद्धरण नहीं रखे गए। इस उपन्यास का कथानक भी कहानी के लिए अधिक उपयुक्त है। मस्तानी का छद्मवेष पाठक की उत्सुकता को जगाता है अन्त का रहस्योद्घाटन उसे आश्चर्य में डुबा देता है। महलों या विलास-वैभव आदि का वर्णन लेखक को अभीष्ट नहीं है। उसने एक सीधी-सादी प्रेम कहानी लिख दी है।

मस्तानी उपन्यास की नायिका है उसका चरित्र सबसे स्पष्ट एवं प्रभावशाली है। अभागे बाप और खूबसूरत मां की यह पुत्री अपने ही बल पर रोमान्स पर तुल जाती है। एक सौदागर से उसने बाजीराव की एक तस्वीर खरीदी और उसे देखते ही हजार जान से[2] उस पर आशिक हो गई। उसने एक ओर अपने एकनिष्ठ चरित्र की रक्षा की दूसरी ओर अपने मनोबल एवं बुद्धिबल को सकलित किया। सावित्री के समान माता-पिता के सहमत न होने पर भी जिसको मस्तानी ने अपना पति कुमारा वस्था में ही मान लिया था उसी बाजीराव को पाने के लिए उसने पुरुषोचित साहस से काम लिया और अपने प्रेम साहस चरित्र तथा एक निष्ठा के बल पर अंतत उस को प्राप्त कर सकी। तीन स्त्री-पात्रों रानी काशीबाई मस्तानी और मस्तानी की मां में से मस्तानी सर्वोज्ज्वल है रानी का चरित्र-वर्णन अभीष्ट न था वे उदार बन कर अपने पति को मस्तानी के साथ विवाह करने की अनुमति देती हुई देखी जाती हैं मस्तानी और उसकी मां में बड़ा अन्तर है मां अपने पति को भूल कर निजाम की भोग्या बनी रही 'आखिर अपने शौहर को दिल से भुलाकर निजाम पर मेहरबान हो गई'[3] परन्तु बेटी ने जिसको अपना पति एक बार मन से मान लिया उसी को अन्त तक मान कर प्राप्त करने में सफल हुई मां पर निजाम की कुदृष्टि पड़ी और वह हरम म

१ पृ ३८ तथा ४२
२. पृ० ४१
३ पृ० ४८

दाखिल हो गई। बदी पर भी न जाने जिनमें लोगों की कुदृष्टि पड़ी होगी परन्तु उसका पातिव्रत्य अछूता था। जो व्यक्ति दृढ़ और एकनिष्ठ होता है उसकी बाधाएं भी परीक्षा लेकर, अनुचरी बन जाती हैं।

इस उपन्यास में युद्धभूमि तथा रणभूमि के चित्र हैं परन्तु तिलिस्म तोड़ने में लेखक ने समय नष्ट नहीं किया। वह निजाम का विलासी जीवन भी चित्रित कर सकता था परन्तु उसकी आवश्यकता न समझी गई। मस्तानी के रूप में एक आदर्श भारतीय नारी का चित्रण लेखक का अभीष्ट है और हिन्दू-मुस्लिम एकता का इसमें हल्का-सा प्रयत्न है भले ही वह आर्यसमाजी शुद्धि-आन्दोलन से प्रभावित हो। ऐतिहासिक उपन्यासों में यह सबसे कौतूहल वर्द्धक है शैली की दृष्टि से साहित्यिक और प्रौढ़ है।

मथुराप्रसाद शर्मा के उपन्यास

नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर

पं० मथुराप्रसाद ने इस युग में 'सच्चे इतिहास' का चित्रण करने के लिए उपन्यास के क्षेत्र में पदम रखा। सन् १९०२ ई० में रचित इन की 'नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर'[1] एक ऐतिहासिक घटना की किताब है। इसमें अकबर के प्रिय पुत्र जहाँगीर और उस की प्यारी बेगम नूरजहाँ का हाल प्रेम का होना इत्यादि का आद्योपान्त वृत्तान्त लिखा गया है। इसके पढ़ने से उस जमाने की तथा जहाँगीर और नूरजहाँ की प्रेमादिक की बातें आँखों तले घूम जाती हैं"[2]। मुखपृष्ठ पर लेखक ने इस रचना को "उपन्यास" बतलाया है।

प्रस्तुत पुस्तक के दो भाग हैं फिर भी यह ७० पृष्ठों में पूरी हो जाती है। प्रथम भाग में नूरजहाँ की कहानी उसके माता पिता के जीवन से प्रारम्भ हो कर मुख्य कथा की पूर्वपीठिका तैयार करती है। द्वितीय भाग में जहाँगीर की कहानी है उसका और उसकी बेगम का जीवन अंकित किया गया है। भारत के इस्लामी इतिहास में नूरजहाँ स्वयं एक भावुक केन्द्र बनी हुई है। उसके जीवन की चार परिस्थितियां बड़ी मनोरम हैं—उसका जन्म उसका प्रेम उसका विवाह और उसका विलास। परित्यक्ता होकर भी बालिका मेहर अपने माता-पिता को फिर मिल गई—यह संयोग ही तो है। उसका प्रेम जिस भोलेपन में प्रारम्भ हुआ था वह कबूतर वाली घटना अपनी स्वाभाविकता में ही रोमानी है। वीर अफगन के साथ मेहर का विवाह दुर्भाग्य या सन्तोष की गाथा है। अन्त में अपने पति की मृत्यु के बाद वह सलीम की भोग्या बन कर आनन्द-विलास का जीवन बिताती है। यह सदा विवादग्रस्त रहेगा कि शेर अफगन की हत्या में जहाँगीर का कितना हाथ था और उस हत्या का उद्देश्य क्या था इसके बाद अपने पति के हत्यारे के साथ मिलकर उसकी प्रेयसी एवं भोग्या बनकर विष

---

१ प्रकाशक—उपन्यास-बहार आफिस, रामघाट, काशी।

२ भूमिका से।

नूरजहाँ ने अमनचैन का जीवन बिताया उसका मन किस धातु का बना था—यह मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है विशेषत उस परिस्थिति में जब कि पहले पति से उसके एक संतान भी थी। मुसलमान शासन में ऐसी घटनाएं आश्चर्यजनक नहीं। किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा रचित 'कनककुसुम वा मस्तानी' उपन्यास[1] में नायिका मस्तानी की माता भी अपने पति के हत्यारे निजाम की भार्या बन गई था और उसी जीवन में सुखी रहने लगी थी। रजिया बेगम ने उस अल्तूनिया के साथ विवाह किया[2] जो उसके प्रेम-पात्र याकूब का कट्टर शत्रु एवं नाशक था। अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद उस मलिक नायब ने विधवा बेगम से विवाह कर लिया जिसने अलाउद्दीन के तीनों लड़कों की आँखें निकलवाईं[3]। फिर भी नूरजहाँ का महत्त्व इसलिए है कि उसने चिरकाल तक बादशाह के हृदय पर ही नहीं हिन्दुस्तान पर भी अप्रत्यक्ष रूप से शासन किया।

इस रचना मे इतिहास पर आवश्यकता से अधिक जोर है। कथा का विभाजन परिच्छेदों या प्रकरणों में न करके लेखक बीच-बीच मे शीर्षक देता जाता है। और उन घटनाओं के सत्यासत्य पर विचार करता जाता है जो उस शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित हैं। क्रमशः कथ्य विषय पर उपलब्ध समस्त सामग्री की परीक्षा भी खण्डन-मण्डन पूर्वक की गई है। लेखक तर्क पर तर्क देता है और सत्य की खोज का प्रयत्न करता है प्रथम तर्क यह है—दूसरे यदि यह भी मान लिया जाय—तीसरे यह भी मान लिया जाय—चौथे यह बात बहुत ही विचार के योग्य है—यह सब बातें बनावटी झूठ हैं और जितने कारण इस विषय मे दिखाये गये हैं वे सब निर्मूल हैं।

अपने निष्कर्षों को प्रमाणित करते हुए लेखक ने दूसरे इतिहास-लेखकों तथा उपन्यास-लेखकों की कड़ी आलोचना की है। 'तुजुक जहाँगीरी' एलफिन्स्टन रचित 'इतिहास-हिन्द' मिर्जा हैरत रचित 'सवानेउमरी नूरजहाँ बेगम' के अतिरिक्त अनेक इतिहास-ग्रन्थों की सहायता लेकर जो ऊपर लिखा गया है वह कई एक निरपेक्ष इतिहास-लेखकों के लेख का सार है[4]। लेखक ने उन सभी विवरणों का खण्डन किया है जो 'अपनी मनगढ़ंत कल्पनाओं मे फीरोज स्थापित करने के लिए' लिखे गये हैं। सबसे अधिक रोष उर्दू के एक उपन्यास पर है जिसके लेखक ने इतिहास के साथ बहुत स्वच्छन्द व्यवहार किया है। 'लाहौर में एक उपन्यास 'मेहरुन्निसा बेगम' के नाम से 'कासिम ए तालीम' प्रेस में छपा है—उसके बनाने वाले मुंशी अहमदहुसैन खाँ बी० ए० हैं उन साहब ने स्वयं ही हिन्दुस्तान के सर वाल्टर स्काट बनने की चेष्टा की है इस उपन्यास में कुछ अंश प्रोफेसर आजाद के उन विषयों का लिया है जो उन्होंने सलीम

---

१ दे पृ १२७
२ दे रजिया बेगम।
३ दी न्यू हिस्ट्री आफ इण्डिया वॉल्यूम १ पृ १९१
४ पृ ४७
५ पृ ११

व नूरजहां के बारे में वर्णन किया है पर मुंशीजी ने चरित्रों को इस तरह उलटा-पलटा है और ऐसी-ऐसी कपोल-कल्पनाओं की जोड़जाड़ की है कि उस पढ़ने से बुद्धि चकरा जाती है और भ्रम में पड़ना होता है—अपने को हिन्दुस्तान का सर वाल्टर स्काट विदित करने के लिए और केवल टके कमाने के लिए किस उलटपटाव के साथ एक सच्चे इतिहास का रक्तपात किया'[1]। इतिहास प्रसिद्ध चरित्रों में तो 'उलट-पलट' न करना चाहिए, परन्तु 'सच्चे इतिहास' का लिखना उपन्यासकार के लिए आवश्यक नहीं' है। इसी प्रकार 'कहानियां के लिखने वाले होकर भी इतिहासवेत्ता बनने का चाव'[2] रखने वाले मिर्जा हैरत की भी कड़ी आलोचना स्थान-स्थान पर की गई है।

इतिहास के अतिरिक्त इस उपन्यास में लेखक की दृष्टि 'ईश्वर की अद्भुत लीला'[3] पर भी रही है जो 'प्रतिदिन रंक से राव' और विपुल सम्पत्तिशाली को दर के भिखारी' बना देती है। मिर्जा गयास की जीवनी से लेखक ने पाठकों को सावधान किया है 'यह संसारी सुख पानी के बुलबुले के समान है न पैदा होते देर और न नाश होते'[4]। जहांगीर के जीवन से शर्मा जी ने 'भोगविलास में पड़ रहने वाले विलासी पुरुषों को जताया है कि वे मृत्यु का भय खाकर अच्छे-अच्छे काम करें। इस प्रकार इतिहास और उपदेश दोनों इस उपन्यास में हाथ में हाथ डाले दिखाई देते हैं।

लेखक की भाषा सरल है, मुसलमानी इतिहास होने पर भी फारसी का प्रभाव अधिक नहीं है। बीच-बीच में उर्दू के शेर भी हैं और ब्रजभाषा के दोहे भी। वर्णन एवं कथोपकथनों का अभाव है। लेखक में कल्पना पर तर्क का प्राधान्य है। इसलिए वह सृजन नहीं कर सका परीक्षा करता रहा है। 'नूरजहां बेगम व जहांगीर' एक ऐतिहासिक प्रबन्ध है सफल ऐतिहासिक उपन्यास नहीं। कहानी सुनाकर पाठकों को इतिहास का ज्ञान कराना और कुछ शिक्षाएं देना ही लेखक का अभीष्ट है, जिसमें सफल रहा है।

जयरामदास गुप्त के उपन्यास

नवाबी परिस्तान वा वाजिदअलीशाह

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त के उपन्यासों को पढ़कर[5] श्री जयरामदास गुप्त ने उपन्यास लिखना आरम्भ किया। उनकी रचनाओं में से 'काश्मीर पतन' 'रोशनआरा और नवाबी परिस्तान' ऐतिहासिक उपन्यास हैं। प्रस्तुत पुस्तक की प्रेरणा भी गंगाप्रसाद

---

१ पृ० १७
२ पृ १
३ पृ ४
४ पृ ५
५ भूमिका

गुप्त की बनाई हुई वाजिदअली शाह नामक किताब' है। साथ ही 'केसरुल तवारीख' 'हिस्ट्री आफ अवध' 'दी लखनऊ' 'मुशायरा बोहूग' 'मार्ड आफ लखनऊ गाइडस' आदि पुस्तकों से भी सहायता ली गई है। 'नवाबी परिस्तान या वाजिदअलीशाह'[1] नामक उपन्यास में लेखक ने 'इस उपन्यास के प्रधान नायक जगतप्रसिद्ध विषयी व विलासी लखनऊ के अंतिम नवाब वाजिदअलीशाह'[2] के जीवन के कुछ दृश्य उपस्थित किये गये हैं। 'नवाब वाजिदअलीशाह की ऐयाशी उनके जमाने का रोमांच खड़ा कर देने वाला वृत्तान्त उनके कौतूहल-जनक गुप्तभेद तथा उनके महल का रहस्य बेगमों की उत्पात उनकी चहेतियों की भयानक लीला लोमहर्षण दण्ड—उनके कैसरबाग की सैर—आदि के चित्रण में लेखक स्वयं बह गया है। उपन्यास के दो भाग हैं पहिले भाग में सवा सौ और दूसरे भाग में पौने दो सौ पृष्ठ हैं। उपन्यास की प्रत्येक 'लहर' एक नवीन परिस्थिति का चित्रण करती है।

लखनऊ की बेगमें और विलासी नवाब इतिहास में अपना अलग महत्व रखते हैं। वाजिदअलीशाह के समय में विलास और वैभव का इतना आधिक्य था कि देश भर का धन और रूप वहां इकट्ठा हो गया। नवाब को परियों के बीच से शासन प्रबन्ध देखने का तनिक भी अवकाश नहीं था। महल के अन्दर रूपवती नारियों के ईर्ष्याद्वेष और तज्जन्य षड्यन्त्र चलते रहते थे। निर्दयतापूर्वक हत्या तथा अपने द्वारा मनोरथ साध्य रहस्यगोपन के लिए अमूल्य उपहार उस वातावरण में सामान्य बात थी। लखनऊ का कैसरबाग 'परिस्तान की टक्कर' का था। सवेरे से शाम तक नवाब का कार्यक्रम परियों की महफिल में ही बीतता था। इसी वातावरण को लेकर किशोरीलाल गोस्वामी ने 'लखनऊ की कब्र' नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा है जिसमें 'आसमानी' नामक सुन्दरी का पैशाचिक जीवन रहस्य के रूप में चित्रित किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में भी वैसा ही प्रयत्न है।

इन उपन्यासों की विशेषता यह है कि तथ्यों के अभाव में वातावरण का चित्रण लेखकों का अभीष्ट बन गया है। अतः जो लोग उस युग के जीवन की झांकी देखने के लिए इन उपन्यासों को पढ़ते हैं उन्हें इनसे सन्तोष होता है। गोस्वामी जी की तुलना में गुप्तजी को सफलता कम मिली है क्योंकि गोस्वामी जी अधिक कुशल कलाकार थे। परन्तु इस उपन्यास की भाषा सरल है फारसी से अधिक प्रभावित नहीं। कैसरबाग का वर्णन मनोरम है कथानक सुगठित है किन्तु रहस्य कुछ कम है। वर्णन और चित्रण दोनों का कथानक में समान भाग है। गोस्वामी जी की रचना के ही समान इस उपन्यास में रहस्य है यथार्थ जीवन की झांकी कम। जो रहस्य लखनऊ के परिस्तान का है वह किसी भी 'हरमसरा' का हो सकता है।

प्रस्तुत उपन्यास में तीन नायिकाओं और दो मुख्य पुरुष-पात्रों का चित्रण है। नायिकाएं रोशनआरा जहानआरा और आसमानी हैं। सुन्दरी रोशनआरा के बाप-मा

१ काशी जगदीश्वर प्रेस में मुद्रित।
२ १ १९०७ दूसरा भाग

दोनों मर चुके हैं और यहां पर केवल उसका एक भाई है जो इस जगह मौजूद है[1] उसका 'नाम हरमसरा के रजिस्टर में लिखा जा रहा है। दूसरी नारी जहांनआरा है जो 'नवाब नासिरअलीशाह की चहेती'[2] भी है और 'बहादुर नवयुवा शमशेरसिंह पर आशिक'[3] भी है। अस्मानी जैसे स्वरूप में सुन्दरी थी आचरण में वैसे ही राक्षसी'[4] लौंडियां नित्य अच्छे-अच्छे जवानों को अस्मानी की आज्ञानुसार पकड़ कर ले आती थीं जिनसे वह अपनी दिली आरज़ू निकाला करती थी'[5]। इन जवानों में से किसी अभागे को फांसी दे दी जाती थी किसी को कत्ल कर दिया जाता था जिससे कि वह बाहर जा कर रहस्य प्रकट न करे। एक कोठरी में चारों तरफ नीचे से ऊपर तक खूंटीसे और नुकीले लम्बे-लम्बे छड़ गड़े हुए थे'[6] जिसमें डाला हुआ युवक चिल्लाता था तो 'लौंडियां उसकी चीख की आवाज सुनने के साथ ही तेजी के साथ हंसने'[7] लगती थीं जिससे आवाज बाहर न जावे। शमशेरसिंह ऐसा ही एक अभागा युवक है परन्तु वह वीर है, वह इन पिशाचियों के फन्दे से बच जाता है। इसी प्रकार रोशनआरा ने अपना धर्म बचाने के लिए आत्महत्या की और अपनी सच्ची पाकदामिनी जो औरतों का अमूल्य रत्न है दिखलाई[8]। इस प्रकार रोशनआरा तथा शमशेरसिंह इस उपन्यास के आदर्श पात्र हैं मुसलमान लड़की को सती सिद्ध करके लेखक ने उदारता का परिचय दिया है। 'जनाने महलों में डाकुओं के भयानक अड्डों पर कुएंखाने इत्यादि में चक्कर लगाने'[9] पर भी यह उपन्यास अधिक भयानक नहीं है। विषय की दृष्टि से भी यह उपन्यास सामान्य कोटि का ही है।

ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास

लालचीन

सन् १३९७ ई० में दक्षिण देश का बादशाह मुहम्मद द्वितीय मर गया और उसका बड़ा लड़का ग्यासुद्दीन गद्दी पर बैठा। वह सत्रह वर्ष का हठी एवं विवेकहीन युवक था। तुर्की गुलामों का सरदार तुगलचीन गुलबर्ग का शासक और राज्य का प्रधान अधिकारी बनना चाहता था परन्तु ग्यासुद्दीन ने उसको नियुक्त न किया इस कारण तुगलचीन बादशाह का शत्रु बन गया। बदले की भावना से गुलाम ने अपनी पुत्री के साथ युवक बादशाह को फंसा कर अपनी मुट्ठी में कर लिया और अवसर पाकर उसकी आंखें निकाल डालीं और उसके मुख्य सहायकों को धोखा देकर मार डाला। अब तुगलचीन ने उसके सौतेले भाई शमसुद्दीन दाऊद को गद्दी पर बैठाया और स्वयं शासन करने लगा। इससे शाही खानदान के लोग असन्तुष्ट हो गये उन्होंने गुलाम और नये बादशाह के विरुद्ध संगठन किया और चालाकी से उन दोनों को कैद कर लिया। फीरोज

---

१ पहिला भाग पृ० ७०   २ दूसरा भाग पृ० २४   ३ वही पृ० ३
४ वही पृ० ११   ५ वही, पृ० ६   ६ वही, पृ० ११२
७ वही, पृ० ११४   ८ वही, पृ० ११२   ९ वही पृ० १६६

बादशाह बन गया। शम्सुद्दीन की आंखें निकाल कर उसे जेल में डाल दिया गया। पश्चात् ग्यासुद्दीन को कैद से निकाल कर उसके हाथ में तलवार दे दी गई जिससे वह खुसरो खाँ के टुकड़े-टुकड़े कर सके। इस प्रकार बीस वर्षों में पन्द्रह नवम्बर सन् १३१७ ई० में आन्तरिक हलचल के उपरान्त नासिरुद्दीन फीरोजशाह दक्षिण का बादशाह बना।'

इस पुष्पित एवं रोचक कथा को श्री ब्रजनन्दन सहाय ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'लालचीन' (सन् १९१५ ई०) में आधार बनाया है। गुलाम सुलतान भी उपन्यास का नायक लालचीन है। ग्यासुद्दीन और लालचीन में जो अधिकार के लिए द्वन्द्व चला उसमें लालचीन ने चालाकी से काम लिया और अपनी पुत्री की सहायता से क्रूर एवं निर्मम कर्म के द्वारा शाही खानदान को तबाह कर दिया। उपन्यास में तीन पुरुष-पात्र मुख्य हैं। पुरुषों में लालचीन, ग्यासुद्दीन तथा शम्सुद्दीन और नारियों में कमसुम तथा गुलरुन्निसा के व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य हैं। पुरुषों के नाम तथा गुण का समर्थन इतिहास से होता है।

लालचीन इस उपन्यास का नायक है। वह गुलाम योग्य परन्तु क्रूर है। उसे आशा थी कि उसे दासता से मुक्ति मिल जायगी। परन्तु ग्यासुद्दीन के व्यवहार ने उसकी 'आशा को निर्मूल' कर दिया और तब ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि एक-एक कर लालचीन के हृदय में अपना प्रभुत्व जमाने लगे।[२] 'ग्यास के सत्यानाश का उसने दृढ़ संकल्प किया।'[३] उसने अपनी गृहिणी कमसुम से परामर्श किया तो 'पाशविक कर्म और विचारों में उसकी पूरी प्रवृत्ति'[४] हो गई। 'सत्य तथा धर्म के मार्ग पर चल कर तुम अपने वांछित पद पर कदापि नहीं पहुँच सकते हो'।[५] कमसुम का मत था कि 'यदि अमृत देने से कोई मरे तो विष देने का क्या काम। जिस प्रकार चारा देकर मीन को फँसाया जाता है और खेल खिला कर उसे मारा जाता है उसी प्रकार आप ग्यास को फाँसिये।'[६] अस्तु अवसर पाकर एक दिन लालचीन ने तप्त सीकचों को ग्यास की दोनों आँखों में अपने हाथों से भोंक दिया[७] और फिर 'सुलतान का नाम लेकर एक-एक कर प्रधान उमरावों को अपने यहाँ उनके घर से बुला कर उनका वध किया'[८]। लालचीन दुर्बल पात्र है उसकी प्रेरणा-शक्ति उसकी पत्नी कमसुम है। मरते समय उसने स्वयं भी स्वीकार किया 'हाँ इस अनिष्ट का मूल कारण मैं ही हूँ इसमें सन्देह नहीं'[९]। अन्त में पाप का घड़ा भर गया और 'लालचीन के कंधे पर ग्यास ने हाथ देकर बलपूर्वक खड्ग द्वारा उसकी गर्दन पर वार किया'[१०] लेखक ने गुलाम लालचीन के मन में छिपी हुई ग्रंथि का मनोवैज्ञानिक विमर्श से सफलतापूर्वक बाहर निकाला

---

१ डॉ० के० एम० ठाकुर [illegible] स्पष्ट आलोक भाग १५ पृ० ३८६-३८७

२ पृ० १ ३ पृ० ८ ४ पृ० १६

५ पृ० २१ ६ पृ० ४१ ७ पृ०

८ पृ० १०८ ९ पृ० १२८ १० पृ०

है 'दासों के साथ राजकुमारों सा बर्ताव नहीं किया जा सकता किन्तु उनके साथ मनुष्य जैसा व्यवहार करना तो उचित है'[१] और 'स्वाधीनता से बढ़कर इस संसार में कोई निआमत नहीं है क्योंकि पराधीनता पतन की सूचक है और स्वाधीनता अभ्युदय की'।[२]

स्त्री-पात्रों में नासबीन की पुत्री को इतिहास भी जानता है। उपन्यास में उसका नाम गुलरुखसा है। उसके दो प्रेमी हैं नयामुद्दीन और शम्सुद्दीन। 'रूप तथा यौवन के संयोग का जो प्रभाव मानव-हृदय पर पड़ता है वही इस अलौकिक सौन्दर्य का प्रभाव शम्स के हृदय पर पड़ा किन्तु इसमें कुवासना का लेश-मात्र नहीं था'[३] 'शम्स उसे प्रेम भरी आँखों से देखता है और नयास कुवासना-जनित दृष्टि से'[४]। गुलरुखसा नयास से घृणा करती है परन्तु उसको अपना शिकार बना कर पिता के हाथों सौंपने में वह क्रियाशील है। उसे शम्स से प्रेम है परन्तु वह शासन नहीं चाहती 'शम्स पर मैं अपने प्राण निछावर कर चुकी हूँ किन्तु इस गद्दी की स्वामिनी बन मैं बैभव नाम कराना नहीं चाहती। पिता जी समझते नहीं जिस दिन मेरा विवाह शम्स के साथ होगा उसी दिन असन्तोष अधिक बढ़ जायगा'[५]। वस्तुतः गुलाम की पुत्री होने पर भी गुलरुखसा अपने गुणों में महान् है। वह एक ओर नारी के गुणों की मूर्ति है दूसरी ओर राजनीति में दक्ष आगे चलकर पाप से बच कर सन्तोष का जीवन बिताना उसका उद्देश्य बन गया। जब नासबीन मार डाला गया और शम्सुद्दीन की आँखें निकाल ली गईं तब भी गुलरुखसा ने कितने निर्मल उद्गार प्रकट किये 'हाय मैं राजवंश छूटा आप का धर्म बचा'[६] 'मैं राज्य नहीं चाहती थी किन्तु आपको सदा चाहती रही'[७]। यह नारी चरित्र उपन्यासकार की उज्ज्वल सृष्टि है।

कथानक का निश्चित संकेत लेखक ने इतिहास से लिया है। दोनों मुख्य पात्र इतिहास में भी इन्हीं गुणों का आभास देते हैं। परन्तु कल्पना के द्वारा दीप्त व्यक्तित्व का सम्पूर्ण प्रस्फुटन लेखक के कौशल से सम्भव हुआ है। स्वामी द्वारा अनादर, आचार्यों पर तुषारापात पत्नी की प्रेरणा और स्वर्णविसर नासबीन के पतन के कारण हैं। यह कहना कठिन है कि लेखक स्वातन्त्र्य की भावना से अधिक प्रभावित हुआ है अथवा हीनता-ग्रन्थि के सिद्धान्त से। जो जन्म से दास है उसका पुरुषार्थ उसे आजन्म दास नहीं देख सकता और मार्ग में जो बाधाएं आती हैं उनको नष्ट भ्रष्ट करने के लिए उसकी दास भावना प्रखर हो उठती है। गुलरुखसा के विषय में लेखक ने यह नहीं बतलाया कि क्रूर पिता और पिशाचिनी माता की सन्तान होकर भी वह इतनी समझ-

१ पृ ५
२ पृ ४५
३ पृ ११
४ पृ ९१
५ पृ १११
६ पृ २११
७ पृ २१२

यह और संतुलित क्यों बन गई थी। समस्त विवरण से ऐसा लगता है कि लेखक का नायक के प्रति सहानुभूति है, उसकी दुर्बलता को स्वाभाविक मानना तथा लेखक नायक को हीन चित्रित नहीं करता। प्रस्तुत उसकी [illegible] उसकी [illegible] में दिखाकर उसे सामान्य से ऊंचा सिद्ध कर देता है।

'लालचीन' उपन्यास १७ परिच्छेदों में [illegible] पूरा हुआ है। इसकी भाषा सर्वत्र एक सी है, सभी पात्र मुसलमान हैं [illegible] विशेष वर्ग उपन्यास में समाविष्ट न हो सकती थी। [illegible] वर्णन लम्बे-लम्बे भी हैं। कई स्थानों पर [illegible] लेखक की रुचि नहीं है पृष्ठ २२६ पर [illegible] जिसका विशेष महत्व नहीं है। सामाजिक समस्याओं का चित्रण [illegible] है। लेखक की दृष्टि इतिहास और राजनीति पर रही है। [illegible] प्रमाण आ गया है जैसे पृष्ठ बारह पर नायक [illegible] 'जब इसमें अपनी गृहिणी से तो परामर्श [illegible] रहा हो। लेखक ने नायक का नाम लालचीन [illegible] है जब कि इतिहास में [illegible] चीन' है यह परिवर्तन नाम का विकल्प भी हो सकता है।

इस उपन्यास की 'भूमिका' भी [illegible] उपन्यास पर तथा प्रसंगतः हिन्दी-उपन्यास पर [illegible] प्रकाश [illegible] है [illegible] बताया है कि 'हिन्दी-साहित्य में उपन्यास के [illegible] तो मनोरंजन करना और दूसरे कोई उद्यम व [illegible] प्रवृत्त करना। [illegible] 'इस उपन्यास में चरित्र का चित्रण ही प्रधान रखा गया है। [illegible] व्यक्ति किस प्रकार बदलता है इसका ज्ञान केवल अनुभवी लेखक को ही होता है। परन्तु, 'किस अवस्था में पड़कर स्वामिभक्त लालचीन स्वामिद्रोही बन जाता है और किस प्रकार रक्त की प्यासी अपनी स्त्री की उत्तेजना से [illegible] वह अपने स्वामी का सर्वनाश करने पर उद्यत होता है [illegible] और किन भावों के उदय होने से [illegible] सिंहासनारूढ़ स्वामी का तिरस्कार करती है और फिर राज्यच्युत होने से उसी [illegible] जाती है' आदि व्यक्ति के चरित्र पर परिस्थितियों का प्रभाव दिखलाते हैं। भूमिका की इस स्थापना से सभी पाठक सहमत होंगे और प्रस्तुत उपन्यास को [illegible] उपयुक्त मार्ग स्वीकार करेंगे। वस्तुतः इसकी रचना सामान्य से कुछ उच्च स्तर के पाठक के लिए ही हुई है।

'भूमिका' की दूसरी स्थापना है कि इस उपन्यास से 'एक गूढ़ राजनीति का उपदेश मिलता है कि किसी देश में युगान्तर उपस्थित करने से उस देश का कुछ लाभ नहीं होता'—'जो कोई अपने देश का सच्चा हितैषी हो वह केवल क्रमशील परिवर्तन का प्रयत्न करे, युगान्तर का कदापि उपाय न सोचे। सम्भव है इस स्थापना में लेखक स्वयं भी सहमत रहे हों। गयासुद्दीन तुगलकों को समाप्त कर देना चाहता था इसलिए उसका इसका भयंकर विरोध हुआ। उत्तर भारत में भी बलबन (राज्यकाल सन् १२६६

स (१२८६ तक) ने दासी गुलामों का वंश[1] प्रारम्भ किया था और गुलामों को मसनुस्द भी कर लिया था। यह सहसा स्वीकार कर लेना कठिन है कि लालचीन का व्यक्तित्व समस्त पैशाचिकता के लिए उत्तरदायी नहीं है केवल 'अवस्था' ने ही सब कुछ कराया है। मध्यकालीन मुसलमान-शासन में इस प्रकार की पैशाचिकता अनेक बार देखने को मिलती है सन् १३१६ ई० में अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके विश्वासपात्र मलिक नायब ने एक-एक करके उसके तीनों पुत्रों की आँखें निकलवा डाली थीं और उनको मरवा डाला था[2] इस प्रकार की घटनाओं से इतिहास भरा पड़ा है। अतः गुलामी की छटपटाहट ने लालचीन से यह सब कुछ कराया ऐसा स्वीकार करना निर्विवाद नहीं है। यदि इस उपन्यास में लेखक का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि क्रान्ति द्वारा देश की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन वांछनीय नहीं है उसके लिए क्रमिक परिवर्तन ही अभीष्ट है तो इसमें लेखक को सफलता नहीं मिली क्योंकि उपन्यास को पढ़कर यह भावना पाठक के मन पर नहीं जमती।

किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों से तुलना करने पर इस उपन्यास की कतिपय विशेषताएं लक्षित होती हैं। दोनों का सम्बन्ध इस्लामी शासन से है परन्तु उनमें मुसलमानों के दुर्गुणों का चित्रण है इसमें मुसलमान के भीतर के मानव का चित्रण। उन उपन्यासों के कथानक इतिहास की ओट में छिपे हुए रहस्य हैं इसका कथानक इतिहास द्वारा अनुमोदित है। किशोरीलाल ने अपनी कल्पना से इतिहास में मना परिवर्तन कर दिया है व्रजनन्दन सहाय की कल्पना इतिहास से भ्रष्ट नहीं होती। उन उपन्यासों में पात्रों का वर्गगत चित्रण है इसमें उनकी व्यक्तिगत विशेषताएं अंकित मिलती हैं। किशोरीलाल के उपन्यासों मे चरित्र का विकास तो मिल जाता है परिस्थिति-जन्य विकास नहीं जो इस उपन्यास की एक मुख्य विशेषता है। गोस्वामी जी की भाषा प्रायः पात्रानुसार परिवर्तित हो जाती है परन्तु सहाय जी की आद्यन्त एक-सी है। प्रथम लेखक ने सनातनी विचारों का प्रचार तथा धर्म की जय अपना लक्ष्य बनाया था जो इस लेखक में प्राप्य नहीं। किशोरीलाल कवि तथा गोस्वामी थे व्रजनन्दन सहाय लेखक तथा विचारक फलतः रीतिकालीन परम्परा का जो निर्वाह उनमें है उसकी गन्ध भी यहाँ नहीं मिलती। ऐतिहासिक वातावरण का अंकन दोनों में से किसी में सफल नहीं हुआ गोस्वामी जी सामाजिक उद्देश्य से इतिहास के निकट गये थे और सहाय जी मनोवैज्ञानिक प्रेरणा से। यह उपन्यास सामान्य से उच्च स्तर का है हिन्दी-उपन्यास की परम्परा में एक निश्चित विकास का संकेत है।

---

१ पूर्व-मध्यकालीन भारत पृ० १ १ तथा १ ८
२ केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया वाल्यूम ३, १ ४ और ७०
३ वही १ १२६ १२०

मिश्रबन्धुओं के उपन्यास

वीरमणि

मिश्रबन्धुओं ने 'पुष्यमित्र', 'विक्रमादित्य' और 'वीरमणि' नाम के ऐतिहासिक आख्यानों की रचना की है। 'वीरमणि' मध्यकालीन मुस्लिम-शासन का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् १९१७ ई० में हुआ था। यह २१४ पृष्ठ और १८ अध्यायों की पुस्तक है। इसके ऊपर लेखकों का नाम श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र छपा हुआ है।

इस उपन्यास की प्रेरणा वही है जो कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के 'भगवान् कौटिल्य' उपन्यास में रही है। उत्तरीय भारत में नैमिषारण्य नाम के बड़े तीर्थस्थान में गोदावरी के निकट नैमिषनाथ त्रिपाठी नामक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण हुए थे। उनके '४५ साल के सुकर्मों के फलस्वरूप एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ'। यही वीरमणि उपन्यास का नायक है, जिसके माध्यम से लेखक ने तपस्वी, मेधावी, धर्मप्राण कान्यकुब्ज ब्राह्मण का पुरातन इतिहास अंकित किया है।

उपन्यास के कथानक का सम्बन्ध अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल से है और मुख्य घटनाएँ चित्तौड़ के प्रसिद्ध युद्ध में अवसित होती हैं। दिल्ली के अधीन शीराबाद का नवाब बड़ा विलासप्रिय था। उसकी कुदृष्टि वीरमणि की पत्नी नलिनी पर पड़ी। वीरमणि अत्यन्त अध्ययनशील और गम्भीर था, इसलिए नलिनी उससे असन्तुष्ट रहती थी। इस असंतोष में उसका ध्यान बाल परिचय के ललित पर गया और वह उसको प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहने लगी। नवाब ने अवसर देखा और ललित के पास पहुँचाने के बहाने नलिनी को पकड़वा कर अपने यहाँ मँगा लिया। नलिनी का उद्धार हुआ और ललित के उपदेश से उसने अपना धर्म बचा लिया—वह ललित को भाई मानने लगी। इसी बीच चित्तौड़ का युद्ध छिड़ गया। नलिनी की मृत्यु भी हो गई। अन्त में पद्मा वीरमणि की पत्नी बनी। इसकी सन्तान कान्यकुब्ज-शिरोमणि समझी जाती है।

सन् १३०३ में चित्तौड़ पर आक्रमण करके अलाउद्दीन ने रत्नसिंह के साथ विश्वासघात किया और सन् १३०३ में चित्तौड़ का प्रसिद्ध जौहर हुआ। इन दो वर्षों में उत्तर भारत में हलचल मच गई। चित्तौड़ का यह युद्ध राजपूती आदर्श की परीक्षा थी। अनेक जाने-अनजाने लोगों ने इस युद्ध में भाग लिया। लेखक ने जिस वातावरण का चित्रण किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। इतिहास में अलाउद्दीन अपने दुराचार के कारण बदनाम है, उसने हर प्रकार से हिन्दुओं को नष्ट करने का प्रयत्न किया है; उसके कर्मचारी भी वैसे ही दुष्ट हो गये होंगे। शीराबाद का नवाब भी बंगाल का निरा शोहदा बन गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः मुसलमानों का जैसा चित्रण इस उपन्यास में किया गया है वैसा इतिहास-सम्मत है।

हिन्दुओं के चित्रण में लेखक ने मौलिकता का परिचय दिया है, क्योंकि इसके मुख्य हिन्दू-पात्र ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय नहीं, अतः उनका स्वरूप इतिहास में उपलब्ध नहीं

होता। नायक वीरमणि आदर्श ब्राह्मण है वह ब्रह्मविद्या में दत्तचित्त होकर भौतिक-जगत-सुख पर ध्यान नहीं देता। फलत उसकी युवती पत्नी उपेक्षा का अनुभव करती है जिसके लिए पति ही सर्वस्व है वह बदले में पति को केवल अपने में अनुरक्त देखना चाहती है। नलिनी के मन में एक चोर भी था बालकपन का साथी ललित पति से उपेक्षित होकर वह ललित के स्वप्न देखने लगी। उपन्यासकार ने दुर्बल नारी का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। नलिनी पाप पर उतर गई तो ईश्वर न उसको दण्ड दिया वह ललित के समीप न पहुँच कर नवाब की बान्दी बन गई। ललित के उपदेश से नलिनी के प्रेम का उदात्तीकरण भी एक मौलिक एवं नवीन चरण है। दोनों पुरुष पात्र वीरमणि और ललित महान् है पौराणिक आदर्श क यथार्थ धार्मिक। हिन्दू नारियों में नलिनी पापिनी है और पद्मा धर्मप्राणा एक दुर्बल है दूसरी दृढ़ लेखक ने नलिनी को हीन दिखाने के लिए ही पद्मा की सृष्टि की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नायिका के सिर पर ही सारा दोष मढने में लेखक की सनातनी दृष्टि उत्तरदायी है।

इस एतिहासिक उपन्यास में कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर विचार किया गया है जिससे हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। हिन्दू धर्म सनातन है किसी व्यक्ति विशेष का चलाया हुआ सम्प्रदाय-मात्र नहीं इसमे धारण अवतार और महापुरुष अनेक हैं एक नहीं यह विशेषता अन्य प्रचलित धर्मों में नहीं है 'पृथ्वी पर हिन्दू, बौद्ध ईसाई और मुसलमान नामक चार प्रधान मत हैं जो इनमे से तीनो प्रसिद्ध धर्मों के चलाने वाले एक-एक महात्मा थे किन्तु हिन्दू मत का प्रवर्तक कोई नहीं दीख पड़ता'[1]। हिन्दू-धर्म में परमार्थ के तीन मार्ग माने गये हैं—ज्ञान कर्म और उपासना उपासक भी दो प्रकार की है निर्गुण निराकार ब्रह्म की अथवा सगुण साकार, अवतारी ईश्वर की। लक्ष्कों का मत है कि निर्गुण पंथ सबके लिए सुगम नहीं है इसलिए सामान्य जनता के लिए मूर्तिपूजा ही एकमात्र आधार है 'जो लोग निर्गुणोपासना सम्बन्धी उच्च विचारों को भी हृदयंगम नहीं कर सकते वे प्रतिमा से लाभ क्यों न उठावें?'[2] इस व्याख्या में मुसलमानों को ही उत्तर नहीं दिया गया आर्यसमाजियों से भी समझौते का प्रयत्न है। कर्मफल में विश्वास हिन्दू-धर्म की एक विशेषता है जिसको इस उपन्यास में नवाब और नलिनी के जीवन में प्रत्यक्ष भी किया गया है और जिसकी सैद्धान्तिक चर्चा भी कर दी गई है 'क्या मनुष्य सर्वदा इसी जन्म के कर्म का फल भोगता है? मैंने इस जन्म में न जाने कौन से कुकर्म किये थे जिनके फल आज भोग रही हूं'[3]।

मुसलमानों के सम्पर्क से हिन्दू-समाज में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई जिनमें से एक-दो पर इस उपन्यास में विचार है। रावण सीता को चुराकर ले गया परन्तु राम ने सीता को पवित्र मानकर उसका आदर किया मध्ययुग में भी अनेक महिलाएँ मुसलमानों द्वारा चुराई गई और उनके घरवालों ने उनका उद्धार किया और उनको पवित्र

१ पृ १९
२ पृ २१
३ पृ ५९

माना[1]। कालान्तर में हिन्दू-समाज निर्बल बन गया और बलात् भ्रष्ट व्यक्ति को अपनाने में आनाकानी करने लगा। फलतः अनेक व्यक्तियों को अनिच्छा से मुसलमान बनना पड़ा। लेखक ने हिन्दू-समाज की इस प्रवृत्ति पर खेद प्रकट किया है। मालिनी कहती है 'जब एक बार मैं दुष्टों के साथ डाकुओं द्वारा अपने घर से निकाली जा चुकी हूँ तब फिर वहीं जाने की मुझे इच्छा नहीं होती मैं अपने पति के कुल में कलंक लगाना नहीं चाहती'[2]। मुसलमान तो इस बात को जानते ही हैं कि 'हिन्दू ऐसे कम अक्ल हैं कि जब कोई आदमी किसी तरह इन लोगों में एक मर्तबा मिल जावे या हमारे साथ खाना खा लेवे तो उसे भी वे अपने दीन में नहीं रख सकते और न शामिल कर सकते हैं'[3]। दूसरी समस्या पर्दे की है। हिन्दुओं में कभी पर्दा नहीं रहा परन्तु असभ्य विदेशियों की कुदृष्टि से बचने के लिए महिलाएं पर्दे में रहने लगीं। वे लोग अपनी प्रकृति को भली भांति समझते हैं और अपने देशवासियों की दुष्टता का भी नित्य अनुभव पाते हैं सो अपनी महिलाओं को तो पिंजरबद्ध पक्षियों की भांति बन्द रखते हैं और दूसरों की बहू बेटियों को तकते हैं'[4]। मध्यकालीन इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यवनों मुसल्मानों ने अपनी बर्बरता का प्रयोग अबलाओं और बच्चों पर किया परन्तु हिन्दू लोग सदा धर्म का पालन करते रहे। नवाब के शब्दों में 'मैंने तेरी पाकदामनी में कोई कसर नहीं उठा रखी लेकिन फिर भी तूने मेरी बीबी की इज्जत रख ली'[5]। अपने सम्मान की रक्षा के लिए हिन्दू-महिलाओं ने जौहर का सहारा लिया और वे सती होने लगीं इस उपन्यास में सती-प्रथा को निन्द्य नहीं ठहराया[6] गया। किशोरीलाल गोस्वामी के समान मिश्रबन्धु इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एकता के अभाव से मुसलमान हिन्दुओं को पराजित कर सके अन्यथा सभ्यता की दृष्टि से वे बहुत पिछड़े हुए हैं 'कम बुद्धि करके इन्होंने हमें धर्मान्धता के कारण पराजित तो कर दिया है किन्तु राज्य-शासन-प्रणाली मनुष्यों के अधिकार आदि विचारों में इनकी दिशा बहुत अपूर्ण है'[7]। हिन्दुओं में विवाह एक संस्कार है वह एक जन्म का ही नहीं जन्म-जन्म का बन्धन है। इस उपन्यास में संकल्प से ही विवाह को पूर्ण मान लिया गया है, वह अपरिवर्तनीय है 'मानसिक भाव से वह मेरी स्त्री हो चुकी है और इस भाव का लौकिक व्यवहारमात्र शेष है'[8] और 'मनुष्य का हृदय तो एक ही होता है वह बाजार का सौदा नहीं न ऊंचे से ऊंचे दामों पर नीलाम होता है'[9]।

१ दे० 'वीरमणि' उपन्यास की भूमिका का विषय।
२ पृ० ७२
३ पृ० ६०
४ पृ० ७४
५ पृ० ११०
६ पृ० ७
७ पृ० ५
८ पृ० १८
९ पृ० १०१

'वीरमणि' उपन्यास में कला की दृष्टि से किसी विकास की सूचना नहीं मिलती। स्त्री की रक्षा में प्राण अर्पण करने वाले नायक वीरमणि को 'वीर मारा क साथ'[1] दिखाने में ऐतिहासिक घटना का पुट है। वातावरण प्रायः इतिहास से अनुमोदित है। भाषा दोनों प्रकार की है—पात्रों के अनुकूल। लेखकों ने उपदेश-वृत्ति को अधिक अपनाया है जिससे कथा में कौतूहल की मात्रा कम रह गई है। जासूसी का योग परम्परा के कारण है। आदर्श ब्राह्मण का चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नये कदम हैं। नायक और नायिका का चरित्र सफल तथा मौलिक है। संस्कृत, ब्रज भाषा और उर्दू के शब्द बीच-बीच में आ ही गये हैं। समस्त चित्र स्वस्थ हैं परन्तु अधिक मनोरंजक नहीं। भाषा का एक उदाहरण देखा जा सकता है —

'दुःख या सुख चित्त में होता है किसी पदार्थ में नहीं चाहे वह कैसा ही सुन्दर या कलित क्यों न हो। (पृष्ठ ७६)

इस उपन्यास की किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों से तुलना आवश्यक है। दोनों लेखक सनातनी ब्राह्मण हैं उन्होंने मुस्लिम इतिहास का चित्रण करते हुए हिन्दुओं को आदर्श और मुसलमानों को नीच अंकित किया है। परन्तु गोस्वामी जी मुसलमानों की बुराई दिखाने में अधिक सिद्धहस्त हैं और मिश्रबन्धु हिन्दुओं की अच्छाई प्रदर्शित करने में। उनके हिन्दू राजपूती आदर्श के हामी हैं एवं धर्म रक्षक ब्राह्मण। ऐतिहासिक सूत्र के सहारे सामयिक-सामाजिक समस्याएं दोनों अंकित करते हैं परन्तु ये कट्टर हैं वे उदार—इन्होंने जिन प्रथाओं को ठीक समझा है उनकी चर्चा करते हैं खण्डन में समय नष्ट नहीं किया। ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों लेखकों को एक ही स्थान प्राप्त होगा परन्तु कलात्मकता यहां बहुत कम है। इस उपन्यास में नायक-नायिका चरित्रचित्रण दाम्पत्य जीवन की एक अत्यन्त स्वाभाविक समस्या तथा प्रेम का उदात्तीकरण सराहनीय है। धर्म की जय दिखाने में मिश्रबन्धु गोस्वामी जी के निकट हैं और ब्रजनन्दन सहाय से दूर। यह उपन्यास गोस्वामी जी के उपन्यासों से अधिक साहित्यिक है।

o

१ पृ० १६२

५

घटनात्मक उपन्यास

नवयुग से पूर्व की परम्परा

बंगला और हिन्दी में 'उपन्यास' नाम से जो साहित्य प्रचलित है उसके दो वर्ग हैं। एक वर्ग में व पुस्तकें आती हैं जिनकी परम्परा निश्चय ही पाश्चात्य प्रभाव का परिणाम है इनको 'सामाजिक' तथा 'ऐतिहासिक' उपन्यास कहा जा चुका है। दूसरा वर्ग उन पुस्तकों का है जो पाश्चात्य प्रभाव के उपरान्त रचित होने के कारण 'उपन्यास' तो कहलाईं परन्तु उनकी परम्परा इस प्रभाव से पूर्व की है। इस वर्ग की रचनाओं को 'घटनात्मक उपन्यास' की संज्ञा दी जाती है। श्री जे० सी० घोष[1] के अनुसार इस वर्ग में तीन प्रकार का कथा-साहित्य आता है—रोमान्स, रजन-कथा (टेल) तथा नीति कथा (फेबल)। ये रूप यूरोपीय प्रभाव से पूर्व हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जातियों के साहित्य में विद्यमान थे।

नीतिकथा (फेबल) की परम्परा बहुत पुरानी है। वस्तुतः इसका जन्म भारत में ही हुआ था और 'जातक' कथाएं इसका सबसे पुराना रूप हैं। आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार फेबल की मुख्य विशेषता पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर उनके माध्यम से मानव को नीति का उपदेश देना है इस विशेषता का समर्थन जातक-कथाओं से भी होता है। प्रेमचन्द-पूर्व-काल में ऐसी कहानियाँ भी लिखी गईं जिनमें पात्र पशु पक्षी हैं 'तोता कहानी' (सन् १८२८) इस प्रकार की रचना का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। परन्तु उस युग की प्रवृत्ति पशु-पक्षियों की कहानी के पक्ष में नहीं थी 'उपन्यास' नाम के लिए मानव को कहानी का पात्र बनाना आवश्यक था। 'कुसुमकुमारी' उपन्यास में किशोरीलाल गोस्वामी ने 'तोता कहानी' के वर्ग की रचनाओं को स्पष्ट शब्दों में 'उपन्यास' वर्ग से बाहर निकाल दिया है 'अगर दिलचस्पी के साथ ही साथ मज़ा को अख्तियार किए हुए पाठक लोग इस ऐतिहासिक उपन्यास को गौरव के साथ पढ़ते चले जावेंगे तो आशा है कि उनका भली भांति मनोरंजन होगा और हमारा भी सारा परिश्रम सफल हो जायगा। कारण यह कि यह कुछ तोता कहानी तो है नहीं बल्कि उपन्यास है और उपन्यास भी कोई मामूली नहीं वरन् ऐतिहासिक सिलसिलों का भंडार है। इसलिए यह उसी ढंग से लिखा जाएगा जिस तरह कि इसका लिखा जाना इतिहास और उपन्यास की तराजू पर तुलता जायगा'[2]। यह कुछ तोता-कहानी तो है नहीं

---

१ बंगाली लिटरेचर, जे० सी० घोष, पृ० १५१

२ दूसरा हिस्सा, पांचवाँ बयान, पृ० ११४

वास्तविक उपन्यास है' वाक्य से यह तो स्पष्ट ही है कि उस युग में 'उपन्यास' को 'तोता कहानी' आदि की तुलना में उच्च साहित्य समझा जाता था साथ ही इस तथ्य का भी समर्थन होता है कि उपन्यास' संज्ञा प्राप्त करने वाली कहानी में पात्र मानव ही हो सकते थे—वे काल्पनिक लोक के ही (घटनात्मक उपन्यासों में) वर्तमान परिस्थितियों के हों (सामाजिक उपन्यासों में) अथवा अतीत जीवन के हों (ऐतिहासिक उपन्यासों में)।

'रोमान्स' और 'रंजन कथा' 'घटनात्मक उपन्यास' के दो रूप हैं। ये यूरोपीय प्रभाव के अनन्तर रचित होने पर भी उक्त प्रभाव से पूर्व की परम्परा में हैं। इनकी सामान्य विशेषता यह है कि इनमें जिस जीवन का चित्रण किया गया है वह उन सिद्धान्तों द्वारा शासित नहीं होता जो हमारे जीवन पर लागू हुआ करते हैं अतः इनमें हमारे प्रत्यक्ष जीवन की यथार्थ छाया नहीं पाई जाती। रोमान्स में पात्र दृश्य एवं घटनाएं सामान्य जीवन से दूर के (रिमोट फ्रोम एवरी-डे-लाइफ) होते हैं—अतिरंजित भास्वर एवं अपूर्व। रंजनकथा (टेल) में कल्पना का इतना अधिक शासन होता है कि उस पर विश्वास या अविश्वास का प्रश्न ही नहीं उठता—उसका उद्देश्य तो मनोरंजन है सूरजमल जैन रचित 'कटा हुआ सिर' (सन् १९१९) एक ऐसी ही रंजन-कथा है जिसमें विचित्रपुर का राजा अपनी पुत्री का विवाह उस व्यक्ति के साथ कर देता है जिसने राजा के महल से बहुत बड़ी चोरी की थी और जो राजकर्मचारियों से चाला किया खेल-खेल कर उनके चंगुल से साफ बच गया था।

रोमान्स की परम्परा ने आलोच्य काल को 'चित्र-विचित्र घटनाओं से भरे हुए "'जासूसी तिलिस्मी ऐयारी के ढंग के अनूठे उपन्यास'" दिये। इन उपन्यासों को रोमान्स की परम्परा में मानना निर्विवाद नहीं है क्योंकि रोमान्स जिस प्रकार की असामान्यता का पक्षपाती है ठीक वैसी ही इन उपन्यासों में नहीं पाई जाती। रोमान्स में अतिमानवीयता होती है परन्तु ये उपन्यास घटना-चक्र पर ही जीवित रहे हैं। फिर भी डा॰ श्रीकृष्णलाल ने 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास तथा उसकी परम्परा को 'आल्हखण्ड' आदि वीरकाव्यों की पुरानी परम्परा में माना है[2] जो उचित ही है, क्योंकि इस परम्परा के प्रवर्तक देवकीनन्दन खत्री के सम्मुख मनोरंजन के साथ-साथ राजपूती जीवन का आदर्श भी था जो उनकी रचनाओं में भली भांति प्रतिफलित हुआ है। सामान्य रंजन कथाओं से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तिलस्मी जासूसी और ऐयारी के उपन्यास कलात्मक हैं इनको लोक-साहित्यमात्र नहीं माना जा सकता कथा का निर्वाह, वर्णन की प्रचुरता कुतूहल को जगाना आदर्श की स्थापना आदि कतिपय विशेषताएँ प्रतिभा एवं विशेषज्ञता के बिना नहीं निभाई जा सकतीं। तिलिस्म जासूसी तथा ऐयारी ये तीनों शब्द पुराने हैं और इस्लामी प्रभाव से भारतीय साहित्य में आये हैं। इनका प्रयोग करता हुआ सामान्य पाठक यह समझता है कि 'तिलस्मी उपन्यास'

१ राजकुमारी' उपन्यास के अन्त में दिये गये विज्ञापन से।

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० २६४

'जासूसी उपन्यास' तथा 'ऐयारी के उपन्यास' ये तीन भेद अलग-अलग हैं। परन्तु यथार्थ यह नहीं है। ऐयारी तो साधन है, इसका उपयोग तिलस्म के लिए होता है अतः सभी तिलस्मी उपन्यासों में ऐयारी अवश्य मिलेगी। जासूसी भी तिलस्मी उपन्यासों में साधन बन कर आती है—सभी तिलस्मी उपन्यासों में जासूसी के चमत्कार हैं परन्तु कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें जासूसों की चतुराई ही चित्रण का विषय बनी है। सत्य तो यह है कि जब तिलस्मी उपन्यासों का जनता ने स्वागत किया तो उनके चतुर जासूसों का नई परिस्थिति में डाल कर तिलस्म से भिन्न कार्यों के लिए भी उनका चयन किया गया—इस परम्परा के उपन्यास अपराध का पता लगाने के लिए जासूसों का उपयोग करते हैं यह घटनात्मकता पर पाश्चात्य प्रभाव है। अस्तु, हमारी परम्परा के घटनात्मक उपन्यासों के दो वर्ग माने जा सकते हैं—तिलस्मी तथा जासूसी प्रथम पर पाश्चात्य प्रभाव नहीं है परन्तु द्वितीय यूरोपीय प्रभाव से बना और अब तक चल रहा है प्रथम के प्रवर्त्तक देवकीनन्दन खत्री थे और द्वितीय के गोपालराम गहमरी।

रंजनकथा की परम्परा में जो उपन्यास लिखे गये हैं उनकी न कोई मर्यादा है और न रूप रेखा। उनका एकमात्र गुण दिलचस्पी है पात्र मानव हैं परन्तु घटनाएं दिल की धड़कन से चलती हैं। वास्तविक नाटक-साहित्य तो यही है जिसमें न कोई साहित्यिक छाप है और न 'शिष्ट समाज' की मर्यादा। लेखक भी अशिक्षित थे और पाठक भी। कहीं किसी लेखक ने अगर ऊंचा आदर्श रखना चाहा तो अन्त में कोई उपदेश दे दिया अन्यथा रसीली कहानियां गजल या गीत भर कर अपनी पुस्तक को पूरा कर दिया 'मिस जोहरा' (सन् १९११) उपन्यास में निहालचन्द वर्मा ने 'कामी किस्म की दिलचस्पी' के बाद 'मतलब की बातें' समझाते हुए पाठकों को सलाह दी है कि 'आप लोग अपनी प्यारी बालिकाओं के कोमल हृदय पर बैरंगी तथा स्वतन्त्रता का बृक्ष न उगने दो 'किस्मत का खेल' उपन्यास में किशुनदास नागर उपदेश देते हैं कि 'सदा बाह्मण के भक्त होकर रहना उनको कदापि नाराज न करना' 'मित्रों की महफिल' (सन् १९१२) में बांकेलाल चतुर्वेदी ने प्रसंग के बिना ही अन्त में बैरागियों की खबर ले डाली है—'बैरागी भारत में बढ़ गये भीख मांगकर खाते हैं' आदि।

अस्तु घटनात्मक उपन्यासों के सामान्यतः तीन वर्ग हो सकते हैं:—

(क) तिलस्मी उपन्यास

(ख) जासूसी उपन्यास

(ग) अद्भुत उपन्यास

'अद्भुत उपन्यास' नाम नया नहीं है। बंगभाषा में रामधरण भट्टाचार्य ने सन् १८६१ में 'अद्भुत उपन्यास' की रचना की जिससे 'अद्भुत रसात्मक रचना'[1] की परम्परा चलन लगी। हिन्दी में जो विचित्र-विचित्र उपन्यास लिखे गए उनको सामान्यतः अद्भुत भी कहा गया। ज्योतिषी दुर्गाप्रसाद मुदरिस के 'सूरजमुखी' उपन्यास की पीठ पर जिस 'नवीन छपे हुए अद्भुत उपन्यास' साहित्य का विज्ञापन है उनके

१ बांगला साहित्येर इतिहास द्वितीय खण्ड रम्नामेर प्रकाश पृ० १९५

लिया है—'एक सभ्रान्त घर की कुलटा की अद्भुत कहानी' 'चतुर चोर ने किस तरह पुलिस को धोखे में डाला' 'एक कपटी मित्र का कपट और कामीजनों की दुर्दशा' 'ठगों के साथ बड़े-बड़े चरित्र' आदि। विचित्रताओं से भरे हुए ये उपन्यास युग में अद्भुत होने के ही कारण सामान्य पाठक का मनोरंजन करते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में घटनात्मक उपन्यास के तीनों भेदों पर विस्तार-पूर्वक विचार करना आवश्यक है।

तिलस्मी उपन्यास

सन् ७११ में छह हजार घोड़े और नौ हजार ऊँट लेकर मुहम्मद ने सिन्ध पर आक्रमण किया तभी से हमारे देश का इतिहास एक नये रूप में दिखाई देता है। लगभग एक हजार वर्ष तक हिन्दुओं के साथ मुसलमानों का संघर्ष चला अन्त में सन् १७५७ की प्लासी की लड़ाई में इस्लामी साम्राज्य के सपने सदा के लिए खत्म हो गये। संघर्ष का यह युग ऐतिहासिक और घटनात्मक दोनों प्रकार के उपन्यासों को प्रभावित करता रहा है। इस बीच में भारत के क्षत्रियों विशेषतः राजपूतों ने जिस वीरता का परिचय दिया है उसकी तुलना विश्व इतिहास में बहुत खोजने पर ही कदाचित् मिले। एक ओर बर्बर आक्रमणकारी स्त्रियों और बच्चों पर नृशंस अत्याचार करते पराजितों का वध करके उनका माल हरते आग लगाते प्रजा को लूटते छल छिद्र का प्रयोग करते और आतंक फैलाते थे। दूसरी ओर वीर क्षत्री धर्मयुद्ध करते हुए अपनी रक्षा कर रहे थे। इस संघर्ष में क्षत्रियों ने हजारों की संख्या में मिलकर देश-धर्म पर अपने प्राण निछावर कर दिये। सर विलियम म्यूर[1] का निष्कर्ष है कि सिन्ध के युद्ध का इस्लामी राजनीति में एक विशेष महत्व है जो लोग इस्लाम को स्वीकार नहीं करते उनके दो वर्ग मान लिये गये एक वर्ग में पैगम्बरी मत है और दूसरे में मूर्तिपूजक पराजित होने पर पैगम्बरी मतों के अनुयायियों (ईसाइयों यहूदियों) को जजिया देने पर जीवित रहने दिया जाता था परन्तु मूर्तिपूजकों के लिए प्राणदान के अतिरिक्त दूसरा मार्ग मुसलमान बन जाना ही था। अस्तु, हमारे देश का मध्ययुगीन इतिहास जौहरों से भरा पड़ा है। प्रेमचन्द-पूर्व-काल में राष्ट्रीयता का आदर्श एक हजार वर्ष की बर्बरता से देश को मुक्त करना था जिसका चित्रण उपन्यास-क्षेत्र में सर्वप्रथम बंकिमचन्द्र ने किया। मध्यकालीन समय की विशेषता यह है कि जो वयस्क क्षत्री पराजित होगये वे जीवित नहीं बचे स्त्रियाँ जलकर स्वाहा हो गई और पुरुष मारकाट मचाते हुए स्वर्गगामी हुए।

आधुनिक युग का इतिहास इस दृष्टि से कुछ भिन्न है। सन् १५२७ से विदेशी सौदागरों के भारत में पैर जमने लगे और विदेशी सैनिक भारतीय पक्षों में दोनों ओर से सम्मिलित होने लगे। प्लासी का युद्ध अंग्रेजों और फ्रांसीसियों दोनों के संघर्ष का फल था। सन् १७६५ में कम्पनी को बंगाल में दीवानी का अधिकार मिल गया। इससे पूर्व नवाबों ने जमींदारों से कर वसूल किए थे परन्तु उनको जमीन के

---

१ दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया वॉल्यूम १ १ १

परम्परागत अधिकार से वंचित न किया था[1]। जहाँ जहाँ अंग्रेजी प्रभाव बढ़ा वहीं सैनिक और जमींदार जीविका से वंचित होते गए। जब कम्पनी ने देशी रियासतों को हड़पना प्रारम्भ किया तो युद्धजीवी जातियाँ बिल्कुल आवारा बन गईं। केवल अवध में ही साठ हजार भारतीय सैनिक बेकार हुए जिनमें से केवल कुछ लाख ही पुलिस आदि में लग सके थे[2]। देशी सैनिकों को निकाल कर उनके स्थान पर अंग्रेजी सैनिकों की नियुक्ति के फलस्वरूप मध्यकाल से सर्वथा भिन्न इस आधुनिक युग में हमारा देश ऐसे अनेक दलों से आक्रान्त हो गया जिनको लाचार होकर जीवित रहने के लिए बस्ती से दूर अपना संगठन करके केन्द्र बनाने पड़े और लूटमार करके अपना काम चलाना पड़ा। 'मूलन ब्रह्मचारी' उपन्यास में प० बालकृष्ण भट्ट ने डाकुओं के एक ऐसे सरदार का चित्रण किया है जो सरकारी से बहुत तंग था और जो धनपतियों का धन लूट कर निर्धनों में बाँटना अपना कर्तव्य समझता था। दुर्गाप्रसाद खत्री रचित 'लाल पंजा' उपन्यास में 'डाकुओं के एक ऐसे दल का हाल है जो अमीरों को लूटकर गरीबों का घर भरते थे वे पहले सूचना देके डाका मारते थे और जहाँ जाते थे वहाँ अपना चिह्न लाल पंजे का एक निशान छोड़ आते थे'[3]।

इतिहास में ठगों और पिंडारियों की विस्तारपूर्वक चर्चा की है तथा अपराध को इनके नाश का श्रेय दिया है परन्तु इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि इस प्रकार के दल अंग्रेजों के आने पर ही भारत में क्यों पैदा हो गए। सर विलियम स्लीमन ने इनको मनुष्य शरीर में ऐसे भेड़िये बतलाया है जो लूट तथा हत्या के स्वाभाविक प्रेम के ही कारण आपस में दल बनाकर रहते थे[4]। वे भूल जाते हैं कि जिन प्रान्तों में ब्रिटिश राज्य था और जिन रियासतों ने अंग्रेजी रक्षा स्वीकार करने में अपना प्रभाव खो दिया था उनमें से निकाले गए युद्धजीवी स्वतंत्र सिपाही साहसिक मध्यभारत में इकट्ठे हो गए और अमीर खाँ चौथू अथवा किसी भी अन्य सरदार के दल में सम्मिलित होकर युद्धाक्रान्त प्रदेशों तथा शान्तिप्रिय धनी प्रान्तों में लूट मार करने लगे[5]। एक दूसरे अंग्रेज इतिहासकार के अनुसार १८वीं शताब्दी में जब भारत का भाग्य युद्धजीवी साहसिकों (मिलीटरी एडवेंचरर्स) तथा निरंकुश शासकों के हाथ में खेल रहा था ठगों की

---

१ दि इकनौमिक हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ४६

२ दि लाइफ आफ दि मारक्विस आफ डलहौजी दि अनेक्सेशन आफ अवध पृ० ११८

३ विज्ञापन से।

४ दि नेटिव स्टेट्स आफ इण्डिया पृ० २०६

'दे आर द डकैती रेस आफ ह्यूमन बीइंग्स ह्यू हैविंग ड्रिंक्ड [illegible] आफ दि [illegible] ब्लड [illegible]'।

५ वही पृ० १०८ — 'दि सोल्जर्स आफ फौरचून ऐण्ड दि फ्रीबूटर्स एण्ड वैरियर्स आफ इण्डिया [illegible] दि प्रिंसिपल मार्केट आफ दि ब्रिटिश और मराठा [illegible] स्टेट्स [illegible] लिमिटेड [illegible] दि [illegible] आफ अमीर खाँ [illegible] एण्ड [illegible] दि [illegible] आफ सिविल वार [illegible] आफ [illegible] यूरोप [illegible]।

संख्या बढ़ती चली गई और हैदराबाद से अवध तथा बुन्देलखण्ड से राजपूताना तक समस्त मध्यभारत में इन गुप्त हत्यारों को अपने कारनामे दिखाने का पूरा अवसर मिला[1]। लैफ्टीनेंट जनरल मैल्कोल्म ह्लेम के अनुसार सन् १८५७ की क्रान्ति में चतुर्थ दल को अपनी भावना तथा शक्ति के कारण विशेष घातक था उन लोगों का था जिनके लिए अंग्रेजों की सत्ता आ जाने पर राजनीतिक उथलपुथल एवं सैनिक शौर्य के द्वारा अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के पुराने मार्ग बन्द हो गए थे[2]। परन्तु मध्यकाल से भिन्न आधुनिक काल में पराजित राज्यों के सैनिक जीविका-विहीन हो कर अपने शौर्य का दुरुपयोग करके असम्मानित जीवन बिताने पर बाध्य हुए। सैनिक-वृत्ति छिन गई थी व्यापार समाप्त हो रहा था आजकल की सी नौकरियाँ थी नहीं भीख वे मांग न सकते थे। अतः शस्त्रजीवियों का शस्त्र प्रजा की रक्षा के लिए न उठ कर उन लोगों पर चलने लगा जो या तो इनके शत्रु बन इनको मार देना चाहते थे अथवा कुकर्मों से धन संचय करके गुलछर्रे उड़ा रहे थे।

इस शस्त्रजीवी वर्ग ने समकालीन साहित्य को दो प्रकार की प्रेरणा दी—एक में विदेशीय दृष्टि थी और दूसरी में देशीय। विदेशीय दृष्टि से कर्नल टेलर ने अंग्रेजी में जो कथाएं लिखी उनमें 'कन्फेशन्स् आफ ए ठग' (सन् १८३९) का विशेष महत्व है। हिन्दी में इसका अनुवाद श्री रामकृष्ण वर्मा ने सन् १८८९ ई० में 'ठग वृत्तान्त-माला' नाम से किया इसमें ठगों और पिंडारियों के भयंकर उपद्रवों तथा घोर हत्याकांडों का वर्णन है। यह पुस्तक कुछ समय तक लोकप्रिय भी रही होगी परन्तु साहित्य में इस सरणि का अनुकरण उपन्यास-लेखकों ने न किया। आगे चलकर 'पुलिस वृत्तान्त-माला' तथा 'कांस्टेबल वृत्तान्त-माला' प्रकाशित हुई जिनमें उक्त पुस्तक की वर्णनात्मक छाप है। 'कहानी किस्से' और 'अद्भुत उपन्यास' से बढ़कर इन मालाओं का मूल्य नहीं था। देशीय दृष्टि से शस्त्रजीवी वर्ग ने 'तिलस्मी उपन्यास' को प्रेरित किया। 'तिलस्मी उपन्यास' के पात्रों में अंग्रेजी अत्याचार के सताए हुए जीविका-विहीन आवारा शस्त्रजीवी तथा मध्यकालीन संघर्ष में चमकते हुए वीर अभी के गुणों का मिश्रित प्रतिफलन है। यद्यपि नायक एवं प्रतिनायक दोनों ही प्रायः हिन्दू हैं और पारस्परिक संघर्ष में प्रेम तथा आत्मसम्मान दोनों की रक्षा कारण बनी है फिर भी पात्रों को मध्यभारत के बीहड़ वनों और कन्दराओं और ऊंची-नीची पहाड़ियों में मारा-मारा भटक कर जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वे समकालीन शस्त्रजीवियों के जीवन से प्रभावित हुई होंगी—वीरकाव्य परम्परा में इनका वर्णन उपलब्ध नहीं है। 'इन्दुमती या वन-विहंगिनी' (सन् १९ १)

---

१ डेमोक्रिस सी बोल्गर : लार्ड विलियम बैंटिंग पृ ६६।

२ दि डिपोज रिपोर्ट्स, पृ० ८

'एवर ए कोर्ट मर्स स्पेशली डेंजरस फ्रोम दिअर स्पिरिट एण्ड पावर्स वाज फोर्मड आफ दोज हू आर डेड फ्रॉम दि फ्लोमिंग आफ दोज माउन्टेनस् और फकीराज, एण्ड दि लोस आफ दोज मौरल्चुनिटीज फोर कमैण्ड ऐज पोलिटिकल इम्पिरियल और मिलिटरी प्रोवेस दे हैड बीफोर रीड आफ ओल्ड'।

'ऐतिहासिक उपन्यास' में किशोरीलाल गोस्वामी ने एक ऐसे सती का वर्णन किया है जो मुसलमान बादशाह की नीचता से युद्ध मोल लेकर और उसमें विजयवंचित होकर पश्चात्ताप के लिए वन में बसा जाता है तथा जिसकी प्रतिज्ञा है कि जो वीर पुरुष दुष्ट बादशाह से बदला लेगा उसके साथ वह अपनी एकमात्र पुत्री इन्दुमती का विवाह कर देगा। इस प्रकार के उदाहरण मध्यकालीन इतिहास में प्राप्य तो हैं परन्तु संख्या में अधिक नहीं क्योंकि अधिकतर सती तो युद्धक्षेत्र में प्राण त्याग बैठे थे। बस्ती से दूर रहकर संगठन करते हुए सन्यासियों ने बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' उपन्यास में भी राजनीतिक आन्दोलन किया था परन्तु वह भी तिलस्मी शैली से भिन्न है। किशोरीलाल गोस्वामी के 'कटे मूड़ की दो-दो बातें' उपन्यास में तिलस्म का स्वामी नवाब खाँ डाकू है जिसने जमुर्रद पहाड़ी पर अपना गुप्त महल 'शीशमहल' बना रखा था और जिसे अंग्रेजी सेना ने नष्ट किया था। इसी प्रकार 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में नाजिम को लेकर राज-परिवारों में जो बद्धमूल वैर बढ़ा उसका बदला लेने के लिए शिवदत्तसिंह पश्चात्ताप में बसा गया और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में अनेक घटनाओं का कारण बना। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि तिलस्मी उपन्यास पर ऐयार काव्य परम्परा एवं समकालीन दरबारजीवी-जीवन का सम्मिलित यथार्थ प्रभाव है।

तिलस्म

'तिलस्म' शब्द हिन्दी भाषा का नहीं है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार पुरानी ग्रीक भाषा का 'टेलेस्मा' शब्द अरबी भाषा में 'तिल्सम' बना अंग्रेजी में उसका रूप 'टैलिस्मन' है। इसके सामान्यतः दो अर्थ हैं—तावीज तथा जादू के लच्छ या जिसके अधिकार में हों उसको लाभ पहुँचाते हों। 'हिन्दी-साहित्य कोश' के अनुसार 'यूनानी शब्द 'टैलिस्माने' से तिलस्म शब्द निकला है जिसका अर्थ है इन्द्रजाल, जादू, अलौकिक कारनामे'। श्री ब्रजरत्नदास के अनुसार 'तिलस्म शब्द का अर्थ है—ऐसी आश्चर्यजनक कल्पना जो दिखलाई न पड़े कोष के रक्षार्थ निर्मित की गई मसालेदार यन्त्र या कुछ दवाओं तथा मन्त्रों के मेल से कोष पर बाँधा हुआ यन्त्र आदि। यह शब्द अरबी में भी यूनान से आया हुआ जान पड़ता है। प्राचीन ग्रीक भाषा में 'टैलेस्मा' शब्द मन्त्र-तन्त्र के लिए प्रयुक्त होता था जिससे अंग्रेजी शब्द 'टैलिस्मन' बना है'[1]। अस्तु 'तिलस्म' शब्द का आविर्भाव यूनानी के 'टिलेस्मा' तथा अरबी के 'तिल्सम' से माना जा सकता है। सन् ७११ में जब मुहम्मद ने सिन्ध पर चढ़ाई की और वह देवल नगर पर घेरा डाले पड़ा रहा तो नगर का एक पुजारी मुहम्मद से मिल गया। उसने बताया कि ब्राह्मणों ने एक तिलस्म बना कर मंदिर के झंडे के नीचे रख दिया है। उसको नष्ट किये बिना मुहम्मद विजय प्राप्त नहीं कर सकता।[2] मुहम्मद ने अपने अश्वारोहियों की सहायता से पहले उस तिलस्म को नष्ट किया फिर नगर को जीत लिया। भारत में 'तिलस्म'

---

१ हिन्दी-उपन्यास, पृ. ५२
२ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, वॉल्यूम ३, १

शब्द सर्वप्रथम उसी दिन आया होगा उससे पूर्व संस्कृत आदि भाषाओं में उसे कुछ और कहते होंगे।

'तिलस्म' शब्द सन् ७११ में आया परन्तु तिलस्मी विद्या का उपयोग भारत में पहले से ही चल रहा था। हो सकता है यूनानी अथवा अमीरियन जातियों के सम्पर्क से अरबी और संस्कृत दोनों भाषाओं एवं उनके बोलने वालों में यह शब्द और इसका उपयोग साथ-साथ ही आये हों। मूल 'तिलस्मा' शब्द अरबी भाषा में तो अधिक परिवर्तित न हुआ—उसे 'तिल्सम' कहने लगे परन्तु संस्कृत में इसका अन्तिम अक्षर 'मा' ही रह गया जिससे आगे चल कर 'मा' अथवा 'माया' शब्द अदभी इन्द्रजाल जादू टोना छल-कपट आदि अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। यहाँ यह विवेचन सम्भव न होगा कि अथर्ववेद के इन्द्रजाल माया आदि पर विदेशी प्रभाव है या नहीं। परन्तु यह निश्चय है कि रामायण-काल के असुर लोग माया-विद्या में दक्ष थे असुर मारीच ने राम को छलने के लिए मृग का रूप धारण कर लिया और सचमुच पुरुषोत्तम राम उसके पीछे धनुष-बाण लेकर चल दिए—'मरीचिका' के ऐसे उदाहरण आजकल के उपन्यासों में भी मिलते हैं, 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में इन्द्रजीतसिंह को तिरस्कार करने के लिए चिन्हदत्तसिंह के एयार ऐर का रूप धारण करके जंगल में दहाड़ते फिरते थे। असुरों ने दूसरा छल सीता के साथ किया कि राम और लक्ष्मण के साक्षात् रूप के दो सिर लाकर सीता को विश्वास दिलाना चाहा कि राम लक्ष्मण मारे गये। 'चपला' उपन्यास में भी चपला के सामने उसके प्रेमी की बनावटी कटाई लाकर उसे ऐसा ही विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया है। इस आसुरी विद्या के लिए असुर-लोग भाँति भाँति के अनुष्ठान करते और शक्तियों का आवाहन करते थे। यदि विभीषण ने राम को भेद न बताया होता तो रावण के सिर कटते रहते और साथ ही नए सकते रहते उसका मरना संभव न था क्योंकि मायारचित सिरों के कटने से मायावी का कुछ नहीं बिगड़ता। 'चन्द्र-मरीचिनी' उपन्यास में नरेन्द्रसिंह ने युद्ध करके तुगरल का सिर काट लिया और कुछ देर बाद अपरिचित को दिखाया तो उसकी सम्मति मान कर गरम पानी से धोने से वह सिर तुगरल का न निकला। राम ने भी सावधान होकर एक माया-सीता का निर्माण कर लिया था जिससे असुर छल करें तो भी असली सीता का कुछ न बिगाड़ सकें। ये सारे चमत्कार 'एयारी' के अन्तर्गत आते हैं परन्तु इसका प्रादुर्भाव असुरों की 'मा' 'माया' अथवा अमीरियन जातियों के 'तिलिस्मा' से ही है।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में सिद्धबाबा से जब सुरेन्द्रसिंह ने यह पूछा कि तिलिस्म किसे कहते हैं और क्यों बनाया जाता है ? तो उन्होंने तिलस्म का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया

तिलस्म वही शख्स तैयार करता है जिसके पास बहुत माल-खजाना हो और कोई वारिस न हो। तब वह अच्छे-अच्छे ज्योतिषियों-नजूमियों से दरयाफ्त करता है कि उसके या उसके भाइयों के खानदान में कभी कोई प्रतापी और लायक पैदा होगा या नहीं। आखिर ज्योतिषी और नजूमी इस बात का पता देते हैं कि इतने दिन के बाद

पास के आसपास में एक सहस्र प्राणी होगा बल्कि उससे अलग सा भी मिल कर तैयार कर देते हैं। उसी के नाम से खजाना और अच्छी अच्छी कीमती चीजों को रखकर उस पर तिलस्म बांधते हैं।

आमतौर तो तिलस्म बांधने का यह कारण है कि जहां बहुत खजाना रखकर उसकी हिफाजत के लिए दो-एक आदमी की बलि दे देते हैं। वह प्रेत या सांप हो कर उसकी हिफाजत करता है और गड़े हुए आदमी के सिवाय दूसरे को एक पैसा तक नहीं देता मगर पहिले यह मामला नहीं था। पुराने जमाने के राजा का जब तिलस्म बांधने की जरूरत पड़ती थी तो बड़े-बड़े ज्योतिषी-नजूमी वैद्य कारीगर और तांत्रिक लोग इकट्ठे किये जाते थे। उन्हीं लोगों के कहे मुताबिक तिलस्म बांधने के लिए जमीन खोदी जाती थी उसी जमीन के अन्दर खजाना रख कर ऊपर तिलस्म-इमारत बनाई जाती थी। उसमें ज्योतिषी-नजूमी वैद्य कारीगर और तांत्रिक लोग अपनी-अपनी ताकत मुताबिक उसके छिपाने की कोशिश करते थे मगर साथ ही उसके रास्ते और पता का भी खयाल रखते थे जिसके लिए वह खजाना रक्खा जाता था।[1]

सामान्यतः जिसके सन्तान नहीं होती वह अपना संचित धन जमीन में गाड़कर मर जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि सर्प बनकर वह उसकी रक्षा करता रहता है। अधिक धनवान् लोग गुप्त स्थानों पर अपना कोष सुरक्षित रखते हैं और कभी कभी उनका रहस्य मन में छिपाये हुए ही संसार से चल बसते हैं। मध्ययुग में अनेक राजा-महाराजा दस्युओं से बचाने और आपत्काल में सहायता मिलने के लिए अपना कोष गुप्त स्थानों पर रखते थे। इसका पता किसी एक विश्वस्त व्यक्ति को ही होता था। कई बार तो पूर्वजों खजाने के विषय में राजा को भी न बताया जाता था। लखनऊ के नवाबी खजाने की ऐसी खोज कई बार हो चुकी है। तिलस्म इसमें अधिक महत्त्व की वस्तु है। जितना अधिक ऐश्वर्य उसके अन्दर छिपा होगा उतना ही उस तिलस्म का महत्त्व समझना चाहिए। ऐसे तिलस्म सैकड़ों अथवा हजारों वर्षों में कहीं मिलते हैं और उसको जो तोड़ता है वह बड़ा यशस्वी और भाग्यशाली होता है। वीरेन्द्रसिंह ने तो चुनार का वह तिलस्म तोड़ा था परन्तु इस हजार वर्ष के अन्दर कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसने तिलस्म तोड़ा हो[2]। किसी भी खंडहर को देख कर आजकल लोग अनुमान लगा लेते हैं कि यह 'कोई पुराना तिलस्म है'। "मैंने अपने बचपन में सुना था कि अंग्रेज सिपाही यहां अक्सर यही समझता कि यहां जरूर कोई तहखाना या खजाने की चाबी है"[3]। वस्तुतः तिलिस्म का सम्बन्ध ऐश्वर्य से है इसी विषय के साथ सम्पत्ति तथा यश दोनों जुड़ गए हैं।

तिलस्म बांधने में ज्योतिषी वैद्य (रासायनिक) कारीगर (शिल्पी) तथा तान्त्रिक (मन्त्रसिद्ध आदि) की सहायता ली जाती है। जिसकी तो अपनी कला में

---

१ चौथा हिस्सा, पांचवां बयान।

२ चन्द्रकान्ता सन्तति, पहला हिस्सा, दूसरा बयान।

३ चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, बारहवां बयान।

शब्द सर्वप्रथम इसी दिन आया होगा। इससे पूर्व संस्कृत आदि भाषाओं में इसे कुछ और कहते होंगे।

'तिलिस्म' शब्द सन् ७१२ में आया परन्तु तिलस्मी विद्या का उपयोग भारत में पहले से ही चल रहा था। हो सकता है यूनानी अथवा असीरियन जातियों के सम्पर्क से अरबी और संस्कृत दोनों भाषाओं एवं इनके बोलने वालों में यह शब्द और इसका उपयोग साथ-साथ ही आये हों। मूल 'तिलस्मा' शब्द अरबी भाषा में तो अधिक परिवर्तित न हुआ—उसे 'तिल्सम' कहने लगे परन्तु संस्कृत में इसका अन्तिम अक्षर 'मा' ही रह गया जिसमें आगे चल कर 'मा' अथवा माया शब्द लक्ष्मी, इन्द्रजाल, जादू, टोना, छल-कपट आदि अर्थों में व्यवहृत होने लगा। यहाँ यह विवेचन सम्भव न होगा कि अथर्ववेद के इन्द्रजाल, माया आदि पर विदेशी प्रभाव है या नहीं। परन्तु यह निश्चय है कि रामायण-काल के असुर लोग माया विद्या में दक्ष थे। असुर मारीच ने राम को छलने के लिए मृग का रूप धारण कर लिया और सचमुच पुरुषोत्तम राम उसके पीछे धनुष-बाण लेकर चल दिये—'मरीचिका' के ऐसे उदाहरण आधुनिक उपन्यासों में भी मिलते हैं। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में इन्द्रजीतसिंह को गिरफ्तार करने के लिए शिवदत्तसिंह के ऐयार शेर का रूप धारण करके जंगल में दहाड़ते फिरते थे। असुरों ने दूसरा छल सीता के साथ किया कि राम और लक्ष्मण के साक्षात् रूप के दो सिर लाकर सीता को विश्वास दिलाना चाहा कि राम लक्ष्मण मारे गये। 'चपला' उपन्यास में भी चपला के सामने उसके प्रेमी की बनावटी कटाई लाकर उसे ऐसा ही विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया है। इस आसुरी क्रिया के लिए असुर-लोग भाँति भाँति के अनुष्ठान करते और यक्षिणी का आवाहन करते थे। यदि विभीषण ने राम को भेद न बताया होता तो रावण के सिर कटते रहते और साथ ही नये लगते रहते, उसका मरना सम्भव न था क्योंकि मायाविनिर्मित सिरों के कटने से मायावी का कुछ नहीं बिगड़ता। 'वन सरोजिनी' उपन्यास में नरेन्द्रसिंह ने युद्ध करके तुमरस का सिर काट लिया और कुछ देर बाद 'अपरिचित' को दिखाया तो उसकी सम्मति मान कर गरम पानी से धोने से वह सिर तुमरस का न निकला। राम ने भी सावधान होकर एक माया-सीता का निर्माण कर लिया था जिससे असुर छल करें तो भी असली सीता का कुछ न बिगाड़ सकें। ये सारे चमत्कार 'ऐयारी' के अन्तर्गत आते हैं परन्तु इनका प्रादुर्भाव असुरों की 'मा' 'माया' अथवा असीरियन जातियों के 'तिलेस्मा' से ही है।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में सिद्धबाबा से जब सुरेन्द्रसिंह ने यह पूछा कि तिलिस्म किसे कहते हैं और क्यों बनाया जाता है? तो उन्होंने तिलस्म का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया

तिलस्म वही शख्स तैयार करता है जिसके पास बहुत माल-खजाना हो और कोई वारिस न हो। तब वह अच्छे-अच्छे ज्योतिषियों-नजूमियों से दरयाफ्त करता है कि उसके या उसके भाइयों के खानदान में कभी कोई प्रतापी और लायक पैदा होगा या नहीं। आखिर ज्योतिषी और नजूमी इस बात का पता देते हैं कि इतने दिन के बाद

मारके खानदान में एक लड़का प्रतापी होगा बल्कि उसकी जन्मपत्री भी मिला कर तैयार कर देते हैं उसी के नाम से खजाना और अच्छी अच्छी कीमती चीजों को रखकर उस पर तिलस्म बांधते हैं।

'आजकल तो तिलस्म बांधने का यह कायदा है कि थोड़ा बहुत खजाना रखकर उसकी हिफाजत के लिए दो-एक आदमी को बलि दे देते हैं वह प्रेत या सांप हो कर उसकी हिफाजत करता है और कहे हुए आदमी के सिवाय दूसरे को एक पैसा लेने नहीं देता मगर पहिले यह कायदा नहीं था। पुराने जमाने के राजा को जब तिलस्म बांधने की जरूरत पड़ती थी तो बड़े-बड़े ज्योतिषी-नजूमी वैद्य कारीगर और तान्त्रिक लोग इकट्ठे किये जाते थे। उन्हीं लोगों के कहे मुताबिक तिलस्म बांधने के लिए जमीन खोदी जाती थी उसी जमीन के अन्दर खजाना रख कर ऊपर तिलस्मी इमारत बनाई जाती थी। उसमें ज्योतिषी-नजूमी वैद्य कारीगर और तान्त्रिक लोग अपनी-अपनी ताकत मुताबिक उसके छिपाने की बन्दिश करते थे मगर साथ ही उसके नक्षत्र और ग्रहों का भी ख्याल रखते थे जिसके लिये वह खजाना रक्खा जाता था।'[1]

सामान्यतः जिसके सन्तान नहीं होती वह अपना अर्जित धन जमीन में दबाकर मर जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि सर्प बनकर वह उसकी रक्षा करता रहता है। अधिक धनवान् लोग गुप्त स्थानों पर अपना कोष सुरक्षित रखते हैं और कभी कभी उसका रहस्य मन में छिपाये हुए ही संसार से चल बसते हैं। मध्ययुग में अनेक राजा महाराजा शत्रुओं से बचाने और आपत्काल में सहायता लेने के लिए अपना कोष गुप्त स्थानों पर रखते थे इसका पता किसी एक विश्वस्त मन्त्री को ही होता था कई बार तो पुश्तैनी खजाने के विषय में राजा को भी न बताया जाता था। मलनऊ में नवाबी खजाने की ऐसी खोज कई बार हो चुकी है। तिलस्म इसस अधिक महत्व की वस्तु है। जितना अधिक ऐश्वर्य उसके अन्दर छिपा होगा उतना ही उस तिलस्म का महत्व समझना चाहिए, एक तिलस्म सैकड़ों अथवा हजारों वर्षों में कहीं मिलते हैं और उसका जो तोड़ता है वह बड़ा नसीबी और भाग्यशाली होता है। वीरेन्द्रसिंह ने तो चुनार का का तिलस्म तोड़ा था परन्तु दस हजार वर्ष के अन्दर कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसने तिलस्म तोड़ा हो[2]। किसी भी खंडहर को देख कर जानने वाले अनुमान लगा लेते हैं कि यह 'कोई पुराना तिलस्म है' 'मैंने अपने उस्ताद से सुना था कि सफेद चिउंटियां जहां नजर पड़ें समझना कि वहां जरूर कोई खजाना या खजाने की चाबी है'[3]। अस्तु तिलिस्म का सम्बन्ध ऐश्वर्य से है इसी विषय के साथ सम्पत्ति तथा यश दोनों जुड़े हुए हैं।

तिलस्म बांधने में ज्योतिषी वैद्य (रासायनिक) कारीगर (शिल्पी) तथा तान्त्रिक (मंत्रसिद्ध आदि) की सहायता ली जाती है। शिल्पी तो अपनी कला से

---

१ चौथा हिस्सा चौथा बयान।
२ चन्द्रकान्ता सन्तति, पहला हिस्सा पहला बयान।
३ चन्द्रकान्ता चौथा हिस्सा, सातवां बयान।

उसको मजबूत सुरक्षित दुर्भेद्य तथा रहस्यपूर्ण बनाता है। रासायनिक तरह-तरह के योगों से उसकी सामग्री को सहस्रों वर्ष तक काम आने वाली बना देता है। ज्योतिषी और तान्त्रिक उसका भविष्य निश्चय कर देते हैं कि वह किस व्यक्ति को प्राप्त होगा उसका क्या नाम होगा और उसका जीवन कैसा रहेगा। तिलस्म की सुरक्षा दो प्रकार से होती है। एक तो उसको बांधकर उसकी कुंजी किसी देव के पास में रखने से जिसको मिलना चाहिए उसे स्वतः कुंजी प्राप्त हो जाती है। दूसरे किसी दरोगा की नियुक्ति से वह दरोगा अपनी सन्तान को इसका रहस्य परम्परा से सिखला कर आवश्यक काल तक इसे गुप्त रहने देता है। पहिला साधन रसायन तथा ज्योतिष पर अधिक विश्वास करता है। दूसरे में इस प्रकार का ध्यान रखा जाता है कि यदि अनधिकारी किसी कारण से तिलस्म को तोड़े तो वह स्वयं नष्ट हो जाय।

तिलस्म जिस प्रकार बांधा जाता है उसी प्रकार तोड़ा भी जाता है। वीरेन्द्रसिंह ने ज्योतिषी जी से कहा—'आप रमल और नजूम से पता लगाइए कि यह तिलस्म किस तरह और किसके हाथ से टूटेगा'[1]। रातभर ज्योतिषी जी रमल फेंकने और विचार करने में लगे रहे। प्रातःकाल उन्होंने कहा—'रमल से मालूम होता है कि इस तिलस्म के तोड़ने की तरकीब एक पत्थर पर खुदी हुई है और वह पत्थर भी इसी खंडहर में किसी जगह पर पड़ा हुआ है। खंडहर को देखते भालते सब लोग चबूतरे के पास आये जिस पर पत्थर का आदमी हाथ में किताब लिये सोया हुआ था। ज्योतिषी ने कहा—'तुम एक कागज पर इसकी नकल उतार लो'। वे लोग घूम-घूम कर आठ पहल का खम्भा या चबूतरा तलाश करने लगे। ज्योतिषी जी ने कहा—'बस यही खम्भा है, इसी का पता उस किताब में लिखा है इसी के नीचे जमा-पूंजी वाली वह पत्थर जिसमें तिलस्म तोड़ने की तरकीब लिखी हुई है गड़ा है। यह भी मालूम हो गया कि यह तिलिस्म कुमार के हाथ टूटेगा क्योंकि उस किताब में जिसकी नकल कर लाये हैं इसका अन्दाज ६ हाथ १ अंगुल लिखा है सो कुमार ही के हाथ से पूरा हुआ इससे मालूम होता है कि यह तिलस्म कुमार ही के हाथ से फतह होगा।'[2] ज्योतिष और किताब के बिना न ऐयारी सफल होती है और न तिलस्म टूटता है। यह किताब सांकेतिक भाषा में रहती थी। अन्य चालबाजियों के साथ-साथ किताब को अपने हाथ में करने की भी ऐयार लोग कोशिश किया करते थे। 'भूतनाथ' उपन्यास में प्रभाकरसिंह ने रामदास से धोखा खाया। उसने ऐयारी के बटुये में से बड़ी सावधानी से बेहोशी की दवा निकाली और प्रभाकरसिंह को सुंघा दी जब उसे विश्वास हो गया कि वे बेहोश हो गये तो उनकी जेब में से वह किताब निकाल ली जिसमें इस तिलस्म का कुछ हाल लिखा हुआ था।[3] शिवनाथ बाबा को मालूम हो गया था कि 'यह पहाड़ी एक छोटा-सा तिलस्म है और कुमार के इलाके में भी कोई तिलस्म है जिसके हाथ से यह टूटेगा उसकी शादी जिसके साथ होगी

१ चन्द्रकान्ता दूसरा हिस्सा, तेरहवां बयान।
२ वही चौबीसवां बयान।
३ तीसरा हिस्सा, चौथा बयान।

उसी के दहेज के सामान पर यह तिलिस्म बंधा है और शादी होने के पहिले ही वह इसकी मालिक होगी'[1]।

पुस्तक के अतिरिक्त तिलिस्म खोलने (पुरुष के हाथ से तिलिस्म टूटता है, नारी के हाथ से यह खुलता है) का दूसरा मार्ग तिलिस्म की कुंजियाँ प्राप्त करना है। जब सिद्धबाबा ने दीवार की जड़ के सूराख से सफेद चींटियों को निकलते देखा तो उनको विश्वास हो गया कि खजाना या खजाने की कुंजी उसी छिद्र में है। उसने कमर से खंजर निकाल कर कुमारी चन्द्रकान्ता के हाथ में दिया और कहा कि तुम इस जमीन को खोदो हाथ ही भर के बाद कांच की छोटी-सी हांडी निकली जिसका मुंह बन्द था' उसके भीतर किसी किस्म का तेल भरा हुआ था जो हांडी के टूटते ही बह गया और एक तामे का गुच्छा उसके अन्दर से मिला[2]। उस गुच्छे में तीस तालियां थीं जिनसे तीसों ताले खुलते थे। इस प्रकार के तिलिस्म की विशेषता यह है कि जिसके हाथ खुलना होता है उसके सहायक को दैवयोग से इसके रहस्य का पता लग जाता है। शोध का अभाव होने के कारण इस प्रकार के तिलिस्म का वर्णन कम है।

तिलिस्म का दरोगा अपने आपमें एक विशिष्ट व्यक्ति है। इस पद पर दो प्रकार के लोग नियुक्त होते हैं। एक तो वे जो पैतृक परम्परा से तिलिस्म की रक्षा करते हुए गुप्त स्थान पर साधु आदि के वेष में रहते हैं। दूसरे वे जिनकी नौकरी इस पद पर होती है वे रक्षक या स्वामी नहीं होते। घाटी में भूतनाथ की निगाह एक साधु पर पड़ी जो बुड्ढा और तपस्वी मालूम पड़ता था उसके सिर और दाढ़ी के सफेद बाल बहुत घने और लंबे थे। साधु ने कहा—अगर तुम इस घाटी में अपना कब्जा बनाये रहोगे और तुम्हारी चाल चलन अच्छी देखूँगा तो एक दिन तुमको इस तिलिस्म का दारोगा भी बना दूँगा क्योंकि अब मैं बहुत बुड्ढा हो गया हूँ और तिलिस्म के नियमानुसार अपने बाद के लिए किसी न किसी को दारोगा बना देना बहुत जरूरी है।[3] साधु की बात सुनकर भूतनाथ बहुत ही प्रसन्न हुआ। वह जानता था कि तिलिस्म का दारोगा बनना कोई मामूली बात नहीं है उसके कब्जे में बेअन्दाज दौलत रहती है और उसकी ताकत तिलिस्मी सामान की बदौलत मनुष्य की ताकत से कहीं बढ़-चढ़कर रहती है। " तिलिस्मी दारोगा होने के कारण ही इन्द्रदेव कैसे चैन और आराम के साथ रहता है दुश्मनों का उसे जरा भी डर नहीं है और वास्तव में उसके दुश्मन उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते'।[4] 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में शिवदत्तसिंह के ऐयार ने बाबाजी का वेष धारण कर इन्द्रजीतसिंह को फंसाने के लिए अपने को तिलिस्म का दरोगा बतलाया : 'मेरे परदादा दादा और बाप उसी तिलिस्म के दारोगा थे जब मेरे पिता का देहान्त होने लगा तब उन्होंने उसकी

---

१ चन्द्रकान्ता चौथा हिस्सा, बीसवां बयान।
२ चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा सत्रहवां बयान।
३ भूतनाथ दूसरा हिस्सा, छठा बयान।
४ वही।

साथी मेरे सुपुर्द कर मुझे उसका दारोगा मुकर्रर कर दिया। अब वह वक्त आ गया है कि मैं उसकी ताली तुम्हारे हवाले करूँ क्योंकि वह तिलस्म तुम्हारे ही नाम पर बांधा गया है और सिवाय तुम्हारे कोई दूसरा मालिक नहीं बन सकता"[1]। दारोगा का पद बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण है। अपने जीवन काल में उसे एक व्यक्ति तलाश कर लेना पड़ता है जो तिलस्म की रक्षा को अपना पवित्र कर्तव्य मान कर वर्तमान दरोगा की मृत्यु के बाद उस बोझ को अपने ऊपर ले सके। यह व्यक्ति दारोगा का पुत्र भी हो सकता है तथा अन्य कोई योग्य अधिकारी भी। दूसरे प्रकार के दारोगा जो नौकरी करते हैं अपने जीवन-काल के लिए ही नियुक्त होते हैं वे न मालिक हैं और न इनके कोई विशेष अधिकार हैं। ये ऐसे तिलस्म के रक्षक होते हैं जिनका स्वामी स्वयं जीवित है। 'भूतनाथ' उपन्यास में 'जमानिया तिलस्म'[2] का दारोगा इसी प्रकार का है जो विश्वासपात्र तथा चालाक होने के कारण इस पद पर नियुक्त किया गया है। दारोगा का पद स्त्री को भी मिल सकता है 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में एक औरत जो मायारानी के नाम से पुकारी जाती है उस तिलस्म का राज्य करती है[3]।

यद्यपि तिलस्म कोष की विशेष रूप से रक्षा के लिए बनाया जाता है फिर भी यह केवल खजाने की कोठरी-मात्र नहीं है। तिलस्म एक किले के समान है जो अपने आप में सब सुविधाओं से पूर्ण होता है। मनुष्य-जाति तो उसमें नहीं होती शेष सभी बातें एक सुन्दर नगर के समान होती हैं। मीठे पानी की नहरें, फलों के वृक्ष, साफ-सुथरे स्थान, अमूल्य रत्न राशि सब कुछ उसके अन्दर मिल जायगा। तिलस्मी इमारतें कितने क्षेत्रफल में हो सकती हैं इसका अनुमान कठिन है, क्योंकि वह तो एक बड़ा नगर है—नगर से भी बड़ा जिसमें पहाड़ियाँ और नहरें भी होती हैं। इमारतें इस प्रकार की बनी होती हैं कि उनकी क्रियाएँ अपने आप घूम जाती और बन्द होती रहती हैं पौधों में पानी स्वयं लगता रहता है, सफाई हुई ही रहती है। चुनार के तिलस्म का वर्णन देखिए

"नीचे एक लम्बी चौड़ी कोठरी नजर आई जिसके चौखट में किवाड़ के पल्ले नहीं थे। पहिले चपला ने खूब गौर करके देखा फिर अन्दर गई। दरवाजे के भीतर पैर रखते ही ऊपर वाली चौखट के बीचों-बीच से एक लोहे का तख्ता बड़े जोर के साथ गिर पड़ा। चपला ने चौंक के पीछे देखा तो दरवाजा बन्द पाया।"

"घूमते घूमते चपला का पैर एक छोटे से गड्ढे में जा पड़ा साथ ही उसके एक आवाज हुई और दरवाजा खुल गया और कोठरी में चांदना भी पहुँच गया। यह वह दरवाजा नहीं था जो पहिले बन्द हुआ था बल्कि यह दूसरा दरवाजा था।"

आखिर उस दरवाजे की राह से कोठरी के बाहर हो एक बाग में पहुँची देखा कि छोटे-छोटे फूलों के पेड़ों में रंगबिरंग के फूल खिले हुए हैं। बाग के एक तरफ से

---

१ चौथा हिस्सा, पहला बयान।

२ तीसरा हिस्सा।

३ छठवां हिस्सा पांचवां बयान

छोटी नहर के जरिये से अन्दर पानी पहुंच कर बाग में छिड़काव का काम दे रहा है मगर क्यारियां उसमें की कोई भी दुरुस्त नहीं है।"

जैसे-जैसे रात बीतती जाती था बारहदरी की चमक भी बढ़ती जाती थी। छत दीवार, जमीन सभी सब चमक रहे थे। कोई जगह उस बारहदरी में ऐसी न थी जो दिखाई न देती हो। बल्कि उसकी चमक से सामने वाला बाग हिस्सा बाग का भी उजाला हो रहा था।

मजदूर को देखने के लिए चपला उसके पास गई। संगमरमर के पत्थर पर पैर रक्खा ही था कि धीरे-धीरे उस मजदूर ने दम खींचना शुरू किया और इतनी तेजी से उसने दम खींचा कि चपला का पैर न जम सका। वह खिंचकर उसके पेट में चली गई साथ ही जान से बेहोश भी हो गई।"[1]

प्रभाकरसिंह जिस तिलस्म में पहुंचे वह और भी विचित्र था। कई कोठरियों में घूमते फिरते वे एक ऐसी कोठरी में पहुंचे जो लम्बाई-चौड़ाई में वहां की सब कोठरियों से बड़ी थी। वहां चारों तरफ की दीवारों में बड़ी-बड़ी ताख आलमारियां बनी हुई थीं और उन सभी के ऊपर नम्बर लगे हुए थे। सात नम्बर की आलमारी किसी गुप्त रीति से खोली और उसके अन्दर चले गये। नीचे उतर जाने के लिए सीढ़ियां बनी हुई थीं अस्तु उसी राह से प्रभाकरसिंह नीचे उतर गये और एक दालान में पहुंचे। देखा कि दालान बहुत चौड़ा है और यहां की जमीन में बहुत-सी लोहे की नालियां बनी हुई हैं जो सड़क का काम देने के लिए हैं तथा उन पर छोटी-छोटी बहुत सी गाड़ियां रखी हुई हैं जिन पर सिर्फ एक आदमी के बैठने की जगह है।

प्रभाकरसिंह एक गाड़ी के ऊपर सवार हो गये जिसकी पीठ पर 'चन्द्र' लिखा हुआ था। सवार होने के साथ ही गाड़ी चलने लगी। दालान के बाहर हो जाने पर मालूम हुआ कि वह किसी सुरंग के अन्दर जा रही है। जैसे जैसे वह गाड़ी आगे बढ़ती जाती थी वैसे-वैसे उसकी चाल भी तेज होती जाती थी और हवा के झपेटे भी अच्छी तरह लग रहे थे।

"आध घंटे तक तेजी के साथ चले जाने के बाद गाड़ी एक ठिकाने पहुंच कर रुक गई। प्रभाकरसिंह ने आंखें खोलकर देखा तो उजाला मालूम हुआ। जब प्रभाकरसिंह गाड़ी से नीचे उतर पड़े तो वह गाड़ी पीछे की तरफ उसी तेजी से साथ लौट गई जिस तेजी से यहां आई थी।"[2]

इस वर्णन से यह सिद्ध है कि उस तिलस्म के अन्दर कम-से-कम २ मील की सड़क तो एक रही ही होगी जहां पहुंचने में तेज चलने वाली बिजली की गाड़ी आधा घंटा लेती थी।

तिलस्म के समान ही रहस्यमयी कुछ इमारतें हैं जो तिलस्मी चारदीवारी से ही

---

१ भूतनाथ तीसरा हिस्सा दूसरा बयान।
भूतनाथ सोलहवां हिस्सा तीसरा बयान।

बनाई जाती है। इनका तिलस्म से एक तो यह अन्तर है कि इन में खजाना नहीं होता और दूसरा यह कि इनका किसी विशेष व्यक्ति के हाथ से टूटना आवश्यक नहीं। तिलस्म से इन इमारतों की एक ही समानता है कि तिलस्मी कारीगरी के कारण ये रहस्यमयी होती हैं और इनका मार्ग भी किसी पहाड़ी खण्डहर, या वन-बीहड़ से मिलता है। 'तिलस्मी शीशमहल' उपन्यास में किशोरीलाल गोस्वामी ने भोगाम राज्य की जिस अमुरद पहाड़ी का वर्णन किया है वह 'तिलस्म' नहीं है—'तिलस्मी' मात्र है। अधिकतर उपन्यास-लेखक तिलस्म और तिलस्मी इमारत का भेद नहीं कर पाए, परन्तु देवकीनन्दन खत्री की दृष्टि में दोनों अलग-अलग थे। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास में 'बड़े-बड़े ताज्जुब के काम और अद्भुत बातों को दिखाते हुए लेखक ने पाठकों के इस भ्रम पर स्वयं सन्देह किया है और उनको बतला दिया है कि यह वर्णन तिलस्म का नहीं है ... इस जगह बहुत ही अद्भुत बातों को पढ़कर आप ऐसा न समझ लें कि यह तिलस्म है और इसमें ऐसी बातें हुआ ही करती हैं ... इस सन्तति के चार हिस्सों में तो तिलस्म का नाम भी न लेंगे'[1]। जो वर्णन किया गया है वह चारों तरफ से चार खूबसूरत पहाड़ियों से घिरी हुई लगभग हजार गज चौड़ी और इतनी ही लम्बी जमीन का है जहाँ कुदरती बगीचा, झरने और फलों के वृक्ष हैं। बीचों बीच में एक आलीशान इमारत बनी हुई है, इसमें पन्द्रह-बीस नौजवान और खूबसूरत औरतों का डेरा है। इस प्रकार की इमारतें प्रायः दो कामों में आती थीं—कैदी घर तथा विलास भवन। किशोरीलाल गोस्वामी के 'मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी' उपन्यास में महाराज महेन्द्र सिंह को कैद करके दुश्मन ने यह घोषित कर दिया कि वे मर गए हैं। कमालपुर की पहाड़ी में यह कैदखाना था। पहाड़ी में आधकोस तक बराबर ऊबड़खाबड़ पगडंडियों में चलकर एक अंधेरी गुफा आती थी जिसके अन्दर जाकर दीवाल पर अजगर की लटकती हुई मूर्ति बड़ी सुन्दर बनी थी। फरहाद ने एक ताली उस अजगर की चमकती हुई आँख में लगा कर घुमाई फिर वह ताली खींचकर वह कुछ पीछे हट गया और कुछ ही क्षण के उपरान्त एक धड़ाके का शब्द हुआ और उस अजगर के नीचे की एक पत्थर की पटिया न जाने किधर अन्तर्धान हो गई फिर वहाँ जो सीढ़ियाँ दिखलाई देती थीं उन्हीं के द्वारा सब कोई बारी-बारी से नीचे उतर गए"[2]। 'राजकुमारी' उपन्यास में दीवान ने राजा को एक ऐसे तिलस्मी मकान में कैद कर लिया था जिसका मार्ग पीपल के पेड़ पर से था। 'कमर से ताली निकाल कर उस कोठरी के पूरब ओर वाली दिवार में बनी हुई साँप की आँख में ताली लगाकर कई बार दहने-बाए घुमाई जिससे एक धड़ाके की आवाज के साथ उस दीवार की एक पटिया जो कि स्याह पत्थरों से बनी हुई थी अलग हो गई और एक आदमी के घुस जाने लायक राह बन गई।

---

१ पहला हिस्सा, ग्यारहवाँ बयान।

२ बारहवाँ परिच्छेद, पृ० [illegible]

रोशनी, कटोरा और ताली का गुच्छा लिए हुए दीवान उसमें घुस गया[1]।' विलास-भवन वाली इमारत का वर्णन 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में भी है। जब वीरेन्द्रसिंह की नींद खुली तो न अपने डेरे पर नहीं थे बल्कि एक सजे हुए कमरे में पहुँचे हुए थे। 'यह एक बहुत भारी दीवानखाना है जिसके तीन तरफ संगमरमर की दीवार चौथी तरफ बड़े-बड़े खूबसूरत दरवाजे हैं जो इस समय बन्द हैं। ऊपर चारों तरफ बड़ी-बड़ी खूबसूरत और हसीन औरतों की तस्वीरें लटक रही थीं ... कुमार की निगाह तमाम तस्वीरों पर से दौड़ती हुई उस बड़ी तस्वीर पर जाकर अटक गई[2]।' किशोरीलाल गोस्वामी ने 'पन्नाबाई' उपन्यास में अकबर की एक तिलस्मी चित्रशाला[3] का वर्णन किया है जिसमें नायिका-भेद के उदाहरण से अनेक स्त्रियों के कामनोत्तेजक चित्र बने हुए थे। वस्तुतः विलास-भवन वाली इमारतें रईसों ने अपने व्यक्तिगत मनोरंजन के लिए बनवाई थीं। इनमें प्रवेश की आज्ञा किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं थी।

तिलस्म के कुछ नियम हैं जिनका पालन प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जो उनका पालन नहीं करता उस पर दैवी अभिशाप आ गिरता है। सबसे प्रथम यह है कि तिलस्म का रक्षक अपने वैयक्तिक जीवन में चाहे जितना छल-छिद्र करे परन्तु तिलस्म की शर्तों के सामने उसे नतमस्तक होना चाहिए। मान लीजिए कि किसी रक्षक के मन में पाप आ गया और वह अधिकारी के हाथ से तिलस्म को बचा कर अपने अथवा किसी अन्य व्यक्ति के हाथ में देना चाहता है तो उसने बड़ा पाप किया जो किसी की धरोहर पचा जाने या नष्ट करने से होता है और ईश्वर उस रक्षक को कठोर दण्ड देगा। इसीलिए दारोगा साथ बड़ी पवित्रता से अपने कर्तव्य का पालन किया करते हैं। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में कमलिनी की सगी बहिन मायारानी के मन में ऐसा ही पाप आ गया था। 'हमारे तिलस्मी किताब से मालूम होता है कि कुँअर इन्द्रजीतसिंह और आनन्दसिंह उस तिलस्म को तोड़ेंगे क्योंकि तिलस्म तोड़ने वाला के जो लक्षण उस किताब में लिखे हैं वे सब इन दोनों लड़कों में पाए जाते हैं। परन्तु मायारानी चाहती है कि तिलस्म टूटने न पावे और इसी सबब से दोनों कुमारों को अपने कैद में रखने अथवा मार डालने का उद्योग कर रही है[4]।' कमलिनी यह जानती थी कि तिलस्म बनाने वालों के खिलाफ चलने और इन दोनों लड़कों से दुश्मनी रखने का नतीजा अच्छा न होगा। अन्त में मायारानी को पराजित होना पड़ा और तिलस्म बनाने वालों की इच्छानुसार दोनों कुमारों के हाथ से ही तिलस्म टूटा। दूसरा नियम यह है कि तिलस्म पर कोई भी अन्य व्यक्ति जादू-विद्या [illegible] काम नहीं करता। जो तिलस्म की मातहत हैं उसके विरोध में सफल नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए अगर कोई अपना रमल फेंक कर यह पता लगाना चाहे कि इस तिलस्म को

१ चन्द्रकान्ता सन्तति • १
२ तीसरा हिस्सा, ग्यारहवाँ बयान।
३ प्रथम भाग
४ दूसरा हिस्सा, पाँचवाँ बयान।

तोड़ने की युक्ति कहीं अंकित होगी तो रमल केवल उस समय सफल हो सकता है ज
रमल फेंकने वाला उस व्यक्ति की आज्ञा से और सच्चे हृदय से उसी के लाभ के लि
पता कर रहा हो जिसके हाथ से तिलस्म का टूटना बाँधने वाले को अभीष्ट है। कुम
ने ज्योतिषी जी से कहा कि आप रमल से शिवदत्त के छूटने का हाल बताइए
ज्योतिषी जी बोले—'जी नहीं तिलस्म में रमल काम नहीं करता और यह तहखा
तिलस्म है जिसमें महाराजा शिवदत्त कैद किए गए थे'[1]। तीसरा नियम यह है
जिसके हाथ से तिलस्म का टूटना अभीष्ट है उसके हाथ से टूट ही जाना चाहिए। य
किसी कारणवश वह उसको नहीं तोड़ता तो उस पर ऐसी आपत्तियाँ आवेंगी जो उ
तिलस्म तोड़ने को बाध्य कर देंगी। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में चन्द्रकान्ता इसीलि
कैद हो जाती है कि वीरेन्द्रसिंह उस तिलस्म को तोड़ें वरना जब वे अगस्त्य पवत
ऊपर निस्सहाय नायिका को व्याकुल देखते हैं तो उनमें तिलस्म तोड़ने का जोश
जाता है किसी असामान्य वीर पुरुष पर आपत्तियाँ आती ही इसीलिए हैं कि उस
हाथ से कोई महान् कार्य सम्पादित होना चाहता है सिद्धनाथ योगी के शब्दों में अग
मैं कुमारी को यहाँ से निकालकर आपके पास पहुँचा देता तो कुमार उस तिलस्म
तोड़ना बन्द कर देते और यहाँ का खजाना भी यों ही रह जाता'[2]। कई बार एक तिल
स्म का सम्बन्ध दूसरे तिलस्म से होता है और जब एक तिलस्म या उसके कुछ भा
टूट जाते हैं तभी दूसरा टूटता है उससे पूर्व नहीं। इस पूर्वापर का उल्लंघन स्वयं तिल
स्म का तोड़ने वाला भी नहीं कर सकता। इसका सम्बन्ध उस तिलस्म से था जि
कमार ने तोड़ा है वह तिलस्म या उसके कुछ हिस्से अगर न टूटते तो यह तिलस
(चन्द्रकान्ता वाला) कभी न खुलता'[3]। लगाववाले तिलस्म या तो उनके नाम बँ
होते हैं जिनका आपस में विवाह होना है (जैसे 'चन्द्रकान्ता' में) अथवा उनके नाम ज
अत्यन्त ही निकट सम्बन्धी पिता-पुत्र या भाई-भाई (जैसे 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में) हो
इस प्रकार ऐसा लगता है कि तिलस्म तो प्राकृतिक नियम अथवा धर्म का ही एक दूसर
पर्याय बन गया है—अपने आप में पूर्ण समर्थ न्यायी पालक आदि गुणों से सम्पन्न।

तिलस्म के सम्बन्ध में पाठकों के मन में सदा यह प्रश्न उठता रहा है कि क्य
यह सत्य है क्या यह संभव है। इसमें दो मत नहीं कि तिलस्मी वर्णन कवि कल्पना क
प्रसूत है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह कल्पना अनर्गल दौड़ती फिरती है अथवा किस
निश्चित सिद्धान्त से अनुशासित होती है। देवकीनन्दन खत्री ने इस प्रश्न का उत्त
अपनी रचनाओं में कई स्थलों पर दिया है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास को समाप्त करत
हुए चौथे हिस्से के बीसवें बयान में उन्होंने सिद्धनाथ योगी और सुरेन्द्रसिंह की बातची
के बहाने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि तिलस्म किसे कहते हैं और क्यों बनाया जात
है। उसी प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि 'एक-एक बात को खूब गौर से सोचिए तो मा

१ चन्द्रकान्ता तीसरा हिस्सा तीसरा बयान।
२ चन्द्रकान्ता चौथा हिस्सा उन्नीसवाँ बयान।
३ चन्द्रकान्ता चौथा हिस्सा बीसवाँ बयान।

ही मालूम हो जाएगा कि ज्योतिषी नजूमी कारीगर और दस्तकारी (-शस्त्र) को जानने वाले क्या-क्या काम करते थे। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में वे वर्णन करने पर कहते हैं कि 'इसी तरह हमारे पाठक महाशय भी ताज्जुब करते और सोचते होंगे कि यह तमाशा सम्भव है या असम्भव मगर उन्हें समझ रखना चाहिए कि दुनिया में कोई बात असम्भव नहीं है जो अब असम्भव है वह पहिले जमाने में संभव थी और जो पहिले जमाने में असम्भव थी वह आज संभव हो रही है। इन कथनों में लेखक का यही अभिप्राय है कि जिन बातों का वर्णन किया गया है वे सत्य तो नहीं हैं परन्तु संभव अवश्य हैं। आगे चलकर खत्री जी ने अपनी दृष्टि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है जो सामान्य सभी तिलस्मी उपन्यासों पर लागू होने के साथ-साथ घटनात्मक उपन्यास की समीक्षा के लिए एक संतुलित मापदंड प्रस्तुत करता है। खत्री जी 'सन्तति' के अन्त में लिखते हैं —

मित्रों ने संवाद पत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका घटनाक्रम सम्भव है कि असंभव। मैं नहीं समझता था कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई? जिस प्रकार पंचतन्त्र हितोपदेश आदि ग्रन्थ बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गये उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये पर यह सम्भव है कि असम्भव इस विषय में कोई यह समझे कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा-सा नमूना है। अब रही सम्भव-असम्भव की बात। इसका विचार प्रत्येक मनुष्य की योग्यता और देश-काल-पात्र से सम्बन्ध रखता है।"

लेखक के निष्कर्ष तीन हैं—(१) यह रचना मनोविनोद के लिए है (२) इसमें ऐतिहासिक सत्य नहीं है (३) जिन वस्तुओं का इसमें वर्णन है वे आज सम्भव नहीं परन्तु भविष्य में हो सकती हैं और अतीत में रही हों तो कौन जानता है। वस्तुतः विवाद का अन्त तो अन्तिम निष्कर्ष ही है जिसमें लेखक ने सम्भावना को स्वीकार किया है। किशोरीलाल गोस्वामी के सम्मुख भी यही प्रश्न आया था जिसका उत्तर उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' में दिया है 'तिलस्म की कुल बात या कुछ किताबों में लिखी जा चुकी हैं नहीं तो दुरुस्त हैं और वे हिकमत की कारीगरी से खाली नहीं हैं'[1] उन्होंने तिलस्म की इमारत बनाना लोगों से की है और बड़े-बड़े तिलस्मों का सम्बन्ध प्रायः योगियों से दिखा दिया है। 'राजकुमारी' उपन्यास में योगिराज सबके सामने 'प्रभावसमर' का रहस्य बतलाने लगे "आज से दो सौ वर्ष पहले मैं ज्योतिषी का काम करता था और शिल्प विद्या में मेरी बड़ी रुचि थी। संयोग से काशी में तुम्हारे परदादे से मेरी भेंट हुई और उन्होंने मेरी सलाह से यह प्रभावसमर आदि सारी इमारतें बनवाईं।"[2] वस्तुतः गोस्वामी जी ने खत्री जी से स्वतन्त्र कोई बात नहीं कही योग बीच में आ गया है अन्यथा ज्योतिष

* [1] पन्नाबाई प्रथम भाग पृ० ११२
* [2] तैतीसवां परिच्छेद पृ० १६१

एवं शिल्पविद्या के संयोग से ही तिलस्म तैयार होता है—तान्त्रिक विद्या एवं रसायन-विद्या को शिल्पविद्या का एक विशेष सहायक मान कर।

संभावना' के प्रश्न का जो उत्तर खत्री जी ने दिया है वही कलाकार को देना भी चाहिए। यदि जोनाथन स्विफ्ट के 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' (सन् १७२६) में समकालीन लोगों की तुच्छता पर व्यंग्य है तो खत्री जी का 'चन्द्रकान्ता' समकालीन युवकों को उत्साहित करने में सफल है—इस विषय पर विस्तृत विचार आगे किया जायेगा। जिज्ञासु के समक्ष पुराना प्रश्न आज भी नवीन बना हुआ है। परन्तु विज्ञान के नित्य नये आविष्कार एवं इतिहास की निरन्तर प्राचीन खोज इस संभावना को उस काल की अपेक्षा आज अधिक स्वीकार करा सकते हैं। मिस्र देश में राजा के मरने पर उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति उसके साथ भूमि में गाड़कर जो पिरामिड बनाया जाता था उसकी परीक्षा करने पर भी आज का विज्ञान यह नहीं जान पाया कि पत्थर का इतना बड़ा पिण्ड बनाया कैसे जाता था। हड़प्पा में जो खुदाई हुई है उससे लोग समझने हैं कि प्रागैतिहासिक युग के निवासी शिल्प एवं कला में अपने विजेताओं से कहीं गुना अधिक आगे थे। पोम्पाई नगर की खुदाई से सब आश्चर्यचकित हो गये कि इतने वर्षों से पृथ्वी के भीतर छिपा हुआ वह नगर ज्यों का त्यों ठीक-ठाक निकल आया। जुलाई १९१४ की 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के अनुसार पंजाब में एक तिलस्म पाया गया था जिसकी रक्षक एक मूर्ति थी जो आदमी उस मूर्ति के पास जाता है उसे वह पकड़ कर टुकड़े टुकड़े कर डालती है। धीरे-धीरे लोगों ने समझा कि पुष्पक विमान की कल्पना निराधार नहीं थी संजय इतनी दूर बैठकर भी युद्ध देख सकते थे आकाशगामी भूमि बन सकती है कोई भी व्यक्ति आकाश-मार्ग से दौड़ सकता है आग लग सकती है पानी आ सकती है। विज्ञान ने यह विश्वास दिला दिया है कि अपने आप दरवाजा खुल सकता है आप समझ कर चले जायें तो अपने आप बन्द भी हो सकता है। इसमें तो अविश्वास की वस्तु पहिले भी नहीं रही। अतः यह सम्भव है कि किसी भी दिन हमको यह विश्वास हो जाय कि मारीच हिरन बनकर राम के सामने से दौड़ सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि तिलस्म में वर्णित वस्तुओं पर जितना विश्वास खत्री जी के सामने किया जाता रहा होगा उससे अधिक की संभावना आज दिन-प्रतिदिन होती चली जा रही है। अन्तर केवल एक है कि ज्योतिष का महत्त्व तिलस्म में स्वीकार करना आज पहिले की अपेक्षा कठिन है विज्ञान प्रकृति को जड़ मानकर उसके समस्त सिद्धान्तों को जड़ मान लेता है वह नहीं मानता कि जड़ के भीतर भी चेतन सिद्धान्त व्याप्त है उसकी दृष्टि में क्रिया का फल है भावना का नहीं। अतः विज्ञान ने जहाँ तिलस्म को अधिक सम्भव बना दिया है वहाँ उसके सूक्ष्म सिद्धान्तों में अविश्वास भी पैदा कर दिया है।

ऐयार

तिलस्मी उपन्यास का प्राण ऐयार है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में नायक वीरेन्द्र सिंह को तो सिर्फ अपनी ताकत का भरोसा है परन्तु ऐयार तेजसिंह को 'अपनी ताकत

और ऐयारी दोनों का'[1]। प्रारम्भ में पाठक का ध्यान नायक की अपेक्षा ऐयारों पर अधिक जाता है क्योंकि नायक की समस्त शक्ति उसके ऐयार ही हैं। शिवजी के गणों के समान सारा काम ऐयार ही करते हैं नायक तो मानो केवल फल भोक्ता-मात्र रह जाता है। खत्री जी के अनुसार 'ऐयार उसको कहते हैं जो हर एक फन जानता हो शक्ल बदलना और दौड़ना उसका मुख्य काम है'[2]। वस्तुतः ऐयार शब्द का अर्थ 'शीघ्रगामी' अथवा 'चपल' है जो व्यक्ति भौतिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से चपल अथवा चालाक हो उसे अरबी भाषा में 'ऐयार' कहते हैं। ऐसे लोगों का राजनीतिक महत्व हो गया जिस राजा के पास जैसे ऐयार होंगे वैसी और उतनी ही उसकी शक्ति होगी। जिसके पास ऐयार नहीं है उसकी सारी शक्ति व्यर्थ है क्योंकि ऐयारों का बचाव बिना ऐयार के कोई नहीं कर सकता वे लोग बड़े चालाक और फसादी होते हैं हजार-पांच सौ की जान ले लेना उन लोगों के आगे कोई बात नहीं है[3]। इसलिए राजदरबारों में ऐयार (चालाक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफनमौला यानी सूरत बदलना बहुत सी दवाओं का जानना गाना बजाना दौड़ना अस्त्र चलाना जासूसों का काम देखना वगैरह बहुत सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून गिराए वो पलटनों की जान बचाएं लड़ाई खतम कर देते थे। इन लोगों की बड़ी कदर की जाती थी'[4]। ऐयार और जासूस एक ही बात नहीं है ऐयार लोग जासूसी कर सकते हैं परन्तु जासूसों के लिए ऐयारी जानना आवश्यक नहीं है। उक्त उद्धरण में खत्री जी ने ऐयारों का एक काम 'जासूसों का काम देखना' भी बतलाया है 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में राजा वीरेन्द्रसिंह के राज्य का वर्णन करते हुए लेखक ने ऐयार और जासूसों को अलग-अलग स्थान दिया है 'ऐयार और जासूस लोग छिपे छिपे रियाया के दुख-सुख का हाल मालूम करने और राजा को हर तरह की खबर पहुंचाते थे।'[5]

ऐयारी एक विद्या (हुनर) है जिसका मूल सूत्र है धोखा देना। ऐयार तेजसिंह और वद्रीसिंह के लड़के 'भरोसिंह और तारासिंह ऐयारी के फन में बड़े ही तेज और चालाक निकले इनकी ऐयारी का इम्तिहान बराबर लिया जाता था। जीतसिंह (तेजसिंह के पिता) का हुक्म था कि भैरोसिंह और तारासिंह कुल ऐयारों का बल्कि अपने बाप (जो स्वयं बहुत बड़ा ऐयार था) तक को धोखा देने की कोशिश करें और इसी तरह पन्ना लाल वगैरह ऐयार भी उन दोनों लड़कों को भुलावा दिया करें'[6]। तेजसिंह ने तो स्वयं

१ पहिला हिस्सा, पहिला बयान।
२ वही पृष्ठ...।
३ वही, तेरहवां बयान।
४ देवकीनन्दन खत्री (हिन्दी उपन्यास में पृ. ९९ पर उद्धृत)।
५ पाचवां हिस्सा, सातवां बयान।
६ सन्तति पहिला हिस्सा, पहिला बयान।

अपनी पत्नी तक से धोखा किया था[१] और दरबार से छुट्टी लेकर तिलस्माती योगी बन गये थे। जब धोखा देते हैं तो खाते भी हैं। 'ऐसा कोई ऐयार दुनिया में न होगा जिसने कभी धोखा न खाया हो। हम लोग कभी धोखा देते हैं कभी स्वयं धोखे में आ जाते हैं'[२]। परन्तु यह धोखा विश्वासघात नहीं है। खत्री जी के ऐयार जितने सच्चे एवं स्वामिभक्त हैं उतने भारतीय ऐयार ही हो सकते हैं अन्य लोग नहीं। एक बार 'गंगाजल और तुलसी का पत्ता हाथ में लेकर कसम खा के'[३] जिस स्वामी की सेवा स्वीकार कर ली ऐयार उस स्वामी का 'और उसके खानदान का नौकर हुआ। ईमानदारी और मेहनत से अपना काम'[४] अपनी जान पर खेल कर भी वह करता जायगा। जो लोग इस सचाई का पालन नहीं करते वे 'पूरे डाकू हैं उनका ऐयारी से क्या वास्ता'[५]। 'ऐयार चाहे कैसा भी बेईमान क्यों न हो मगर मालिक के साथ ऐसा फरेब कभी नहीं करेगा'[६]। इतना ही नहीं 'अपने मालिक की भलाई के लिए उद्योग करना'[७] ऐयार का धर्म है, इस धर्म के लिए वह बड़े-से-बड़ा पाप कर सकता है। वस्तुतः ऐयार के लिए मालिक के अतिरिक्त संसार में कुछ नहीं है उसका भला ऐयार का एक मात्र लक्ष्य है। यदि ऐयार यह अनुभव करे कि उसका मालिक अधर्म की ओर जा रहा है तो वह उसकी सेवा से विरत हो सकता है और किसी भी अन्य स्वामी की सेवा में जा सकता है—भले ही नया स्वामी पुराने स्वामी का शत्रु हो। 'चन्द्रकान्ता' में शिवदत्तसिंह के ऐयार उसको छोड़ कर वीरेन्द्रसिंह की सेवा में आ जाते हैं और उतनी ही ईमानदारी तथा तत्परता से नये स्वामी की सेवा करते हैं।

ऐयारी का धर्म तो अलग है ही, इसके नियम भी कुछ भिन्न हैं। इनमें से मुख्य यह है कि ऐयार लोग जान से मारने योग्य नहीं होते बल्कि कैद करने योग्य होते हैं[८]। अगर किसी ऐयार को कोई ऐयार पकड़ता है तो सिवाय कैद करने के जान से नहीं मारता[९]। 'ऐयारी का यह मतलब नहीं कि वह बेकसूरों के खून से अपनी जीवन की पवित्र चादर में धब्बा लगाए'[१०]। 'हिन्दोस्तान भर में कोई प्रतिष्ठित हिन्दू ऐयार को कभी जान से न मारेगा। हाँ वह ऐयार को अपने काबू से बाहर काम करेगा जरूर

---

१ चन्द्रकान्ता चौथा हिस्सा तेरहवाँ बयान।
२ 'सन्तति' पहला हिस्सा चौथा बयान।
३ चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, चौथा बयान।
४ वही
५ वही चौदहवाँ बयान
६ भूतनाथ पहिला हिस्सा दूसरा बयान।
७ वही तीसरा हिस्सा पाँचवाँ बयान।
८ वही बारहवाँ बयान।
९ चन्द्रकान्ता, पहिला हिस्सा सोलहवाँ बयान
१० भूतनाथ तीसरा हिस्सा तीसरा बयान।

जान से मारा जायगा'[1]। अस्तु, जो सुरक्षा राजदूत का व्यावसायिक अधिकार है वह ऐयार को भी प्राप्त है। क्योंकि ऐयार तो नौकर है उसका कर्तव्य स्वामी का हित है उसकी नियमानुकूल कार्यवाही उसको दण्ड नहीं दिला सकती।

ऐयार लोग माया के उपासक होते हैं। आपस में मिलते हुए ये लोग 'जय माया की'[2] कहकर अभिवादन करते हैं। इनके पास एक बटुआ होता है जिसमें मोमबत्ती बेहोशी की बुकनी होश में लाने का लखलखा आईना सूरत बदलने के रासायनिक पदार्थ खाने की कुछ मेवा होती है। ऐयारी की बकुआमा पर दूसरा सामान दाढ़ी आदि लिये जाया करता है। जब ऐयार गिरफ्तार होता है तो नियम यह है कि उसका बटुआ छीनकर रख लिया जाय परन्तु उसकी तलाशी न ली जाय। बाहर निकलकर पता नहीं कब कितना खर्च करना पड़े इसलिए ऐयारों का जितना ज्यादे खर्च होता है उतना ही साथ रखते हैं[3]। शकुन में उनका विश्वास होता है छींक आदि का वे ध्यान रखते हैं 'मैं छींक से नहीं डरा मगर छींकने वाले से भी खटकता हूँ'[4]। 'स्नान पूजा'[5] में वे नियमित रहते हैं। ऐयार जब किसी को गिरफ्तार करता है तो 'उसकी मुश्कें बाँध एक चादर में गठरी कस पीठ पर लाद'[6] अपना रास्ता लेता है। ऐयारों की एक गुप्त भाषा होती है जिसको केवल ऐयार ही समझ सकता है।

लोग समझते हैं कि बहुत से चमत्कार जादू से संभव हैं या भूत-प्रेत आदि ऐसी बातें करते हैं जो हमारी समझ में नहीं आती परन्तु 'जो काम आदमी के या ऐयारों के किये नहीं हो सकता' उसे योगी भी नहीं कर सकता। क्योंकि संसार में 'भूत प्रेत कोई चीज नहीं जादू-मन्त्र सब बल-कहानी है जो कुछ है ऐयारी ही है'[7]। इसी के कारण आदमी चोर का रूप धारण कर सकता है (सन्तति पहिला हिस्सा दूसरा बयान) चेहरे पर झिल्ली चढ़ा कर आदमी कुछ का कुछ बन जाता है। अगर तिल आदि चिह्नों का ज्ञान न हो तो ऐयार की बदली हुई सूरत में पहिचानना असंभव है। ऐयार के पास तिलस्मी फूल होते हैं जो अनेक गुणों की खान हैं किसी से बुझ नहीं सकते किसी से अन्धेरे में भी दिखलाई पड़ता है (चन्द्रकान्ता दूसरा हिस्सा पच्चीसवां बयान)।

ऐयारी बड़ा कठिन काम है। इस फन में सब से भारी हिस्सा जीवट का है। जो ऐयार जितना डरपोक होगा उतना ही जल्द वह फंसेगा[8]। किसी भी आश्चर्य

१ चन्द्रकान्ता चौथा हिस्सा चौदहवां बयान।
२ चन्द्रकान्ता दूसरा हिस्सा पांचवां बयान।
३ सन्तति पहिला हिस्सा दसवां बयान
४ वही, पन्द्रहवां बयान
५ चन्द्रकान्ता दूसरा हिस्सा छब्बीसवां बयान।
६ चन्द्रकान्ता पहिला हिस्सा, सातवां बयान।
७ वही चौथा हिस्सा बीसवां बयान।
८ वही, दूसरा हिस्सा तेरहवां बयान।
९ सन्तति चौथा हिस्सा

अचानक घटना के होने पर 'बुजदिलों का भूत प्रेत और पिशाच का ध्यान'[1] आता है, परन्तु ऐयार उसके रहस्य को जानने का प्रयत्न किया करता है। जीवट के कारण ही ऐयार हजार आदमियों में अकेले घुसकर काम करते हैं'[2] और 'एक-एक ऐयार दस दस राज्य गारत कर देने की सामर्थ्य रखते हैं'[3]। फलतः ऐयारों के लिए कोई रोक-टोक नहीं होती 'चाहे वे समय-कुसमय जब महल में घुस जायं और जहाँ चाहें वहाँ पहुँचें महल में उनकी खातिर और उनका लिहाज उतना ही किया जाता था जितना पन्द्रह वर्ष के लड़के का किया जाता'[4]। राजा के बाद एक ओर दीवान साहब और फिर बड़े-बड़े बहादुरों का स्थान मिलता था परन्तु 'बाद उसके दोनों तरफ नीम कुर्सियों पर ऐयार लोग विराजमान'[5] होते थे 'अमीर ओहदेदार लोग' इसके बाद बैठते थे।

जिस प्रकार ऐयारी का काम आरम्भ किया जाता है उसी प्रकार छोड़ा भी जा सकता है। वृद्ध जीतसिंह को ऐयारी को छोड़े मुद्दत हो चुकी थी। वस्तुतः ऐयारी एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें दाक्षियोचित गुणों का भरपूर पालन होता है। जिस राजा के पास अच्छे ऐयार हों उसे युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं वह बिना लड़े ही अनेक राज्यों को अपने वश में कर सकता है। अणुबम्ब के युग में ऐयारी उतनी अविश्वसनीय भी नहीं रही।

चन्द्रकान्ता उपन्यास

'परीक्षा गुरु' और 'गोदान' के समान 'चन्द्रकान्ता' हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की अमर रचना है। जितनी लोकप्रियता इस उपन्यास को मिली है उतनी हिन्दी के अन्य किसी उपन्यास को नहीं। एक ओर इसने हिन्दी में तिलस्मी उपन्यासों की परम्परा चलाई दूसरी ओर अपनी कहानी से आकृष्ट करके अनेक पाठकों को हिन्दी सीखने को प्रोत्साहित किया। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास के लेखक देवकीनन्दन खत्री की प्रतिभा अद्भुत थी। चुनार के जंगलों का ठेका लेकर जब वे उनकी सफाई कराने लगे तो उनको खोहों के भीतर कई विचित्र सुरंगें दरवाजे तहखाने मिले। इन भग्नावशेषों से उन्होंने तिलस्मों की बड़ी मनोहर एवं सुश्लिष्ट कल्पना की। उनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी, जो उनकी रचनाओं के पूर्वापर प्रसंग से ही प्रत्येक पाठक के समक्ष प्रमाणित हो जाती है। स्व. प्रेमचन्द जी का अनुमान है कि तिलस्मी उपन्यास की मौलिक प्रेरणा खत्री जी को 'तिलस्म होशरुबा' से मिली होगी। यह अकबर के दरबारी कवि फैजी की लिखी हुई पुस्तक फारसी में है, उर्दू में भी इसका अनुवाद हुआ था। खत्री जी फारसी और उर्दू जानते थे। सम्भवतः उन्होंने 'तिलस्म होशरुबा' को पढ़कर अपनी कल्पना के

---

१ वही, दूसरा हिस्सा, ग्यारहवाँ बयान

२ चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, तीसरा बयान।

३ वही, चौथा हिस्सा, दसवाँ बयान।

४ वही, दूसरा हिस्सा, सातवाँ बयान।

५ चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, तीसरा बयान।

आधार पर हिन्दी में इस प्रकार के उपन्यास लिख डाले हों। 'तिलस्म होशरुबा' की कुछ बातें—जैसे डिबिया में बेहोशी की बुकनी रख कर किसी को देना और उसको खोलते ही बुकनी के उड़ने से उसका बेहोश हो जाना, जीभ पर दवा मल देने से उसका ऐंठ जाना, चम्पा का नाम, औरतों का परी (भुजंग) के परों को वन में घूमते हुए देख कर प्रेम करना, नजूमी-रम्माल से पता लगाना—ऐसी हैं जिनका 'चन्द्रकान्ता' तथा उसकी 'संतति' में बराबर उपयोग किया गया है। ऐयारों का सामान, झाँगा रखकर रूप बदलना भी इसी से लिया गया है।[१] फिर भी यह समझना भूल है कि 'तिलस्म होशरुबा' को पढ़कर ही लेखक ने 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति' और 'भूतनाथ' जैसे बड़े उपन्यास लिख डाले। 'तिलस्म होशरुबा' को न जाने कितने लोगों ने पढ़ा होगा परन्तु किसी दूसरे पाठक को इस ओर सफलता न मिली। वस्तुतः खत्री जी ने 'तिलस्म होशरुबा' की कुछ ऐयारियाँ ही ली हैं, वे भी अनेक संशोधन के साथ। फारसी की उक्त पुस्तक में जादू के चमत्कार हैं परन्तु खत्री जी की रचनाओं में जादू का लेश भी नहीं है। उसमें पात्र मानवेतर भूत प्रेत जिन्न आदि भी हैं, खत्री जी के सभी पात्र मानव हैं मानव-शक्तियों से परिपूर्ण—भूत-प्रेत आदि का उन्होंने खंडन किया है। पैंजी का युग अति मानवीय शक्तियों में विश्वास करता हुआ उनकी पूजा करता था। इसलिए उस समय के मुसलमान लेखक ने अपने अति-मानवों की शक्ति हिन्दुओं के देवी-देवताओं से अधिक चित्रित करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कहानियाँ लिखीं, फ़ैजी की रचना भी उसी दिशा में एक प्रयत्न है। 'उसने अपनी कहानी में सभी जादूगरों को हिन्दू काफिर माना है और उन्हें होम करते, तिलक लगाते, त्रिशूल लिए आदि रूपों में चित्रित किया है तथा उन सबके मन्त्रों तथा जादुओं को मुसलमानों के 'इस्म आज़म' की फूँक से उड़वा दिया है।'[२] खत्री जी की सारी कल्पनाएँ विज्ञान एवं योग की संभावनाओं पर आश्रित हैं। तिलस्म तोड़ने और ऐयारी की माया में लगा जा न जिन पात्रों को सफल दिखाया है वे धार्मिक, सच्चरित्र एवं मनस्वी हैं और जो असफल रहते हैं वे दुष्ट, दुश्चरित्र एवं धोखेबाज हैं—वे हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी। अस्तु, खत्री जी के हाथों तिलस्मी विद्या तथा ऐयारी की माया वैज्ञानिक तथा आधारनिष्ठ बन गई है। यह उनकी सबसे बड़ी मौलिकता है, जिसका अनुसरण भी उनकी सफलता से नहीं हो पाया।

चुनार राज्य में दो पुराने तिलस्म थे जिनको किसी प्रतापी राजा ने बनवाया था। इनमें से जो बड़ा था वह चुनार का तिलस्म कहलाता है। छोटे तिलस्म की इत्तला यह थी कि यह उस व्यक्ति के हाथ से टूटेगा जिसका विवाह बड़े तिलस्म तोड़ने वाले के साथ होगा—वस्तुतः छोटा तिलस्म दहेज की सम्पत्ति पर बंधा था। कालान्तर में बड़े तिलस्म का ताड़न वाला वीरेन्द्र का सहाय और चुनार में सम्पन्न एक पुत्र का नौगढ़ की रानी ने जन्म दिया। नौगढ़ से पाँच कोस दूर विजयगढ़ की राजकुमारी बनकर नायिका

१ हिन्दी उपन्यास सर्वेक्षण, पृ० २
२ वहीं, पृ० २

ने जन्म लिया। ये ही वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता प्रस्तुत उपन्यास के नायक-नायिका हैं। यदि ये लोग सामान्य राजकुमार राजकुमारी होते तो इनका विवाह बड़ी आसानी से हो जाता। परन्तु इनके हाथ से बड़े-बड़े काम होने थे। अतः आपस में बहुत अधिक प्रेम होने पर भी इनके विवाह में कतिपय बाधाएं उपस्थित थीं जिन पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न में जो कर्म-सौन्दर्य निखरा उसका वर्णन प्रस्तुत उपन्यास में है। विवाह में पहिली परन्तु अस्थायी बाधा स्वयं राजकुमारी के पिता थे। वे नौगढ़ के राजा को इतना बड़ा न समझते थे कि उनके घर अपनी पुत्री दे—हिन्दुओं का विशेषतः क्षत्रियों का यह सामान्य दृष्टिकोण है। दूसरी बाधा विजयगढ़ के मन्त्री का पुत्र क्रूरसिंह था जो राजकुमारी पर मुग्ध था और किसी छल-बल से उसे हस्तगत करना चाहता था। राज्य में क्रूर के सहायक दो दुष्ट मुसलमान थे जिनको यह विश्वास था कि उनकी सहायता से राजकुमारी को अपने अधिकार में करके क्रूरसिंह मुसलमान हो जायगा और अन्ततोगत्वा विजयगढ़ मुसलमानी राज्य बन जायगा। मन्त्री बनने के लिए क्रूर ने अपने बाप को मरवा दिया, और राजा से भी कुछ छल किया। फलतः राजा ने क्रूर तथा उसके साथियों को राज्य से बाहर निकाल दिया। इस घटना से एक ओर तो क्रूरसिंह ने चुनार जाकर राजा शिवदत्तसिंह को विजयगढ़ का शत्रु बना दिया दूसरी ओर परिस्थिति के कारण नौगढ़ और विजयगढ़ राज्यों में मित्रता हो गई। आगे चलकर शिवदत्तसिंह ने शत्रु-कन्या चन्द्रकान्ता को अपनी पत्नी बनाने के प्रयत्न से नौगढ़ राज्य को भी अपना शत्रु बना लिया। यहीं शिवदत्तसिंह और वीरेन्द्रसिंह की शत्रुता हो गई जो वंश-परम्परा से आगे तक चली। शिवदत्त के साथ बैर होने से ही चुनार का तिलस्म टूट सकता था। अस्तु अनेक कठिनाइयों को सहते हुए नायक ने अपने विश्वस्त ऐयारों की सहायता और अपने भुजबल से चुनार के तिलस्म को तोड़ा। उधर नायिका ने भी छोटे तिलस्म को खोल लिया। अन्त में नायक-नायिका का विवाह हो गया।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का यह कथानक बहुत ही सुगम्फ हुआ है। इसमें एक ही मुख्य कथा है जिसका विकास उत्तरोत्तर होता चला जाता है। आदि काव्य में नायक राम और नायिका सीता के प्रेम का चित्रण करने के लिए कवि ने विवाह के उपरान्त उन पर आपत्तियां बुलाकर उनके प्रेम का महत्त्व सिद्ध किया है। संस्कृत के क्लासिकल साहित्य में दुष्यन्त और शकुन्तला गान्धर्व विवाह कर लेते हैं परन्तु उनका गृहस्थ जीवन आपत्तियों को पार करने से पूर्व प्रारम्भ नहीं होता। मध्ययुग का साहित्य विवाह से पूर्व आपत्तियों से मुठभेड़ कराकर प्रेम की परीक्षा लिया करता था। यही पिछली प्रवृत्ति प्रस्तुत उपन्यास में भी देखी जा सकती है। "कुमार वीरेन्द्रसिंह और राजकुमारी चन्द्रकान्ता की मुहब्बत जाहिर न थी वे दोनों एकरूप हो रहे थे"[1] फिर भी जब तक उन पर आपत्तियां आकर उनको तपःपूत न बना दें तब तक उनके हृदय का मूल्य ही क्या होगा इस भावना से लेखक ने उनके मार्ग में आपत्तियों के पर्वत खड़े कर दिये हैं, 'जितनी मेहनत पर जो चीज मिलती है उस के साथ उतनी ही

१ चौथा हिस्सा, अठारहवाँ बयान।

बड़ी खुशी में जिन्दगी बीतती है[1]। दूसरी विशेषता यह है कि मध्ययुगीन वीर-गाथा साहित्य में नायक अपनी प्रेयसी का सन्देश प्राप्त करके उसका पितृगृह से हरण कर लेता था और उसकी शत्रुता पत्नी के कुल-वालों से भी प्रायः रहती थी परन्तु प्रस्तुत कथानक प्रारम्भ में पिता को अस्थायी बाधा दिखाकर आगे सर्वत्र खलनायक को एकमात्र शत्रु सिद्ध कर देता है—चन्द्रकान्ता के पिता तो रुक्मिणी के पिता के समान नायक के हितैषी तथा सहायक हैं। तीसरी विशेषता यह है कि मध्ययुगीन कथानक में केवल नायक को प्रयत्नशील दिखाया जाता था परन्तु इस कथा में नायक और नायिका दोनों ही प्रयत्नशील हैं अतः प्रेम-वर्णन की अपेक्षा प्रयत्न चित्रण को बहुत अधिक विस्तार मिला है। वर्णन की प्रचुरता के ही कारण इस उपन्यास में प्रासंगिक कथाओं को स्थान न मिल सका। वीरेन्द्रसिंह और शिवदत्तसिंह की वीरता तथा उनके ऐयारों की चालाकियाँ ही पाठक को आगे बढ़ाये चली जाती हैं। उसे न समाज का ध्यान रहता है न प्रकृति का न वह भाषा पर रीझना चाहता है और न नख-शिख-वर्णन पर। कथानक जिस प्रकार एक बिन्दु से विकसित हुआ था उसी प्रकार एक बिन्दु में ही उसका पर्यवसान हो जाता है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में नायिका चन्द्रकान्ता की उसके सच्चे प्रेमी कुमार वीरेन्द्रसिंह के साथ विवाह की कहानी है परन्तु इस कहानी का आवरण नायक-नायिका की प्रेम चर्चा नहीं प्रत्युत उनकी वीरता एवं विजय है।

इस उपन्यास में मुख्य पात्र तीन हैं—नायक वीरेन्द्रसिंह नायिका चन्द्रकान्ता और खलनायक शिवदत्तसिंह। वीरेन्द्रसिंह मध्ययुगीन क्षत्रिय वीर हैं उनके व्यक्तित्व में वीरता एवं मनस्विता का ही विशेष महत्त्व है। वह मानता है कि 'हमको तो सिर्फ अपनी ताकत का भरोसा है'[2]। जब शिवदत्तसिंह ने चन्द्रकान्ता को प्राप्त करने के लिए दूत भेजा तो क्रोध के कारण वीरेन्द्रसिंह की आँखों के सामने अँधेरा सा छा गया वे हाथ जोड़ कर पिता जी से बोले 'मुझको लड़ाई का बड़ा हौसला है और यही हम लोगों का धर्म भी है फिर ऐसा मौका मिले न मिले इसलिए अर्ज करता हूँ कि मुझ को हुक्म हो तो अपनी फौज ले कर जाऊँ और विजयगढ़ पर चढ़ाई करने के पहिले ही शिवदत्त को कैद कर लाऊँ'[3]। चुनार के किले में कैद नायक ने 'जोर से झटका देकर हथकड़ी तोड़ डाली उसी जोश में एक लात लोहे वाले किवाड़ में भी मार पल्ला गिरा शिवदत्त के पास पहुँचा'[4]। लेखक ने नायक को उस युग के सबसे वीर क्षत्रिय के रूप में चित्रित किया है। नायक का ठीक विपरीत शिवदत्तसिंह है वह बल और वीरता में तो किसी से कम नहीं उसके ऐयार भी अपने गुणों में अद्वितीय हैं। परन्तु शिवदत्त चरित्रहीन राजा है। वह रावण की प्रतिमा है। जो अपने अवगुणों के कारण अपनी विलासी लंका (चुनारगढ़) को मिट्टी में मिला देता है। उसके ऐयार भी सन्तुष्ट नहीं। फलतः वे दुष्ट-

---

१ चौथा हिस्सा, पाँचवाँ बयान।
२ पहिला हिस्सा, पहिला बयान।
३ वही, चौदहवाँ बयान।
४ दूसरा हिस्सा, दसवाँ बयान।